श्रीमद्भगवद्गीता में मनुष्य का स्वरूप एवम् उसकी नियति

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्री

श्रुति सिंह

दर्शन विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

निर्देशक

डॉ० देवकी नन्दन द्विवेदी

पूर्व विभागाध्यक्ष

दर्शन विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

2001

दर्शन विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

विषयानुक्रमांक सारणी

प्राक्कथन		
भूमिका		
प्रथम अध्याय	गीता का सामान्य परिचय	1-24
द्वितीय अध्याय	गीता की तत्वमीमांसा	25-48
तृतीय अध्याय	गीता में जीवात्मा का स्वरूप	49-81
चतुर्थ अध्याय	मानव नियति के रुप में भक्तिमार्ग	82-145
पंचम अध्याय	मानव नियति के रुप में ज्ञानमार्ग	146-179
षष्ठम् अध्याय	मानव नियति के रुप मे कर्ममार्ग	180-241
सप्तम् अध्याय	मानव नियति (मोक्ष)	242-279
	उपसंहार	280-311
	सहायक ग्रन्थावली	312-317

प्राक्कथन

सत्य श्री साई बाबा की असीम अनुकम्पा से मैं अपना शोध प्रबन्ध "श्रीमद् भगवद्गीता में मनुष्य का स्वरूप और उसकी नियति" आपके समक्ष प्रस्तुत कर रही हूँ। भगवतगीता के उपदेश का सार एक वाक्य में समाहित है- "कर्मण्येवाधिकारस्ते या फलेषु कदाचन" एक सघटित समाज में प्रत्येक सदस्य का एक विशेष कर्त्तव्य होता है जिसका वह पालन करता है और प्रत्येक परिस्थिति में ऐसे कर्म हैं जो आंतरिक रूप से उपयुक्त हैं। अतः मनुष्य के लिये कर्म प्रधान है। एक सामान्य व्यक्ति के सम्मुख जब कोई व्यक्ति श्रीमद् भगवद्गीता की बात प्रारम्भ करता है तो वह अध्यात्मवाद के विषय में ही सोचना प्रारम्भ कर देता है। जब हम गीता का अध्ययन करते हैं तब पाते हैं कि इसमें मनुष्य के आचरण के लिये जो मार्ग प्रतिपादित किया गया है वह कितना सरल है।

श्रीमद् भगवद्गीता में जो कुछ कहा गया है उसका केन्द्र बिन्दु मनुष्य ही है। मनुष्य का आचरण शुद्ध होना चाहिए। यहाँ मध्य मार्ग अपनाने पर जोर दिया गया है। मनुष्य को मनुष्य समझने का सार है श्रीमद् भगवद्गीता। गीता में स्त्री, वैश्य, शूद्र, नीच वंश में उत्पन्न सभी मोक्ष के अधिकारी समझे गये। श्रीकृष्ण ने इस क्षेत्र में स्त्री-पुरूष, आर्य अनार्य सभी प्रकार का भेद मिटा दिया है।

शोध प्रबंन्ध प्रस्तुत करना मेरे लिये तो एक स्वप्न साकार होना है। कार्य प्रारम्भ करने के बाद बहुत सी कठिनाइयाँ आई, कभी लगा मैं इसे कैसे पूर्ण कर पाऊंगी? परन्तु श्री साईबाबा की कृपा से मैं यह कार्य पूर्ण कर पायी। शोध प्रबन्ध लिखने में मेरे गुरू प्रो० डा० देवकी नंदन द्विवेदी जी का मार्गदर्शन मेरे लिए अत्यंत सराहनीय रहा। मुझे जब भी कोई कठिनाई आई बड़े सरल ढंग से उसे सुलझाया तथा मुझे मार्गदर्शन दिया।

मैं अपना शोध प्रबन्ध अपने दादाजी रायबहादुर स्व० श्री अर्जुन सिंह एवं नाना जी स्व० श्री राजेश्वर सिंह को समर्पित करती हूँ।

शोध प्रबन्ध तैयार करने मे श्री रजय सिह, प्रवक्ता, दर्शनशास्त्र, डी०ए०वी० कालेज, कानपुर, डा० एस०के० सेठ, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, डा० अनिल सिह भदौरिया, प्रवक्ता, राजर्षि टडन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद का विशेष सहयोग एवं परामर्श मिलता रहा जिसके लिये मै आभारी हूँ।

शोध कार्य मे दर्शन विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय के डा० मृदुला रवि प्रकाश, विभागाध्यक्षा, प्रो० डी०एन० द्विवेदी, पूर्व विभागाध्यक्ष, प्रो० राम लाल सिह, प्रो० आर०एस० भटनागर, डा० नरेन्द्र सिह, डा० गौरी चट्टोपाध्याय, डा० जयशकर, डा० हरिशंकर उपाध्याय, डा० शिखा चौहान, एवं डा० अनिल सिंह भदौरिया का विशेष योगदान रहा।

परमपूज्यनीय श्रद्धेय प्रो० राजेन्द्र सिंह (रज्जू भइया) के आशीर्वचनों ने मुझे सदा ही प्रोत्साहित किया। शोधप्रबन्ध लिखने में मेरे परिवार के सदस्यो में मेरे मौसाजी, मौसीजी- डा० राम लखन सिंह एव श्रीमती उमा सिंह, मामाजी, मामीजी- डा० के०जी० सिह एवं डा० रीता सिह, जीजाजी दीदीजी- डा० डी०के० चौहान एव श्रीमती दिव्या चौहान एव मेरे ससुर-सास डा० के०के० सिह एव श्रीमती आशा सिह का आशीर्वचन एव स्नेह मिला जिसके लिये मैं आभारी हूँ। मेरे अग्रज श्री विनोद कुमार सिह के विचारों से सदैव ही कार्य सम्पन्न करने की प्रेरणा मिलती रही। अपने अमूल्य सुझावों से सदैव मेरा मार्ग दर्शन किया और मेरे कार्य को एक दिशा प्रदान की तथा आगे बढ़ने के लिये सदैव प्रेरित किया। मैं सदा ही इसके लिये आभारी रहूँगी। मेरे प्रिय अनुज सैमित्र एवं सुनेहा ने अपने स्नेहपूर्ण व्यवहार से मुझे अपने कार्य को सम्पन्न करने मे सहायता प्रदान की।

शोध कार्य प्रारम्भ करने, शोध प्रबन्ध लिखने मैं अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान मेरे माता-पिता परमादरणीय डा० नरेन्द्र कुमार सिंह गौर एवं माता श्रीमती अरविन्द सिंह का है। मै अपने माता-पिता के स्नेहमयी आर्शीवाद के बिना यह दुरूह कार्य सोच भी नहीं सकती थी मैं अपना आभार प्रकट करती हूँ। मेरी नानी श्रीमती गायत्री देवी द्वारा मुझे सदैव उत्साहित किया गया एव आशीर्वाद दिया गया।

इसी के साथ मेरी छोटी बहन वैज्ञानिक कु० रति सिंह एवं भाई गौरव सिंह का अतिविशिष्ट योगदान रहा इन दोनों ने प्रायः रात देर तक मेरे कार्य करते समय मेरे कार्य को

पूर्ण कराने मे सहायता की। इन दोनो ने अपने कार्य के समय में कटौती करके मुझे सहयोग प्रदान किया।

शोध कार्य के प्रारम्भ से पूर्ण होने तक मेरे पति इंजीनियर रजत प्रताप सिह ने सदैव मुझे सहयोग दिया। शोध कार्य मे व्यस्त रहकर संभव है मैं अपने पति की सुख सुविधा का ध्यान न रख पाई हूँ परन्तु शायद इतना ही दण्ड पर्याप्त नहीं था, इसलिये प्रायः प्रतिदिन लिखे अंश को सुनने का काम भी इनको करना पड़ा। मैं रजत द्वारा दिये गये अनवरत प्यार, सहयोग एवम् उनके धैर्यवान् आचरण की सदैव आभारी रहूँगी। इस कार्य को प्रारम्भ करने में रजत मेरे प्रेरणा स्रोत रहे।

मेरे शोध कार्य के लिये सहायक पुस्तकें उपलब्ध कराने मे मुझे बहुत लोगों ने सहयोग दिया। मैं उन सभी लोगों की बहुत-बहुत आभारी हूँ जिन्होने मेरे शोधकार्य मे सहायता की। इसके अतिरिक्त रामकृष्ण मिशन, बापू आसाराम योग वेदान्त सेवा सस्थान, पुस्तकालय, स्वामी अगड़ानन्द सरस्वती आदि का मैं धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ जहाँ से मुझे हर प्रकार का सहयोग मिला।

इस शोध प्रबन्ध को अल्प समय मे टंकित करने का कार्य 'जय माँ दुर्गे कम्प्यूटर प्वॉइन्ट, मनमोहन पार्क, कटरा, इलाहाबाद' द्वारा किया गया है जिसके लिये मैं सभी सदस्यों का आभार प्रकट करती हूँ।

श्रुति सिंह

दिनांकः 27.8.01

(श्रुति सिंह)

हस्ताक्षर

भूमिका

श्रीमद् भगवद्गीता भारतीय साहित्य की अमर निधि है। युद्ध से विमुख हुए अर्जुन को गीता के उपदेशों ने पुनः युद्ध के लिए सन्नद्ध तैयार कर दिया। आज प्रत्येक घरों में गीता का पाठ होता है, महलों में गीता, झोपडियों में गीता, हजारो वर्ष पुराने इस ग्रन्थ से देश-विदेश मे मानव को प्रेरणा मिलती रहती है। इस गीता पर शकराचार्य से लेकर आधुनिक युग के तिलक, अरविन्द, गाँधी, विनोबा आदि आचार्यों और दार्शनिक ने चिंतन किया है।

श्रीमद् भगवद्गीता की महिमा असीम है। यह ग्रन्थ प्रस्थानत्रयी से व्युत्पन्न माना गया है। मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए तीन राजमार्ग 'प्रस्थानत्रय' बताये गये है। जिन्हे **'उपनिषद्'** कहते हैं। दार्शनिक प्रस्थान को **'ब्रह्मसूत्र'** और स्मार्त प्रस्थान को **'भगवद्गीता'** कहते हैं। यहाँ उपनिषदों में मंत्र है, ब्रह्मसूत्र में सूत्र और गीता मे श्लोक है। भगवान की वाणी होने से गीता के श्लोक भी मंत्र ही कहलाते हैं। 'उपनिषदो' की आवश्यकता या उपयोगिता अधिकारियो के लिए, ब्रह्मसूत्र की विद्वानों के लिए परन्तु 'भगवद्गीता' सभी वर्ग के लिए है। इस ग्रन्थ से सभी को पूर्ण सामग्री मिलती है चाहे वह किसी देश, वेश, समुदाय, सम्प्रदाय का हो और किसी भी वर्ण का, आश्रम का हो। इसका कारण यह है कि यह किसी समुदाय विशेष की निन्दा या प्रसंशा नहीं करता वरन् वास्तविक तत्व की व्याख्या करता है। वह तत्व परमात्मा है। गीता एक अति प्राचीन, अपितु महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। प्राचीन विद्वान इसका काल ईसा से 200-300 साल पूर्व का बताते हैं। **गर्वे का कहना है** कि मूल गीता ईसा से 200 साल पहले लिखी गयी थी, इसको वर्तमान रुप ईसा के 200 साल बाद किसी वेदान्ती ने दिया था। भारतीय परम्परानुसार गीता इससे बहुत पहले की रचना है। गीता के जो अठ्ठारह अध्याय हैं, वह महाभारत के भीष्म पर्व के 23-24 तक के अध्यायों का संक्षिप्त विवरण है। महाभारत के रचयिता व्यास है, और व्यास के अनुसार गीता के रचयिता श्रीकृष्ण हैं। ऐसी अवस्था में श्रीकृष्ण का काल ही महाभारत तथा गीता का काल है। इस तरह से गीता महाभारत का ही अंग है।

गीता का उपदेश महान और दिव्य है। इस पर कई टीकाए लिखी गयी है और आज भी टीकाएं होती चली आ रही है फिर भी विद्वानों के मन में गीता के नये-नये भाव चले आ रहे हैं। इस ग्रन्थ पर कोई भी चाहें कितना विचार करें फिर भी इसका कोई किनारा नहीं है। इसमें जैसे-जैसे अध्ययन करते चले जाओगे वैसे नयी-नयी बाते मिलती चली जाती है। इस ग्रन्थ मे इतनी प्रमुखता है कि जो मनुष्य अपने कल्याण को ध्यान मे रखकर इस ग्रन्थ का अध्ययन करता है, फिर चाहे वह किसी धर्म, वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय और मत का हो वह गीता के प्रति लगाव रखता है। अगर मनुष्य इस ग्रन्थ का थोडा सा भी पठन-पाठन कर ले तो उसको अपने जीवन के उद्धार के लिए अनेक उपाय मिल जाते हैं। भारतीय दर्शनो मे प्रत्येक दर्शन के अपने-अपने विचार होते है परन्तु गीता में सभी विचारों का सार है। इस प्रकार से संक्षेप मे विस्तारपूर्वक यथार्थ और पूरी बात बताने वाला कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है। मनुष्य अपने कल्याण के लिए हर परिस्थितियों में परमात्म तत्व को प्राप्त करना चाहता है, ऐसे में युद्ध जैसी घोर परिस्थिति में भी अपना कल्याण करना चाहता है। जो बात केवल गीता में बताई गयी है। इसी कारण **गीता सब शास्त्रों में सर्वश्रेष्ठ है।**

श्रीमद् भगवद्गीता जो महाभारत के भीष्मपर्व का एक मुख्य भाग है, संस्कृत साहित्य का एक अत्यन्त लोकप्रिय धार्मिक काव्य है। यह "सबसे अधिक सुन्दर और यथार्थ अर्थों में संभवतः एकमात्र दार्शनिक गीत है जो किसी ज्ञात भाषा में लिखा गया है।"[1] यही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें दर्शन, धर्म और नीतिशास्त्र का समन्वय हुआ है। इसे श्रुति तो नहीं समझा जा सकता और न ही ईश्वरीय प्रेरणास्वरूप धर्मशास्त्र ही माना जाता है, किन्तु स्मृतियों में इसकी गणना होती है और इसे परम्परा भी कह सकते हैं। किसी ग्रन्थ का मनुष्य के मन पर कितना अधिकार है, इसे उस ग्रन्थ के महत्व की कसौटी समझा जाए तो कहना होगा कि भारतीय विचारधारा में सबसे अधिक प्रभावशाली ग्रन्थ है। मोक्ष के विषय में भी इसका सरल सन्देश है। जहां एक ओर केवल धनवान व्यक्ति ही अपने यज्ञों के द्वारा देवताओं को खरीद सकते थे और गीता एक ऐसी विधि बताती है जो सबकी पहुँच के अन्दर है, और वह है 'भक्ति' अर्थात् ईश्वर में श्रद्धा का भाव। इसका रचयिता कवि गुरु को ही साक्षात् ईश्वर का रुप देता है जो मनुष्य जाति के अन्दर उतर आया है। वह मनुष्य के प्रतिनिधि रुप अर्जुन

---

1 विलियम वॉन इम्बोल्ट।

को उसके जीवन के एक बडे सकट के समय मे उपदेश देता है . अर्जुन युद्ध क्षेत्र मे आता है, जिसे अपने कार्य की उचितता मे पूरा विश्वास है और जो शत्रु से युद्ध करने को उद्यत है। एक मनोवैज्ञानिक क्षण में वह अपने कर्तव्य पालन मे झिझक का अनुभव करता है। उसका अन्त करण उद्विग्न हो गया, उसका हृदय दारुण दु:ख के मारे फटने लगा और उसकी मानसिक अवस्था ऐसी हो गयी, 'जैसे किसी छोटे से राज्य में विप्लव हो गया हो।' यदि हिसा करना पाप है तो ऐसे व्यक्तियो की हिंसा करना तो घोरतम पाप है जिनके प्रति हमारा प्रेम और पूज्यभाव है। अर्जुन एक ऐसे व्यक्ति का उदाहरण है जो सघर्ष करता हुआ इस जगत के बोझ और रहस्य का अनुभव करता है। वह अभी तक अपने अन्दर इतना आत्मबल संग्रह नहीं कर सका जिसके आधार पर वह न केवल अपनी इच्छाओ एव वासनाओ का ही निस्सारता को अनुभव कर सके, अपितु अपने प्रतिपक्षी जगत् की असली मर्यादा को भी समझ सके। यहा पर अर्जुन अत्यधिक निराश था, वह यह नहीं समझ पा रहा क्या उचित है। अगर आवश्यक हो तो वह अपना जीवन भी त्याग देता। गीता के पहले अध्याय मे वर्णित निराशा, जिसमे अर्जुन डूबा हुआ है, ऐसी है जिसे योगी लोग आत्मा की अधकारपूर्ण रात्रि कहते हैं और जो उच्च जीवन के मार्ग मे एक अनिवार्य पड़ाव है। दूसरे अध्याय से लेकर अन्त तक हमें दार्शनिक विश्लेषण मिलता है। मनुष्य के अन्दर जो तात्विक अंश है वह शरीर अथवा इन्द्रिय नहीं अपितु अपरिवर्तनशील आत्मा है। अर्जुन के मन को एक नये मार्ग पर चला दिया गया। कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि मनुष्य की आत्मा का उपलक्षण है और कौरव ऐसे शत्रुओं के उपलक्षण है जो आत्मा की उन्नति में बाधक सिद्ध होते हैं। अर्जुन प्रलोभनो का सामना करते हुए तथा वासनाओं को वश मे रखते हुए मनुष्य के राज्य को फिर से प्राप्त करने का प्रयत्न करना है। उन्नति का मार्ग दुःखों या सर्वत्याग से होकर गुजरता है। अर्जुन इस कठोर परीक्षा से सूक्ष्म युक्तियो तथा बनावटी बहानो के द्वारा बच निकलने का प्रयत्न करता है। कृष्ण ईश्वर की वाणी का उपलक्षण है जो अपने शब्दों द्वारा अर्जुन को सावधान कर रही है कि वह अपने को निराश न करें।

शिक्षक भारत का एक सर्वप्रिय देवता है, जो एक साथ ही मनुष्य भी है और दैवीय शक्ति भी है। वह सौन्दर्य तथा प्रेम का देवता है जिसको उसके भक्त सभी प्रिय पदार्थों और प्राणिमात्र मे ढूढ़ते हैं। कवि विशद रूप में कल्पना करता है कि वह किस प्रकार एक अवतार

के रूप मे ईश्वर अपने विषय मे कह सकेगा। वेदान्त सूत्र[1] में उस वैदिक वाक्य की व्याख्या की गयी है जिसमे इन्द्र अपने को ब्रह्म नाम से घोषित करता है, इस कल्पना के आधार पर कि इन्द्र केवल इस दार्शनिक सत्य का ही उक्त वाक्य मे उल्लेख करता है कि मनुष्य के अन्दर .जो जीवात्मा है वह और सर्वोपरि ब्रह्म एक ही है। जब इन्द्र कहता है कि 'मेरी पूजा करो' तो यहा उसका तात्पर्य यह है कि 'उस ईश्वर की पूजा करो जिसकी मैं करता हूँ।' इसी सिद्धान्त के आधार पर वामदेव की उस घोषणा कि वह मनु और सूर्य है जिसकी यहाँ व्याख्या की जाती है। इसके अतिरिक्त गीता का यह उपदेश है कि जो मनुष्य वासनाओं तथा भय से मुक्त हो गया है किंवा ज्ञानरुपी अग्नि के द्वारा पवित्र हो गया है, वह ईश्वर की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। गीता का कृष्ण ससीम के अन्दर व्यापक असीम या अनन्त का उपलक्षण है, वह ईश्वर है जो मनुष्य में शरीर और इन्द्रियों की शक्तियों के अन्दर छिपा हुआ है।

गीता के सन्देश का क्षेत्र सार्वभौम है। यह हिन्दू धर्म का दार्शनिक आधार है। इसका रचयिता गहरी संस्कृति वाला है, समालोचक न होकर सर्वग्राही है। वह किसी धार्मिक आन्दोलन का नेता नहीं है, उसका उपदेश भी किसी सम्प्रदाय विशेष के लिए नहीं है, उसने अपना कोई सम्प्रदाय स्थापित नहीं किया, किन्तु मनुष्य मात्र के लिए उसका निर्दिष्ट मार्ग खुला है। सब प्रकार की उपासना पद्धतियों के साथ उसकी सहानुभूति है, और इसलिए हिन्दू धर्म की भावना की व्याख्या के कार्य के लिए सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि हिन्दू धर्म अपनी सस्कृति को भिन्न-भिन्न विभागों में विभक्त करने की इच्छा नहीं रखता और न ही अन्य विचारों की विधियों के प्रति खण्डनात्मक भाव रखना चाहता है।[2]

गीता केवल अपने विचारों की प्रबलता तथा दूरदर्शिता की भव्यता के कारण नहीं अपितु भक्ति के प्रति उत्साह तथा धार्मिक भावना की मधुरता के कारण भी हमारे ऊपर अपना असर रखती है। यद्यपि गीता ने धार्मिक पूजा को विकसित करने और अमानुषिक प्रक्रियाओं का मूलोच्छेदन करने के लिए बहुत कुछ किया तो भी अपनी खण्डन विरोधी प्रवृत्ति के कारण इसने पूजा की मिथ्याविधियों को सर्वथा नष्ट नहीं किया। गीता तथा

---

1. वेदान्त सूत्र 1 : 1, 30
2. भगवद्गीता, 3 : 29 ।

उपनिषद का भाव प्राय· समान है; यहाँ पर अन्तर केवल यह है कि गीता में धार्मिक पक्ष पर अधिक बल दिया गया है। उपनिषदों के सूक्ष्म अमूर्तभाव मनुष्य की आत्मा की जो नानाविध आवश्यकताए है उसकी पूर्ति नहीं कर सकते थे। जीवन के रहस्यो का समाधान करने के लिए किए गए अन्य प्रयत्न अपनी रचना मे अधिकतर ईश्वर ज्ञानपरक थे। गीता के रचयिता ने यह अनुभव किया कि जनसाधारण मे तर्क के प्रति प्रेम उत्पन्न नहीं किया जा सकता। इसलिए उसने अपना आधार उपनिषदों को बनाया और उनके धार्मिक सकेतों को लेकर तथा पौराणिक कथाओं को लेकर एक इस प्रकार का मिश्रण तैयार किया जिससे एक चेतनापूर्ण पद्धति बनकर तैयार हुई। यही गीता का स्वरूप है।

गीता का काल

श्रीमद् भगवद्गीता की रचना के समय का निर्णय सरलता से नहीं हो सकता। महाभारत नामक महाग्रन्थ का यह एक भाग है गीता, इसलिए कभी-कभी इसके बारे में यह सन्देह किया गया है कि आगे चलकर गीता को महाभारत में मिला दिया गया। **टालब्वाएज ह्वीलर** के अनुसार कृष्ण और अर्जुन युद्ध के पहले ही दिन के प्रात·काल, जबकि दोनो पक्षो की सेनाएं युद्ध के लिए मैदान मे उतर आई हो और लड़ाई छिड़ने को ही हो ऐसी परिस्थिति में एक ऐसे और लम्बे दार्शनिक सवाद मे लग जाये, अस्वाभाविक प्रतीत होता है। **तेलंग** भी इसी निर्णय के साथ सहमत होते हुए तर्क करते हैं कि श्रीमद् भगवद्गीता एक स्वतत्र ग्रन्थ है जिसे महाभारत के ग्रन्थकार ने अपने प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए महाभारत में प्रविष्ट कर लिया है।[1] यद्यपि युद्ध के समय दार्शनिक वाद-विवाद असगत प्रतीत होता है तो भी इस विषय में भी कोई सन्देह नहीं है कि केवल अत्यन्त भीषण संकट काल ही जैसे कि युद्ध क्षेत्र विवेकशील व्यक्तियों के मन में आधारभूत मूल्यों पर ध्यान देने के लिए उत्तेजना पैदा कर सकता है। केवल ऐसे ही समय में धार्मिक वृत्ति वाले मनों के अन्दर इस प्रकार का खिंचाव उत्पन्न होता है जो इन्द्रियों की मर्यादाओं को तोड़कर आंतरिक यथार्थसत्ता का स्पर्श करा सके। यह सम्भव है कि अर्जुन को युद्ध के क्षेत्र में अपने मित्र कृष्ण से विशेष उपदेश या निर्देश ही मिला हो और महाभारत के कवि ने उसे सात सौ श्लोकों का जामा पहना दिया हो। गीता में धर्म के सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन है।

---

1. "सेकेण्ड बॉक्स आफ द ईस्ट" खण्ड-8, इराट्रोडक्शन, पृष्ठ- 5-6 ।

महाभारत मे स्थान-स्थान पर भगवद्गीता का उल्लेख है जिसमें यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि महाभारत के निर्माण काल से ही गीता को उसका एक वास्तविक भाग माना गया है।[1] गीता और महाभारत की शैली में समानताएँ है। जिससे यह पता चलता है कि ये दोनो ग्रन्थ एक सम्पूर्ण इकाई है।[2] अन्यान्य दर्शन पद्धतियों एवं धर्मों के विषय में भी दोनो की सहमति है। दोनो ही कर्म को अकर्म से उत्कृष्ट मानते हैं।[3] वैदिक यज्ञों के प्रति विचार,[4] सृष्टि की व्यवस्था सम्बंधी स्थापनाए,[5] गुण सबंधी सांख्य की कल्पना[6] तथा पातञ्जलि के योग के सम्बन्ध में[7] तथा विश्वरूप[8] के वर्णन के रूप में भी उक्त दोनो न्यूनाधिक रूप मे लगभग समान ही है।हम यह भी नहीं कह सकते कि समन्वयपरक सिद्धान्त गीता की ही अपनी विशेषता है।

श्रीभगवद्गीता को महाभारत का वास्तविक भाग मान लेने पर भी हम भगवद्गीता के काल का ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर सकते, क्योंकि इसमे भिन्न-भिन्न कालों की कृतियो का भी समावेश हो गया है। **तेलंग** भगवद्गीता को अपनी विद्वतापूर्ण प्रस्तावना में इसके सामान्य रुप, इसकी पुरानी शैली और उसकी छन्दोबद्धता के विषय में प्रतिपादित करते हैं और इसके अन्तर्गत उद्धरणों पर भी प्रकाश डालते है कि उक्त ग्रन्थ अवश्य ही ईसापूर्व तीसरी शताब्दी से अधिक प्राचीन होगा। **सर आर०जी० भण्डारकर** का विचार है कि गीता कम से कम चौथी शताब्दी ईसापूर्व की तो है ही। जैसा कि हम पहले भी बता चुके है कि **गार्बे** ने दो सौ वर्ष ईसापूर्व का बतलाया है। **शंकर** ने (नवी शताब्दी ईसा के पश्चात्) इसके ऊपर टीका की है, और **कालीदास** को भी इसका ज्ञान था। उसके 'रघुवंश' में[9] गीता के श्लोक के समान एक श्लोक मिलता है। **बाणभट्ट** ने भी गीता का उल्लेख किया है और दोनों कवि क्रमश. पांचवी और सॉतवी शताब्दी ईसा के पश्चात् हुए। पुराणों में (जिनका समय दूसरी शताब्दी

---

1 आदि पर्व, 2, 69, 179 । 2, 247
2 तिलक गीता रहस्य, परिशिष्ट सेकेण्ड बुक आफ द ईस्ट', खण्ड-8, भूमिका।
3 भगवद्गीता, अध्याय 3, वन पर्व, अध्याय 32 ।
4. शान्तिपर्व, 267, देखिए मनु भी, अध्याय 3।
5. भगवद्गीता, अध्याय-7 और 8; शान्ति पर्व 231
6. भगवद्गीता, 14 और 15; अश्वमेघ पर्व, 36-39, शान्ति पर्व, 285-300-311
7. भगवद्गीता अध्याय 6: शान्ति पर्व, 239 और 300
8. उद्योगपर्व, 170, अश्वमेधपर्व-55, शान्तिपर्व, 339, वनपर्व, 99।
9 10, 31, तुलना कीजिए भगवद्गीता, 3, 22 ।

ईसा के पश्चात् है।) भगवद्गीता की ही शैली पर निर्मित कई गीताएं पायी जाती है। **भास कवि** के 'कर्णभार' मे एक वाक्य आता है जो गीता के एक श्लोक की प्रतिध्वनि है।[1] भास कवि को कहीं दूसरी और चौथी शताब्दी ईसा के पश्चात् का और कहीं दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व का बताया गया है। पहले मत को स्वीकार करे तो गीता उससे प्राचीन है। बोधायन के गृहसूत्रो मे वासुदेव की पूजा की जाती है। इसमे एक वाक्य आता है कि जो भगवान का कहा गया बताया जाता है और जो भगवद्गीता का ही उद्धरण प्रतीत होता है।[2] इस प्रकार बोधायन एक और दो शताब्दी ईसा पूर्व का होना चाहिए। हमारा विश्वास है कि गीता का काल पाचवी शताब्दी ईसा[3] से पूर्व का माने जो अनुचित बात नहीं है।

गीता का अन्य पद्धतियों के साथ सम्बन्ध

श्रीमद् भगवद्गीता ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसने अपना प्रभाव हर युग के हर मत पर डाला। उस युग मे जितने भी मत प्रचलित थे, लगभग सभी ने गीता के रचयिता के मन पर प्रभाव डाला, क्योकि उसने इस विषय मे समस्त संसार में जितना भी धार्मिक प्रकाश बिना किसी निश्चित योजना के डाला गया था उसे एकत्र कर दिया। अब यहॉ पर हम वेदों, उपनिषदो, बौद्धधर्म, भागवतधर्म और सांख्य तथा योग दर्शन का गीता के साथ कैसा सम्बन्ध है, इसका सक्षेप मे वर्णन करेगे।

गीता के अनुसार, वेदों के आदेशों का पालन किये बिना मनुष्य पूर्णता को प्राप्त नहीं होता। यज्ञात्मक कर्म बिना किसी पुरस्कार की आकांक्षा किया जाना चाहिए।[4] एक विशेष अवस्था के बाद वैदिक क्रियाकलापों का करना पूर्णता प्राप्ति के मार्ग मे बाधा भी उपस्थित कर सकता है। वैदिक देवताओ के उच्च स्वरूप को मान्यता नहीं दी गयी। यद्यपि वैदिक कर्मकाण्ड हमे शक्ति तथा धन सम्पत्ति प्राप्त करा सकते हैं, लेकिन हमे सीधा मोक्ष नहीं प्राप्त करा सकते। मोक्ष तो केवल आत्मज्ञान से प्राप्त हो सकता है। जब मोक्ष का रहस्य हमारे अपने अन्दर विद्यमान है तो वैदिक कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करने की आवश्यकता

---

1 ''हतोह्पि लभते स्वर्ग जित्वा तु लभते यश '' तुलना कीजिए गीता 2 37

2 2, 22, 9, तुलना कीजिए गीता, 9, 26 ।

3 यदि धर्मसूत्रों के अन्तर्गत उद्धरणों को प्रक्षिप्त मान लें तो गीता को तीसरी अथवा दूसरी(2) शताब्दी ईसापूर्व का माना जा सकता है।

4. श्रीमद् भगवद्गीता 17 12

नहीं।[1] वेदो की प्रामाणिकता के विषय मे गीता सदैव बताती है। इसकी दृष्टि मे वैदिक आदेश एक विशेष सास्कृतिक मर्यादा के मनुष्यो के लिए सर्वथा उपयुक्त है।

गीता की दार्शनिक पृष्ठभूमि उपनिषदो से ली गयी है। कितने ही श्लोक गीता और उपनिषदो मे समान रूप से पाये जाते है।[2] क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, क्षर और अक्षर विषयक विवेचन उपनिषदो के आधार पर है। यथार्थसत्ता की व्याख्या भी उपनिषदो से ली गयी है। भक्ति का सिद्धान्त उपनिषदो की उपासना का ही सीधा विकास है। निष्काम कर्म का समर्थन भी उपनिषदों मे किया गया है।[3] उपनिषदो में भी यही प्रतिपादन किया गया है कि मन की उच्च अवस्था से ही 'अनासक्ति' का भाव उत्पन्न होता है।[4] उपनिषदो की शिक्षाए इतनी अधिक विकसित है तो भी प्राचीन विचारको की शिक्षाओ से आगे नहीं बढ सकी। भागवत धर्म के प्रचार ने गीता के रचयिता का झुकाव उपनिषद् प्रतिपादित परब्रह्म को एक विशेष प्रकार की दीप्ति तथा अन्त· प्रवेश करने वाली शक्ति के साथ संयुक्त करने की ओर किया। गीता के रचयिता ने उसे शरीरधारी ईश्वर का रूप दिया जिसे शिव, विष्णु आदि नाम दिए। किन्तु साथ-साथ वह यह भी जानता था कि वह एक मृतप्राय भूतकाल में फिर से जीवन डाल रहा है, किसी नयी कल्पना को जन्म नहीं दे रहा है। "इस अक्षय योग की मैने विवस्वत् को शिक्षा दी, और उसने मनु को सिखाया, मनु ने इक्ष्वाकु को सिखाया।" इस रहस्य को कृष्ण ने अर्जुन के सम्मुख रखा।[5] इससे पता चलता है कि गीता का सन्देश एक प्राचीन ज्ञान था, जिसकी शिक्षा गायत्री के ऋषि विश्वामित्र ने दी और ऋग्वेद के तीसरे मण्डल के ऋषि ने एवं राम, कृष्ण, गौतमबुद्ध ने भी दी। गीता का पूरा नाम भगवद्गीता नामक उपनिषद् है। गीता और उपनिषद् के पारस्परिक सम्बन्ध का परम्परागत विवरण उस वाक्य में है जो अत्यधिक प्रचलित है कि "सब उपनिषदे गौंएं हैं, कृष्ण दूध दुहने वाला है, अर्जुन बछड़े की जगह है और गीता अमृत के समान दूध है।"

---

1 2 42-45, 9 20-21

2 श्रीमद् 2 29, और क0उप०, 2 7 , श्रीमद्, 2 20, 8 11, और कठ उपनि0, 2 9, 2 15, भगवद्गीता, 3.42, और कठ उप०, 3 10, भगवद्गीता, 6 11 और श्वेताश्वर उप०, 2 10, भगवद्गीता, 6·13, और श्वेताश्वतर उप०, 2 8।

3 ईश उपनिषद् ।

4 छान्दोग्य उप०, 4 14, 3 , वृहदा0, 4 4, 23

5 4 1-3

भगवद्गीता मे भागवत् धर्म से भी प्रेरणा मिलती है। गीता का उपदेश भागवतों के सिद्धान्त के साथ समानता रखता है इसलिए इसे कभी-कभी **'हरिगीता'** भी कहते है।[1]

बौद्ध धर्म का गीता मे नाम नहीं लिया जाता, यद्यपि गीता के कितने ही विचार बौद्ध धर्म के मत के सदृश है। दोनो ही एक धार्मिक उथल-पुथल को अभिव्यक्त करते हैं जिसने कर्मकाण्ड प्रधान धर्म को हिला दिया यद्यपि गीता अधिक कट्टर थी और इसीलिए उसका विरोध उतना सर्वांगरूप में नहीं था। बुद्ध ने मध्यम मार्ग की घोषणा की यद्यपि उनका अपना उपदेश उनके अनुकूल नहीं था। विवाहित जीवन की अपेक्षा ब्रह्मचर्य को पसद किया। गीता वनवासी तपस्वियों के धार्मिक उन्माद का प्रतिषाद करती है और सन्तों की धार्मिक आत्महत्या का भी प्रतिवाद करती है जो दिन के प्रकाश की अपेक्षा अंधकार को तथा सुख की अपेक्षा कष्ट को उत्तम मानती है। मोक्ष की प्राप्ति धार्मिक सम्प्रदाय का अनुसरण किये बिना भी हो सकती है। निर्वाण शब्द गीता[2] मे आता है, किन्तु यह बौद्ध धर्म की नकल किया गया हो ऐसा नहीं दिखायी देता है, क्योकि यह गीता के लिए विशेष नहीं है। आदर्श व्यक्ति के लक्षण प्रकट करने मे गीता और बौद्ध धर्म एकमत है।[3] धर्म और दर्शन की दृष्टि से गीता बौद्ध धर्म की अपेक्षा अधिक परिपूर्ण है, क्योकि बौद्ध धर्म निषेधात्मक पक्ष पर आवश्यकता से कहीं अधिक बल देता है जो नास्तिकता और भ्रान्ति की जड़ है। गीता का सम्बन्ध प्राचीन परम्परा के अधिक अनुकूल है, और इसलिए भारत में गीता धर्म बौद्ध धर्म की अपेक्षा अधिक सफल व भाग्यशाली रहा है।

गार्ब के अनुसार 'सांख्य योगदर्शन की शिक्षाएं ही लगभग पूर्णरूप में भगवद्गीता' के दार्शनिक विचारों का आधार है। उनकी तुलना में वेदान्त का दूसरा स्थान है। सांख्य और योग का उल्लेख तो हमेशा पाया जाता है किन्तु वेदान्त का नाम केवल एक स्थान पर आता है।[4] इस प्रकार से जब हम केवल इस विषय पर विचार करते हैं कि दर्शन शास्त्रों का भाग उस गीता मे किस अश तक है, जो आज हमें उपलब्ध है, और जब हम ऐसे मतभेदों पर ध्यान देते हैं जो सांख्य योग और वेदान्त के अन्दर है और जिसका समन्वय होना कठिन है

---

1 शान्तिपर्व, 349, 10
2 गीता 6 15
3. 2 55-72, 4 16-23, 5 18-28, 12 13-16। तुलना धम्मपद, 360-423, सुत्तनिपात, मुनिसुक्त, 1.7 और 14 ।
4 वेदान्तकृत, 15 15

और जो मतभेद है वह दूर तभी हो सकता है जब हम सावधानी के साथ प्राचीन तथा अर्वाचीन मे भेद करे, तो हम इसी परिणाम पर पहुंचेगे, गीता मे साख्य योग शब्द जब आता है वह मोक्ष साधन तथा ध्यान से सम्बन्ध रखता है।[1] इन सम्बन्ध में एक और विचारक **फिट्‌ज एडवर्ड हाल** का कथन है वह कहता है कि 'उपनिषदों, भगवद्‌गीता तथा अन्य प्राचीन हिन्दू शास्त्रों में हमे ऐसे अनेक सिद्धान्त मिश्रित रूप मे मिलते हैं, जो नाना परिवर्तनों में से गुजरकर, जिन परिवर्तनों के कारण वे पृथक-पृथक अपने आप में ऐसे पूर्णरूप मे आ गये कि उनका फिर परस्पर समन्वय न हो सका। आगे चलकर किसी अनिश्चित काल मे परस्पर अलग-अलग सांख्य और वेदान्त के भिन्न-भिन्न नामों से पहचान मे आने लगे।' सांख्य का मनोविज्ञान तथा सृष्टिक्रम गीता ने स्वीकार किया है यद्यपि उसके अध्यात्म शास्त्र सम्बन्धी संकेतों को अमान्य ठहराया है।[2] कपिल के नाम का तो उल्लेख मिलता है पर पातञ्जलि के नाम का नहीं। हम निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि यह कपिल साख्यदर्शन का कर्ता कपिल ही है। यदि वही कपिल हो तो भी हम नहीं कह सकते कि साख्य उस समय अपनी सर्वांग सम्पूर्ण अवस्था में पहॅुच चुका था। बुद्धि, मन तथा अहंकार आदि पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग मिलता है। यद्यपि सब स्थानों पर उन अर्थों मे नहीं जिनमे सांख्य में, ये पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हुए है। प्रकृति के विषय मे भी यही बात सत्य है।[3] जहा सांख्य ईश्वर की सत्ता को नहीं मानता वहीं गीता उसकी स्थापना के लिए प्रयत्नशील रहती है।

यद्यपि पुरुष और प्रकृति के बीच का भेद उसे मान्य है तो भी द्वैत को अमान्य ठहराया गया है। पुरुष एक स्वतन्त्र तत्व नहीं अपितु प्रकृति अथवा ईश्वर का ही एक रूप है। आत्मिक प्रज्ञा उन्नत रूप है। प्रकृति चेतनारहित है किन्तु उसके कार्य निष्प्रयोजन नहीं है, और जीवात्मा को मोक्ष प्राप्त कराना ही इन कार्यों का प्रयोजन है। इसका हेतुवादपरक स्वभाव इसकी तथाकथित जडता के साथ अनुकूलता नहीं रखता। गीता में इस कठिनाई का समाधान निकाला गया है। पुरुष अथवा आत्मा एक स्वतन्त्र यथार्थ सत्ता नहीं है, जैसा कि सांख्य

---

1 गीता, 2 39, 3 3· 5 4-5, 13-14, 18वें अध्याय में साख्य दर्शन का उल्लेख है। माध्वाचार्य ने व्यासस्मृति से एक श्लोक उद्‌धृत किया है जिसमें सांख्य का अर्थ आत्मा का ज्ञान है। भगवद्‌गीता पर उनकी टीका, 2 40

2 'प्रिकेस टु साख्यसार', पृष्ठ 7, 2 11-16, 18-30, 2 27-29, 5 14, 7 4, 13 5 ।

3 3 5, 4 6, 7·4, 9 8, 11 51, 13 20, 18 59 ।

दर्शन में है। इसका स्वरूप ज्ञानस्वरूप नहीं है, अपितु आनदस्वरूप भी है। जीवात्माओं का परमरूप मे पृथकत्व गीता को अभिमत नहीं है।[1] यह एक **"उत्तम पुरुष या पुरुषोत्तम"** तथा सर्वोपरि आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करती है तो भी जीवात्मा का स्वरूप और उसका प्रकृति के साथ सम्बन्ध, जैसा कि भगवद्गीता मे दिया गया है, साख्य दर्शन के प्रभाव को दर्शाता है।[2] पुरुष केवल एक दर्शक या साक्षी है किन्तु कर्ता नहीं है। प्रकृति ही सब कुछ करती है। जो यह सोचता है कि 'मैं करता हूं' वह भ्रम में है। पुरुष और प्रकृति अथवा आत्मा तथा प्रकृति के परस्पर पार्थक्य को अनुभव कर लेना मनुष्य जन्म का लक्ष्य है। गुणो का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। ''देवताओं के अन्दर भी इस पृथ्वी पर अथवा स्वर्ग मे ऐसा कोई नहीं है जो प्रकृति के तीन गुणों, अर्थात् सत्, रजम् और तमस्, से स्वतन्त्र हो।''[3] ये गुण एक त्रिगुणात्मक बन्धन है और जब तक हम इनके आधीन रहेंगे, हमें जन्म जन्मान्तर के चक्र में निरन्तर भ्रमण करते रहना पड़ेगा। मोक्ष तीनों गुणों से छुटकारा पाने का नाम है।

गीता का उपदेश

गीता का उपदेश है जीवन की समस्याओं को हल करना और न्यायोचित आचरण को प्रेरणा देना। प्रत्यक्ष रूप से ये एक नैतिक ग्रन्थ है, एक योग शास्त्र है। गीता का निर्माण एक नैतिक धर्म के युग में हुआ था। गीता में योग शब्द का व्यवहार किसी भी प्रकरणानुकूल अर्थों में क्यों न हुआ हो, यह समस्त ग्रन्थ में आदि से अन्त तक अपने कर्मपरक निर्देश को स्थिर रखता है।[4] योग ईश्वर के पास पहुँचने की एक ऐसी शक्ति है जो विश्व पर शासन करती है, सम्बध जोड़ने और परमसत्ता को स्पर्श करने का नाम है। यह न केवल आत्मा की विशेष शक्ति को अपितु हृदय, मन एव इच्छा की समस्त शक्तियो को ईश्वर के आधीन कर देती है। इस प्रकार से योग उस अनुशासन (अथवा आत्मनियन्त्रण) का नाम है जिसके द्वारा हम संसार के आघातों को सहन करके अपने को अभ्यस्त बना देते हैं। योग एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा लक्ष्य को प्राप्त किया जाता है। पातञ्जलि का योग आत्मिक नियन्त्रण

---

1 7 4, 13 20, और भी देखों वेदान्त सूत्र, 2, 1, 1 और उन पर शाकर भाष्य ।

2 साख्यकारिका, 62, भगवद्गीता, 13 34 ।

3 18 40, 14 5

4 योगक्रियात्मक अभ्यास हैं और साख्य या ज्ञान से भिन्न है। श्वेताश्वतर उप०, 'सांख्ययोगादिगभ्यम्' ज्ञान, अभ्यास के द्वारा जानने योग्य। योग का अर्थ कर्म है। गीता, 3.7; 5 1, 2; 9 28; 13 24 भगवान ने योग को उसकी अद्भुत शक्ति कहा 19.5; 10, 7:11.8 जो पदार्थ हमारे पास नहीं है वह योग द्वारा प्राप्त हो जाते हैं। 9 · 22

की एक ऐसी पद्धति है जिसके द्वारा हम बुद्धि को निर्मल बना सकते है, मन को उसकी भ्रातियो से मुक्त कर सकते है और यथार्थसत्ता का साक्षात्कार कर सकते है। हम अपनी भावनाओ को नियन्त्रित कर सकते हैं और ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण करके सर्वोपरि सत्ता का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार से ये भिन्न प्रकार के योग अथवा उपाय है जिसके द्वारा हम एक सर्वोच्च योग अर्थात् ईश्वर के साथ संयोग की ओर चले जाते हैं। किन्तु कोई भी नैतिक सन्देश स्थिर नहीं रह सकता, यदि उसे आध्यात्मिक वचन का समर्थन न प्राप्त हो। इस प्रकार से गीता के योग शास्त्र का मूल ब्रह्मविद्या अर्थात् आत्म संबंधी ज्ञान है। गीता एक कल्पना पद्धति भी है और जीवन का विधान भी है, बुद्धि के द्वारा सत्य का अनुसन्धान भी है और सत्य को मनुष्य की आत्मा के अन्दर क्रियात्मक शक्ति देने का प्रयत्न भी है।[1]

---

1 डॉ० राधाकृपणनन्, "भारतीय दर्शन" राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली-6 पृष्ठ स०- 490-491

प्रथम अध्याय

गीता का सामान्य परिचय

प्रथम अध्याय

गीता का सामान्य परिचय

'श्रीमद् भगवद्गीता' का भारतीय साहित्य, संस्कृति और धर्म मे अद्वितीय स्थान है। आज भले ही हिन्दू समाज पर श्रीमद्भगवद्गीता का पूर्ण प्रभाव नहीं पडा हो फिर भी इतना तो सर्वमान्य है कि इसकी शिक्षाओ का प्रभाव हिन्दू धर्मानुयायियों के मानस-पटल पर अकित है। यदि रामचरित मानस के समकक्ष कोई ऐसा धर्मग्रन्थ हो, जो अत्यन्त लोकप्रिय हो और जिसमे अध्यात्म, धर्म तथा आचार के मूढ प्रश्नो पर सूक्ष्म, परन्तु हृदयग्राही एव मर्मस्पर्शी भाषा मे स्पष्ट वर्णन किया गया हो, तो निश्चय ही यह गौरव केवल (गीता) 'श्रीमद्भगवद्गीता' को प्राप्त है। इस ग्रन्थ से आज भारत का बच्चा-बच्चा परिचित है। 'श्रीमद्भगवद्गीता' मे सभी शास्त्रो का सारभूत है। इसी कारण से देश के सभी विद्वानों ने इसका अध्ययन कर अपने हृदय को मत्रमुग्ध किया। भगवद्गीता को पुराणो के अन्तर्गत माना गया है। पुराण जो भारतीय सस्कृति की मेरुदण्ड है। यह वह आधारपीठ है, जिस पर आधुनिक समाज अपने नियमन को प्रतिष्ठित करता है। पुराण भारतीय जीवन साहित्य का अमूल्य ग्रन्थ है, यही अतीत को वर्तमान से जोड़ने की एक श्रृंखला है। विश्व साहित्य के अक्षय ज्ञान भण्डार मे अष्टादश (अट्ठारह) पुराण अनुपम एव सर्वश्रेष्ठ रत्न है। यह हमारी सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक जीवन को स्वच्छ दर्पण के समान प्रतिबिम्बित करती है।

पुराणो की उत्पत्ति पाणिनी, यास्क और स्वयं पुराणो ने दी है। 'पुराण' का अर्थ है। 'प्राचीन काल मे होने वाला' प्राचीन काल मे पुराणो का सम्बन्ध इतिहास से था। कुछ समय के बाद पुराणो में इतिहास शब्द का प्रयोग 'इतिवृत्त' अर्थ में पाते हैं। इससे स्पष्ट है कि काल्पनिक कथा को 'पुराण' नाम से और वास्तविक घटना को 'इतिहास' नाम से पुकारते है। यही दोनो का प्राचीन अर्थ में विभेद है। सामान्यत· आलोचक, दार्शनिक, ऋषिमुनियों ने महाभारत को ही इतिहास कहा, क्योकि स्वय महाभारत भी अपने को इसी अभिधान से पुकारता है, परन्तु महाभारत के साथ ही रामायण को भी इतिहास के अन्तर्गत मानना प्राचीन शास्त्रीय मर्यादा की सीमा से बाहर नहीं है।

यदि देखा जाये तो विश्व साहित्य मे 'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता' का अद्वितीय स्थान है। यह साक्षात् भगवान के मुख से निकली दिव्य वाणी है। इसमें भगवान ने अर्जुन को निमित्त बनाकर मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए उपदेश दिया है। इस संसार में ईश्वर ही अनन्त है। उसके मुख से निकली हुई गीता रुपी वाणी भी अनंत है, उसका अन्त हो ही नहीं सकता। इस पर अनेक टीकाएं है। इस टीका के अनुसार मनुष्य का कल्याण तो हो सकता है, पर वह गीता का अर्थ नहीं जान सकता। आज तक गीता पर लिखी गयी टीकाओं को एकत्रित कर दे, फिर भी गीता का अर्थ पूरा नहीं होगा। जैसे कुएं से सैकड़ों वर्षों तक असंख्य आदमी जल पीते हैं, तो भी उसका जल वैसा का वैसा ही रहता है, ऐसे ही असंख्य टीकाएं लिखने पर भी गीता वैसे के वैसे ही रहती है। उसके भावों का अन्त नहीं होता। कुएं के जल की तो सीमा है पर गीता के भावो की कोई सीमा नहीं है। अत गीता के विषय में चाहे कोई कुछ भी कहें तो वह केवल उसकी बुद्धि का ही परिचय है। गीता उपनिषदों का सार है, पर वास्तव में गीता की बात उपनिषदों से भी विशेष है। वेद भगवान के निःश्वास है, और गीता भगवान की वाणी है। निःश्वास तो स्वाभाविक होते है पर गीता भगवान ने योग में स्थित होकर कही है। यहां पर योग युक्त कहने का तात्पर्य है कि सुनने वाले का हित किसमें है। उसके हित के लिए क्या कहना चाहिए। इस सभी बातों को ध्यान मे रखकर गीता कही गयी है इसलिए भी गीता का विशेष महत्व है। सभी दर्शन गीता के अन्तर्गत आ जाते हैं, पर गीता किसी भी दर्शन के अन्तर्गत नहीं है। दर्शन शास्त्र में जगत क्या है, जीव क्या है, और ब्रह्म क्या है- यह पढ़ाया जाता है। परन्तु गीता पढ़ाई नहीं कराती, प्रत्युत अनुभव कराती है।

दर्शन शास्त्र का यदि अध्ययन क्षेत्र देखा जाये तो यह अति विस्तृत है, लोक-परलोक का ऐसा कोई विषय नहीं है जो कि दर्शन का विषय न हो। सभी लौकिक और पारलौकिक विषय दर्शन के क्षेत्र के अन्तर्गत है। दर्शन के तीन विभाग है- **'तत्व', 'ज्ञान', 'नीति'।** परन्तु दर्शन के विभागों का अन्त नहीं है, क्योंकि जीवन की समस्याएं भी अनन्त है। इसी दृष्टि से **प्रो० केयर्ड** का कहना है कि मानव ज्ञान का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है, सम्पूर्ण तत्व के क्षेत्र में ऐसा कोई विषय नहीं है, जो दर्शन के क्षेत्र के परे हो। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण मानव ज्ञान दर्शन का विषय है। इस प्रकार दर्शन की परिधि के परे कुछ नहीं है। "दर्शन

जीवन है और जीवन दर्शन है।" इस दृष्टि से **कनिंघम महोदय** का कहना है कि दर्शन का जन्म तो साक्षात् जीवन और उसकी आवश्यकताओं से हुआ है। जीवन तो प्रत्येक व्यक्ति को जीना है। अत· कोई भी व्यक्ति यदि विचारपूर्ण जीवन जीता है, तो किसी सीमा तक वह दार्शनिक अवश्य है।[1]

दर्शन क्या है? मनुष्य और पशु दोनों ही अपने जीवन की रक्षा के लिए प्रयत्न करते हैं। पशु का जीवन निरुद्देश्य होता है, किन्तु मनुष्य अपनी बुद्धि की सहायता लेता है। वह अपना तथा संसार का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर उसके अनुसार जीवनयापन करना चाहता है। वह अपने वर्तमान, भविष्य के फल के विषय मे सोचकर कर्म करता है। मानव में बुद्धि की विशेषता है, इसी से वह युक्तिपूर्वक ज्ञान प्राप्त कर लेता है। "युक्तिपूर्वक तत्वज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न को ही दर्शन कहते हैं।" जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त हो वही दर्शन है।[2]

व्युत्पत्तिः उपपति, दर्शन की निष्पत्ति 'दृश' धातु से करण अर्थ में 'ल्यूट' प्रत्यय लगाकर हुई है, जिसका अर्थ होता है 'जिसके द्वारा देखा जाये' (दृश्यते अनेन इति) देखने का स्थूल साधन आंखे हैं। इस आँख द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसको 'चाक्षुस प्रत्यक्ष' कहते है। अतएव चाक्षुस प्रत्यक्ष ही ज्ञान या देखा हुआ ज्ञान है। यह मत स्थूल दर्शन का है। कुछ सूक्ष्म दर्शनों का मत है कि कुछ ऐसी वस्तुएं है जिनका चाक्षुस प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, अर्थात् जिसे आँखें नहीं देख सकती। उसे देखने के लिए सूक्ष्म दृष्टि (तात्विक बुद्धि) की आवश्यकता होती है। सूक्ष्म दृष्टि या तात्विक बुद्धि के दूसरे नाम 'प्रज्ञाचक्षु' ज्ञान चक्षु या दिव्य चक्षु है। गीता में भगवान कृष्ण ने अपना विश्वरूप दिखाने के लिए अर्जुन को पहले दिव्य चक्षु प्रदान किये थे।[3] 'दर्शन' शब्द के इस व्युत्पत्तिलब्ध' अर्थ को ध्यान में रखकर यदि उसकी परम्परा के मूल उक्त का अनुसंधान किया जाये, तो उपनिषद और दूसरे शास्त्रों में उसका प्रचुरता से प्रयोग मिलता है। उदाहरण के लिए शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध 'ईशावास्योपनिषद्' के इस श्लोक को लिया जा सकता है।[4] इस श्लोक का आशय यह है कि सोने के पात्र से सत्य का मुंह ढका है। हे पूजन (सारे जगत का पालन करने वाले परमात्मा)

---

1 "पाश्चात्य दर्शन"- डा० बी०एन० सिह, प्रकाशक स्टूडेन्ट्स फ्रेण्ड्स एण्ड कम्पनी, वाराणसी ।

2 "भारतीय दर्शन"- श्री सतीश चन्द्र चट्टोपाध्याय, प्रकाश पुस्तक भण्डार, पटना।

3 "भारतीय दर्शन" - वाचस्पति गैरोला, सशोधित सस्करण सन् 1983 लोकभारती प्रकाशन चतुर्थ सस्करण।

4 "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम्। तत्व पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टते।।"

उस ढक्कन को हटाइए, जिसने सत्य का अर्थात् ब्रह्म का या सनातन रुप ब्रह्म का या आपका (आत्मज्ञानानुकूल कर्तव्य का) हमे दर्शन हो। यहां पर दृश्यते का दर्शन अर्थ में आत्म साक्षात्कार या ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए हुआ है। इसी प्रकार 'छन्दोग्यउपनिषद्' में 'दृश' का आत्म दर्शन के अर्थ में प्रयोग करते हुए लिखा गया है 'आत्मावादृष्टे दृष्टव्यः' मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियों में उपनिषदो के आत्मज्ञान को 'सम्यग्दर्शन' तथा 'आत्मदर्शन' के अर्थ में लिया गया है। अपने सच्चे स्वरूप को देखना, पहचानना या दर्शन करना ही 'आत्मदर्शन या सम्यग दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन के लिए समदृष्टि का होना अति आवश्यक है। सर्वत्र एक ही आशय को देखना और सब में एक ही परमेश्वर को देखना या दर्शन करना ही 'यथार्थदर्शन' है। यह संसार क्या है, जीव जन्तु के बन्धन का कारण क्या है, इस सुख-दु ख, जीवन मृत्यु का सार क्या है, मैं क्या हूँ? इन सभी के मूल में अव्यक्त रहस्य को समझ लेना ही दर्शन है। ये अनन्त दृश्य जब एक ही दृष्टा में दिखायी देने लगे, मैं ही सर्वत्र दिखायी देने लगे और यह दुःख जब परम शान्ति में बदल जाये, इसी को वास्तव में देखना या दर्शन कहते है।

जीवन और दर्शन क्या है-

दर्शन शास्त्र का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीवन और दर्शन एक ही उद्देश्य के दो परिणाम है। दोनों का चरम लक्ष्य एक ही है; परमश्रेय (निःश्रेयस्) की खोज करना। उसी का सैद्धान्ति रुप दर्शन है और व्यवहारिक रूप जीवन है। इस विराट ब्रह्माण्ड के असंख्य, अद्भुत पदार्थों के समक्ष जीवन की स्थिति और सत्ता क्या है, एव मनुष्य के इन रोना, हँसना, सोचना, विचारना, सुख-दुःख, पुण्य पाप, जन्ममरण आदि विभिन्न रुपों का रहस्य क्या है, इन्हीं जिज्ञासाओं को लेकर दर्शनशास्त्र का जन्म हुआ और इन्हीं पर उसमें विचार किया गया है। जिज्ञासा का अर्थ है 'ज्ञान की इच्छा' (ज्ञातुं इच्छा) यहीं ज्ञानेच्छा हमें जीवन के प्रति, जगत के प्रति नये-नये अन्वेषणों, अनुसंधानों और आविष्कारों में प्रवृत्त करती है। इन नयी क्रियाओं और प्रवृत्तियों से हमें नया ज्ञान मिलता है, नया दर्शन उपलब्ध होता है, क्योंकि जीवन की मीमांसा करना ही दर्शन का एकमात्र उद्देश्य है, अतः जीवन से सम्बन्धित जितने भी आध्यात्मिक, अधिदैविक और आधिभौतिक पदार्थ है, उनका विश्लेषण करना ही दर्शन का कार्य हो जाता है।

दर्शन और विज्ञान का सम्बन्ध

तात्विक दृष्टि से संसार के समस्त पदार्थों को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है, सचेतन और अचेतन। इन द्विविध पदार्थों के बाहरी स्वरुपो पर विचार करने वाले शास्त्र को "विज्ञान" और उनकी भीतरी सूक्ष्मताओं का अन्वेषण परीक्षण करने वाले शास्त्र को "दर्शन" कहते है। तात्पर्य भेद से दर्शन और विज्ञान की अनेक कोटिया है।

मनोविज्ञान, भौतिक विज्ञान, शरीर विज्ञान, समाजविज्ञान और अन्याय विज्ञान जीवन तथा उसकी जन्मस्थली एवं कर्मस्थली इस दृष्टि की व्याख्या अपने-अपने ढंग से एवं अपनी-अपनी विधि से करते है। दर्शन शास्त्र का उद्देश्य यह भी है कि उक्त विज्ञान शाखाओ मे सामंजस्य स्थापित करके उन्हे एक सूत्र में ग्रथित किया जाये। इस दृष्टि से दर्शन भी एक विज्ञान है। दर्शनशास्त्र समस्त शास्त्रो या विद्याओ का सार मूल तत्व या सग्राहक है। उसमे ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या, आध्यात्मविद्या, तर्क या न्याय, धर्ममीमांसा, सौन्दर्य कलाशास्त्र आदि सभी विषयों का परिपूर्ण शिक्षण परीक्षण मिलता है। दर्शनशास्त्र के इसी सर्वसंग्रही स्वरूप को लक्ष्य बनाकर प्रौढ दार्शनिक भारत रत्न **डॉ० भगवान दास** ने लिखा है कि 'दर्शन शास्त्र आत्मविधा, आध्यात्मविद्या, आन्वीक्षिकी, सब शास्त्रों का शास्त्र, सब विद्याओ का प्रदीप, सब व्यावहारिक सत्कर्मो का उपाय, दुष्कर्मों का उपाय, अर्थात् अफल प्राप्त कर्मो का साधक, इसी कारण से सब सद्धर्मों का आश्रय और अन्ततः समूल दु ख से मोक्ष देने वाला है; क्योकि सब पदार्थों के मूल हेतु को, आत्मा के स्वभाव को, पुरुष की प्रकृति को बताता है, और आत्मा एव जीव का, तथा दोनों की एकता का दर्शन कराता है। समस्त शास्त्रो का सग्राहक दर्शन शास्त्र है।

दर्शन का प्रयोजन

दर्शनशास्त्र की उत्पत्ति इस अभिलाषा से की गयी कि दुःख सामान्य की निवृत्ति और सुख सामान्य की प्राप्ति। पृथक शास्त्रों, शिल्पो, विद्याओं में विशेष-विशेष दुःख की निवृत्ति और विशेष-विशेष सुख की प्राप्ति के लिए अनेक उपाय बताये गये है किन्तु दुःख सामान्य की निवृत्ति और सुख सामान्य की उपलब्धि के लिए दर्शनशास्त्र ही एकमात्र उपाय है। दर्शन का अभिधान इसलिए हुआ कि वह सब शास्त्रों का संग्राहक (शास्त्र सामान्य) हैं; अर्थात्

उसमे सब शास्त्रो का सार या तत्व निहित है। ससार की प्रत्येक वस्तु का अपना निश्चित प्रयोजन होता है। इसी प्रयोजन की खोज करते हुए एक निश्चित ज्ञान की प्राप्ति होती है, वह यथार्थ ज्ञान है। यही यथार्थ ज्ञान 'शास्त्र' कहलाता है, जब वह क्रमबद्ध रुप मे देखा जाता है। इन सभी शास्त्रों का संग्राहक 'दर्शनशास्त्र' है। सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति दर्शन का मुख्य प्रयोजन है। ईश्वर की प्राप्ति के लिए अलग-अलग शास्त्रों एवं दर्शनों के मार्ग भिन्न है, परन्तु उनका लक्ष्य एक ही है- 'आत्मप्राप्ति' आत्मा को जानो (आत्मान विद्धि)।

जहाँ तक भारतीय दर्शन का संबंध है, उसमें अनेक मत, सम्प्रदाय, पंथ, सिद्धान्त, और वाद एक ही आत्म प्राप्ति के उद्‌देश्य को लेकर आगे बढ़े। उपनिषदों का 'तत्वमसि' महावाक्य ही सब का केन्द्र रहा है। इसकी व्याख्या यद्यपि अलग-अलग दर्शनों में अलग-अलग दृष्टि से की गयी, परन्तु उनका अंतिम लक्ष्य एक ही था। वह परम लक्ष्य है-"दुःख की अत्यान्तिक निवृत्ति और सुख की ऐकान्तिक प्राप्ति" जिस जीव ने एकान्त सुख और एकान्त दुःख यानि दुःख सामान्य और सुख सामान्य को जान लिया वहीं 'तत्वदर्शी' या :आत्मज्ञानी' है। यदि दर्शन का प्रयोजन दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति है तो इसका अर्थ है कि दुःखमय संसार को देखकर मनुष्य के मन में दर्शन के लिए जिज्ञासा हुई। इसी दुःख की जिज्ञासा और सुख की प्राप्ति ने दर्शन को जन्म दिया। संसार में तीन प्रकार के दुःख (**अधिभौतिक, अधिदैविक, आध्यात्मिक**) है, इन तीनों को समाप्त करना, दर्शनशास्त्र का एकमात्र लक्ष्य है। इस दुःख के आत्यान्तिक नाश और अखण्ड आनंद की प्राप्ति के तीन साधन है- **श्रवण, मनन, निदिध्यासन**।

भारतीय संस्कृति और वेदान्त

भारतीय संस्कृति बहुत ही प्राचीन है। सनातन धर्म इस संस्कृति का आधार है। प्राचीन काल से ही भारत की सम्पूर्ण ज्ञान परम्परा और धर्म का मूल (उत्स) कारण **'वेद'** को माना जाता है। **'वेद'** भारतीय साहित्य के ही नहीं, अपितु विश्व साहित्य के प्राचीनतम् ग्रन्थ है। वेद के जानने वालों का आचरण ही धर्म माना जाता है। जो वेद की निन्दा करते हैं वे 'नास्तिक' कहलाते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों को भी वेद कहा जाता था, किन्तु बाद में वेद केवल

चार-मन्त्र सहिताओं का बोधक रह गये। वेद के दो विभाग है-मत्र और ब्राह्मण। देवता की स्तुति मे प्रयुक्त होने वाले अर्थ स्मारक को 'मत्र' कहते है। यज्ञादि अनुष्ठान का विस्तृत विवेचन करने वाले को 'ब्राह्मण' कहते है। मत्रों के समूह को 'संहिता' कहते हैं। यहा वेदो के मंत्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद चार विभाग है। जो मुख्यतया कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड में विभक्त है। वेद के जिन विभागों में विधिपूर्वक यज्ञ करके स्वर्ग प्राप्ति का मार्ग बतलाया गया है उसे 'कर्मकाण्ड' और जहॉ पर कठिन मानसिक, शारीरिक, नैतिक, आध्यात्मिक साधनों के द्वारा परमतत्व की प्राप्ति या ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय बताया गया है, उसे 'ज्ञानकाण्ड' कहते है। ज्ञान शब्द का अर्थ जानने के लिए होता है जिसके साथ विशेषण की आवश्यकता होती है, जैसे इतिहास का ज्ञान, दर्शन का ज्ञान आदि। पर यहॉ ज्ञान का प्रयोग विशेष अर्थ में हुआ है जिसका अर्थ है 'ब्रह्मज्ञान या परम तत्व की साक्षात् प्राप्ति'। इस विभाग को **'वेदान्त'** कहते हैं। वेद के शीर्ष स्थानीय भाग को वेदान्त कहते हैं। वेदान्त की ब्रह्मविद्या उस विभूति से युक्त है, जो मिथ्या-अनुभूति को समाप्त कर चरम सत्य की उपलब्धि कराती है। ब्रह्मविद्या से ही स्वयं प्रकाश विज्ञान स्वरूप सत्चित्त आनन्द की प्राप्ति होती है, जो जीवन का परम लक्ष्य है। इस विद्या या ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादन वेद के जिस अत्युत्तम शिरोभाग में है, उसी का नाम 'उपनिषद' है।

वेद की मर्यादा के अन्तर्गत होते हुए भी ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद आदि मूल वेदों से सर्वथा अलग है, केवन चार मंत्र संहिताएं ही प्रमुख है, फिर भी इन सभी का मूल वेद ही है। संस्कृति, धर्म, दर्शन, और साहित्य आदि की नींव वेदों पर टिकी है। इसलिए मनु ने वेदों को सर्वज्ञानमय कहां है और यही कारण है कि **स्वामी दयानन्द सरस्वती** तथा **मैक्समूलर** जैसे आधुनिक विद्वानों ने भी वेद के उक्त ज्ञानमय स्वरुप को स्वीकार किया है। 'वेद' हिन्दु जाति का सर्वप्राचीन और पवित्र ग्रन्थ है। वह पुस्तक न तो 'कुरान' की तरह एकमात्र धर्म पुस्तक है और न 'बाइबिल' की तरह अनेक महापुरुषों की वाणियों का संग्रह मात्र ही है, बल्कि एक पूरा साहित्य है। वेद चार है- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, इन चारो वेद की चार संहिताए है; ऋग्वेद संहिता, यजुर्ववेद संहिता, सामवेद संहिता, अथर्ववेद संहिता। संहिता संकलन या समूह (संग्रह) को कहते है। प्रत्येक संहिता में अलग-अलग वेदों के मंत्र संकलित है। 'वेद ईश्वरीय ज्ञान है।' वेद ज्ञान ही है या ज्ञान शब्द का व्यापक अर्थ है।

इतिहास एक ज्ञान है, ठीक उसी प्रकार भूगोल और गणित भी ज्ञान है, किन्तु वेद शब्द से हम उस ईश्वरीय ज्ञान को लेते हैं, वेदों के समय के ऋषिमुनि दिव्य दृष्टि सम्पन्न थे। 'वेद नित्य और अपौरुषेय है।' वेदों के बाद रचे गये ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, कल्पसूत्र, दर्शन और धर्मशास्त्र आदि सभी मे एकमत स्वीकार किया गया है कि वेद नित्य है, अर्थात् सृष्टि से पूर्व भी विद्यमान थे, वेद अनादि है, अर्थात् उनकी कोई जन्मतिथि नहीं है, वेद अपौरुषेय है, अर्थात् उसको रचने वाला कोई पुरुष नहीं है। इस दृष्टि से वेद स्वयंभूत, स्वप्रकाशक, स्वयं प्रमाण है। वेदों की नित्यता और अपौरुषेयता के सम्बन्ध में 'मनुस्मृति' के प्रामाणिक टीकाकार **'कुल्लूक भट्ट'** का कथन है कि प्रलयकाल के बाद भी वह विनष्ट नहीं हुए, वे परमात्मा में अवस्थित थे।[1]

''प्रलयकालेऽपि पारमात्मनि वेदराशिः स्थितः।'' ईश्वर की सत्ता में अविश्वास करने वाले सांख्य दर्शन के निर्माताओं ने भी वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार किया है। सांख्य दर्शन में त्रिविध दुःखों का वर्णन है, इन दुःखों की निवृत्ति ही परम पुरुषार्थ है। इन दु.खों के अन्त के लिए सर्वप्रथम जिज्ञासा की गयी है। यथार्थ ज्ञान से ही 'अपवर्ग' की प्राप्ति होती है। वेदकालीन ऋषि दिव्य दृष्टि सम्पन्न थे। उन्होंने सृष्टि और लय, दोनों के निसर्ग प्रवाह का ज्ञान प्राप्त किया। जीवधर्म के बन्धन में बंधे हुए इस विश्व की सद्गति के लिए वेदों के ऋषियों ने गंभीरता से विचार किया। उन्होंने पाया कि नाना नामरुप इस जगत की तह में एक ही कारण प्रच्छन्न रुप से विद्यमान है। वह है 'दुःख'। इस दुःख से छुटकारा पाने का एक मात्र उपाय-ज्ञान है 'आत्मज्ञान'। इसी आत्म प्राप्ति के लिए महर्षि देवर्षि नारद, साधारण दुःखी मनुष्य की भांति आत्मज्ञानी सनत्कुमार के पास गये और उनसे कहां उस आत्मविद्या को जानो, जिससे सब दुःखों का नाश हो जाता है और परमश्रेय की प्राप्ति होती है (श्रेयसाधनप्राप्तये सनत्कुमारं उपप्रसाद) 'कठोपनिषद' की एक कथा में बालक नचिकेता मृत्युभय की जिज्ञासा के लिए ब्रह्मज्ञानी यमराज के पास जाता और उससे वेदान्तविद्या, आत्मविद्या, और मोक्षशास्त्र का उपदेश सुनकर अमरता को प्राप्त होता है। ज्ञानी याज्ञलव्य ने अपनी सहधर्मिणी मैत्रेयी को उस पराविद्या (दर्शन) का ज्ञान दिया, जिससे अमरत्व की प्राप्ति होती है और संसार के समस्त दुःखों से मुक्ति मिल जाती है। तथागत बुद्ध के अन्तःकरण

1 श्रीमद् भगवद्गीता के शांकर भाष्य का समालोचनात्मक अध्ययन - डॉ० गिरि, पृष्ठ सं० 47

में जीवन मुक्ति के इस अबोध चक्र ने वैराग्य को जगाया। घर छोड़ते हुए पहली बात जीवन क्या है? जब तक मैं इस रहस्य का पता नहीं लगा लूँगा, तब तक मैं कपिलवस्तु नहीं लौटूगा। बुद्ध ने दु:ख को खोज निकाला और चार आर्य सत्यो मे उसकी उत्पत्ति, निवृत्ति की व्याख्या की। महावीर स्वामी के वैराग्य और परार्थ का उद्देश्य संसारी जीवों को जन्ममरण तथा दु:खबन्धन से छुटकारा दिलाकर मोक्ष का मार्ग बताना है। इसी मार्ग की प्राप्ति के लिए महावीर स्वामी ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्चरित्र और सम्यग्ज्ञान आदि का उपदेश दिया। इसी प्रकार न्याय दर्शन में प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों का ज्ञान हो जाने पर दु:ख और उसके समूल कारणों का क्षय हो जाता है। यही सर्वदुःखक्षय ही 'मोक्ष' या 'अपवर्ग' है। वैशेषिक दर्शन मे कहा गया कि धर्म से सांसारिक अभ्युदय (भोग) और पारमार्थिक नि:श्रेयस (मोक्ष) दोनों मिलते हैं। इस धर्म विशेष का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर तत्वज्ञान और तब सर्वदुःखविनिमुक्त मोक्ष की प्राप्ति होती है। योगदर्शन में साधक को अपनी मूलावस्था को खोजने के उपाय बताये गये हैं। वहॉ बताया गया है कि जिसे संसारी मनुष्य सुख कहता है, विवेकी के लिए वह दुःख है। यह दुःख अनन्त है, और इसके होने का कारण प्रकृति पुरुष का संयोग। इस संयोग का कारण है मिथ्या ज्ञान या अविद्या, जिसे तत्वज्ञान द्वारा मिटाया जाता है। पूर्वमीमांसा का 'स्व' ज्ञान ही मोक्ष है। जो अपने को सब में और सब को अपने में देखता है और उस समदृष्टि से सदा आचरण करता है उसको ही स्व, मोक्ष या अपवर्ग कहते हैं। वेदान्त में आत्मज्ञान या यथार्थ ज्ञान से ही ब्रह्म की प्राप्ति बतायी गयी है। यह अवस्था ऐसी है जिसमें समस्त दुःखों का अन्त हो जाता है और परम शान्ति की उपलब्धि होती है।

दर्शन और धर्म

अभी तक वर्णित लेख को देखकर हम यह कह सकते हैं कि भारत में चिन्तन का प्रमुख स्त्रोत **'वेद'** है, वेद के शीर्षस्थ भाग को **'वेदान्त'** कहते हैं। हमारे देश में चिन्तन धारा की चरम परिणति वेदान्त में हुई है। भारतीय लोग आदिकाल से ही आध्यात्मवादी, नीतिपरायण और शान्तिप्रिय रहे है। आज भारतीय दर्शन, धर्म और सस्कृति के मूल्यों को संसार के दार्शनिक और धार्मिक साहित्य में अधिष्ठित किया जा रहा है। प्राचीन काल से ही दर्शन और धर्म का पारस्परिक सम्बन्ध विवादास्पद विषय रहा है। कुछ लोग दर्शन को धर्म

मानते हैं और कुछ लोग धर्म को दर्शन मानते हैं। अत दोनों की सीमा निर्धारण और दोनो का पृथक्करण तो प्रायः असम्भव कार्य है, परन्तु दोनों एक दूसरे से किस सीमा तक प्रभावित है, इस प्रश्न पर विचार संभव है। भारतीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य मे दोनों का पृथक्करण नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ प्रत्येक दर्शन एक सम्प्रदाय की देन है। सम्प्रदाय का सम्बन्ध धर्म या धार्मिक मान्यताओ से है। अतः धर्म दर्शन से पृथक नहीं है। सर्वप्रथम विज्ञान के चमत्कार होने से किसी देश की समस्या बन जाती थी। सम्पूर्ण मानव जाति की आध्यात्मिक एकता का पृष्ठाधार है। जब सब राष्ट्रों और देशो की समस्याएं अन्योन्याश्रित हो गयी, तब हम सबों को एक दूसरे के दृष्टिकोण, विचारों और भावनाओं से परिचित होना और उनमें परिवर्तन करना अनिवार्य हो गया। आज विज्ञान अपने मार्ग पर इतना अग्रसर हो चुका है, जिससे अनेक प्रकार के यंत्रों का आविष्कार हुआ। उसकी सहायता से या तो सारे संसार का विध्वंस होगा या सम्पूर्ण समाज में शान्ति होगी। विज्ञान अपने आप में न तो इष्टसाधक है और न ही अनिष्टकारक ही है। यह तो मनुष्य का काम है वह विज्ञान द्वारा निर्मित साधनों और यंत्रों का प्रयोग मानव कल्याण के लिए करें या विध्वंस के लिए। आज की समस्या मानव प्रकृति की है। **टाल्सटाय** ने आज की वैज्ञानिक सम्यता की भर्त्सना की और बताया कि बीसवीं सदी का विषय मनुष्य है।

मनुष्य को सारे संसार का केन्द्र माना जाता है। मनुष्य को ईश्वर की सृष्टि का शीर्ष माना जाता है, क्योंकि धार्मिक ग्रन्थों में मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ तत्व माना गया है, उसी के द्वारा ईश्वर की सृष्टि की गयी है। इससे स्पष्ट होता है कि मानव सम्यता और सस्कृति के आधारभूत तत्व धर्म में निहित है और धर्म की यह विशेषता है कि यह ईश्वर और मनुष्य को जड़ जगत से भिन्न मानते हुए इन्हें जो महत्व देता है उससे मनुष्य सृष्टि का सिरमौर हो जाता है। मनुष्य चेतन प्राणी है और ईश्वर आत्म चेतना युक्त है। ईश्वर आत्म चेतना युक्त होने के कारण जगत की वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करने के साथ-साथ इसे अपना भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है। मनुष्य इसलिए बड़ा है, क्योंकि उसमें आत्म चेतना है। सत्ता में अनेक स्तर होते हैं, जिसे निर्जीव जड़ तत्व, प्राण चेतना, आत्म चेतना आदि सत्ता के इन सभी स्तरों में सर्वोच्च और अंतिम स्थान मनुष्य का है।

मध्ययुगीन दर्शन 'ईसाई दर्शन' कहलाता है। यह ग्रीस तथा रोम मे फैला हुआ था। इससे यदि एक ओर सामान्य जनता में धार्मिक मूल्यो के प्रति आस्था उत्पन्न हुई तो दूसरी ओर उनकी इस धार्मिक अभिरुचि में अन्धविश्वास और धर्मान्धता के अंकुर फूटने लगे। ग्रीसवासियों ने ईसाई धर्म को दार्शनिक रुप दिया, इस युग के दार्शनिक संत कहलाये और इन सन्त दार्शनिकों का मुख्य कार्य धार्मिक आस्था को प्रबल बनाना था। ईसाई धर्म ने इसी को अपना कर ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार सारे विश्व में किया। 15वीं शताब्दी में विज्ञान का उदय हुआ। वैज्ञानिकों ने विश्व के रहस्यों का अध्ययन किया और उन्होंने ध्यान धर्म से हटाकर विज्ञान की ओर कर दिया और कहा कि शुद्ध ज्ञान हमें केवल विज्ञान द्वारा ही मिल सकता है, पाश्चात्य धर्म और दर्शन के इतिहास में धर्म ओर विज्ञान का द्वन्द्व इसी समय यानि 16वीं शताब्दी से आरंभ हुआ। डेकार्ट, लाइब्नीज, स्पिनोजा आदि मुख्य दार्शनिक समस्याओं को धार्मिक मान्यताओं से पृथक समझने लगे। अतः धर्म और दर्शन का अलगीकरण तो हो गया, पर इसे पूर्णतः पृथक नहीं किया जा सकता। उसका कारण है, क्योंकि दोनों की समस्याएं लगभग समान है। इन समस्याओं के कारण ही 'धर्म दर्शन' स्वीकार किया गया है। धर्म दर्शन धर्म का दार्शनिक या बौद्धिक विवेचन है, अथवा धर्म का दार्शनिक अध्ययन है। दर्शन के बिना धर्म अन्धा है और धर्म के बिना दर्शन रिक्त है। दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। सामग्री एवं स्वरूप के समान दोनों किसी वस्तु के अपरिहार्य अंग है। जिस प्रकार स्वरूप के बिना सामग्री नहीं और सामग्री के बिना स्वरूप नहीं, उसी प्रकार धर्म के बिना दर्शन और दर्शन के बिना धर्म नहीं। दर्शन में तर्क और व्याख्या की प्रधानता है। परन्तु तर्क और व्याख्या के मूल उपादान से ही धर्म है। धर्म के अस्पष्ट मूल वाक्यों को स्पष्ट बनाना दर्शन का कार्य है। अतः धर्म और दर्शन में घनिष्ट सम्बन्ध है परन्तु इसका अर्थ ये नहीं कि दोनों एक है। दोनों के क्षेत्र भिन्न-भिन्न है। दर्शन के प्रतिपाद्य विषय धर्म जिज्ञासा और ब्रह्मविद्या है। कर्म और ज्ञान (मीमांसा और वेदान्त) इसके अपर नाम है। वैशेषिक और मीमांसा दर्शन का आरंभ धर्म से हुआ।

'यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः।' प्रस्तुत सूत्र का आशय है 'यह मानव धर्म, जिससे इस लोक और परलोक दोनों का अभ्युदय (धर्म, अर्थ, काम) और निःश्रेयस (मोक्ष) इन चारों पुरुषार्थों की सिद्धि होती है, वही धर्म है।

इस दृष्टि से धर्म के अन्तर्गत सारी आत्मविद्या, ब्रह्मविद्या का स्वत. अभिनिवेश सिद्ध होता है। अत. धर्म और दर्शन दोनों का एक ही प्रयोजन (मोक्ष की प्राप्ति) होने के कारण दोनों एक ही है। धर्म और दर्शन दोनों एक दूसरे पर आधारित है। एक के बिना दूसरे की उत्पत्ति, स्थिति सम्भव ही नहीं, यथा मनुस्मृति में भी कहा गया है। 'न हि अनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्चते' जो अध्यात्मविद् है वहीं धर्म के स्वरुप को जानता है। बिना अध्यात्मबोध के कर्मो का अनुष्ठान व्यर्थ है। ज्ञान (दर्शन) और भक्ति (धर्म) से अनुस्यूत भारतीय जीवन के सर्वाङ्गीण स्वरुप को जाने बिना ही कुछ पाश्चात्य विद्वानों को यह भ्रम हुआ कि भारत में दर्शन और धर्म को ठीक तरह से नहीं पहचाना गया। वास्तव में इन दोनों के समन्वय से ही भारतीय जीवन का आरभ हुआ। हमारे यहा धर्म को अध्यात्म पर और आध्यात्म को धर्म पर आधारित करके देखा गया। सांसारिक व्यवहार का नियमन उसी व्यक्ति को सौंपा जाना चाहिए, जो वेदान्त को जानता है, क्योंकि जो वेदान्त को जानता है, वही पुरुष प्रकृति के तत्व को, उनकी उत्पत्ति को, स्थिति, लय को जानता है।[1]

भारत एक अति विस्तृत और विशालतम देश है। इसकी विशालता के साथ-साथ इसके धार्मिक और दार्शनिक साहित्य भी अनेक है, जिनकी व्याख्या और विवेचना करना एक असंभव कार्य है। फिर भी भारतीय दृष्टिकोण से परिचय प्राप्त करने के और उसकी आधुनिक प्रासंगिकता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मात्र श्रीमद् भगवद्गीता का अध्ययन पर्याप्त है। किसी अन्य के नहीं बल्कि (अपितु) भगवान श्रीकृष्ण के शब्दों में इसमें उपलब्ध समस्त ज्ञान विश्व को धारण करने में समर्थ है। आचार्य शंकर ने इस ग्रन्थ को वेदों का सार माना और इसके उच्च आदर्शों की प्रशंसा की है। आचार्य शंकर ने अपनी गीता भाष्य की भूमिका में लिखा है कि यह गीताशास्त्र सम्पूर्ण वेदार्थ का सार संग्रह रुप है, इसी कारण इसका अर्थ समझने में अत्यन्त कठिनाई है।[2] अनेक भाष्यकारों ने इसके विरोधी अर्थ प्रस्तुत किये हैं, जिससे वास्तविक अभिप्राय को समझना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। गीताशास्त्र का प्रयोजन मोक्ष की प्राप्ति है, जो इसके अर्थ के ज्ञानाभाव के कारण असभव है। गीता का विशिष्ट प्रयोजन परम कल्याण अर्थात् सभी पुरूषार्थों की सिद्धि है। मोक्ष प्राप्ति के दो साधन प्रवृत्ति और निवृत्ति गीता शास्त्र ने बताये हैं।

---

1 "श्रीमद् भगवद्गीता के शाकर भाष्य का समालोचनात्मक अध्ययन" - डॉ० गगन देव गिरि।

2 "गीता शास्त्रम् समस्त वेदार्थ सार सग्रह भूतम दुविज्ञेयार्थम्"। गीता (शाकरभाष्य) उपोद्धात् (पृष्ठ स 14)

गीता की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि

प्राचीन आध्यात्मिक साहित्य में **'प्रस्थानत्रयी'** शब्द प्रसिद्ध है। 'प्रस्थानत्रयी' इस देश के सर्वोच्च आध्यात्मिक साहित्य का नाम है। प्रस्थान का अर्थ है 'जीवन की यात्रा मे प्रस्थान।' इस प्रकार जीवन की दिशा का निर्धारण करने वाले संस्कृत साहित्य मे तीन ग्रन्थ है **उपनिषद, गीता** और **वेदान्त दर्शन**। ये तीनों सस्कृत के अमर ग्रन्थ है। तीनो का लक्ष्य मानव जीवन को साउद्देश्य बना देना है। उपनिषद के हिन्दी भाष्य, 'प्रस्थानत्रयी' में द्वितीय अग **'गीता'** का है। गीता महाभारत के भीष्म पर्व का एक भाग है। भीष्मपर्व में 25 से 42 तक जो 18 अध्याय है, वे ही गीता कहलाते है। 'महाभारत' के रचयिता वेद व्यास, इसलिए 'गीता' के रचयिता भी वेद व्यास ही' है।

श्रीभगवद्गीता का सामान्य परिचय

भारतीय दर्शनों के इतिहास में श्रीमद्भगवद्गीता का अति महत्व है। भारतीय दर्शन में वैसे तो अनेक समन्वय हुए है, परन्तु उनमें सर्वप्रमुख एवं महत्वपूर्ण वैदिक समन्वय है। वेदों में मनुष्य का मनोमय पुरुष जो दिव्य, ज्ञान, शक्ति, आनंद, जीवन और महिमा में लीन रहकर विशाल क्षेत्रों में विहार करते हुए देवताओं की विश्वव्यापी स्थिति के साथ समन्वित रहता है। इन देवताओं को उसने जड़प्रकृति जगत के प्रतीकों का अनुसरण करते हुए उस श्रेष्ठतम् लोकों में पाया जो भौतिक इन्द्रियों और स्थूल मन बुद्धि से छिपे हुए हैं। उपनिषदों के पूर्व ऋषियों की इस चरम अनुभूति को ग्रहण किया जो आध्यात्मिक ज्ञान का एक महान और गंभीर समन्वय साधने का उपक्रम करती है, सनातन पुरुष से प्रेरणा पाने वाले मुक्त ज्ञानियो ने आध्यात्मिक अनुसंधान के दीर्घ और सफल काल में जो कुछ दर्शन और अनुभव किया, उस सबको उपनिषदों ने एकत्र कर महान समन्वय के अन्दर ला रखा था। इसी वेदान्त समन्वय से ही 'गीता' का आरंभ होता है। इस श्रीमद्भगवद्गीता में जो 'श्रीमद्" अर्थात् सर्वशोभासम्पन्न है, और जिनमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश श्री, ज्ञान और वैराग्य- ये छः 'भाग' नित्य विद्यमान रहते हैं, भगवान के मुख से निकली हुई होने के कारण इसको 'श्रीमद् भगवत्' कहा गया है। जब मनुष्य मस्ती में, आनंद में होता है तब उसके मुख से स्वतः गीत निकलता है। भगवान् ने इसको इसी मस्ती में आकर गाया है, इसलिए इसका

नाम **'गीता'** है। यद्यपि सस्कृत व्याकरण के नियमानुसार इसका नाम 'गीतम्' होना चाहिए था, यद्यपि उपनिषद् स्वरुप होने से स्त्रीलिंग शब्द 'गीता' का प्रयोग किया गया है। इसलिए 'श्रीमद् भगवद्गीता' गीता नाम से लोकप्रिय हुई है। भारतीय विचारधारा के क्षेत्र मे गीता का महत्व अन्य दर्शनो, ग्रन्थों से कम नहीं है। इस ग्रन्थ को प्राचीन काल से ही अत्यधिक प्रशसा मिली है, और अब इसकी प्रियता जन-जन में बढ़ती जा रही है। भारत के दार्शनिक और धार्मिक क्षेत्रों (साहित्य) मे भगवद्गीता का विशिष्ट स्थान है। कहा गया है कि गीता मे उपनिषद् रुपी गउओं का दुग्ध श्रीकृष्ण द्वारा दुहकर एकत्र कर दिया गया है, अर्जुन रुपी बछड़ा इसे दुहने की क्रिया का निमित्त मात्र है: उसका भोक्ता कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति हो सकता है।

परम्परानुसार उपनिषद् साहित्य श्रुति और भगवद्गीता स्मृति है। धार्मिक परम्परा में श्रुति का वही स्थान होता है, जो लौकिक ज्ञान में प्रत्यक्ष का। भारतीय दर्शनों में प्रत्यक्ष को ज्येष्ठ प्रमाण माना जाता है। स्मृति का स्थान अनुमान के बराबर है। जैसे अनुमान प्रत्यक्ष पर निर्भर होता है। किन्तु हिन्दुओं के धर्म साहित्य मे अनेक स्मृतियो का महत्व है, जिसमे मनुस्मृति श्रेष्ठ (प्रधान) है। हिन्दुओं के मतानुसार मनुस्मृति अतिविशिष्ट है। उक्त स्मृति तथा दूसरे स्मृति ग्रन्थों में मुख्यतः वर्श्राश्रम धर्म का वर्णन है। किन्तु हिन्दू धर्म की वर्णव्यवस्था दूसरे धर्म के लोगों और देशों को अमान्य है। इसके विपरीत भगवद्गीता का अनुवाद प्रायः विश्व की सभी महत्वपूर्ण भाषाओं में हुआ है और उससे अनेक विदेशी विचारकों ने प्रेरणा ली थी। उपनिषद्, भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र ये तीनों मिलकर 'प्रस्थानत्रयी' कहलाते हैं। ये आस्तिक हिन्दुओं के प्रामाणिक ग्रन्थ है, जिसका समर्थन वेदान्त के विभिन्न आचार्यो ने किया है। अनेक आचार्यों ने इन तीनों पर कुछ ने दो पर अपनी दृष्टि से भाष्य ग्रन्थ लिखे हैं।

स्वयं भारतवर्ष के प्रचुर धार्मिक साहित्य में 'श्रीमद् भगवद्गीता' का स्थान अद्वितीय है। वास्तव मे यदि किसी ग्रन्थ को हिन्दू धर्म का प्रतिनिधि ग्रन्थ कहा जा सकता है तो वह 'भागवद्गीता' ही है। संभवत. गीता ही एकमात्र ग्रन्थ है जिसमें मोक्षवाद के साथ-साथ कर्ममय जीवन को महत्ता प्रदान किया गया है। यही कारण है कि बीसवीं शताब्दी में जब स्वतन्त्रता सैनिकों को प्रेरणा की जरुरत महसूस हुई तो उन्होंने उपनिषदों की ओर नहीं, अपितु भगवद्गीता को ज्ञान का स्त्रोत बनाया। यहां हम कह सकते हैं कि गीता पढ़ने और

समझने से धर्म की बातें मालूम पड़ती है, सब प्रकार के ज्ञानों की वृद्धि होती है, सभी शास्त्रों के तत्वों की जानकारी मिलती है, इसलिए गीता सब शास्त्रों में श्रेष्ठ है। गीता की सृष्टि ऐसे समय हुई जब श्रीकृष्ण ने देखा युद्ध के समय अर्जुन अत्यधिक व्याकुल थे, उसी समय भगवान ने अमृतभरे उपदेश दिये, उन्होंने देखा कि अर्जुन के हृदय से क्षत्रियता का भाव समाप्त हो गया था। वह क्षत्रियो के कर्म को भूलकर, रणभूमि से भाग जाना चाहता था। ऐसे अवसर पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देकर उसके अस्थिर मन को शान्त कर पुनः युद्ध के लिए प्रेरित किया, इन उपदेशों को सुख शान्ति में बैठे हुए मनुष्य यदि ध्यान देकर पढ़ें तो इससे उसका ज्ञान अधिक बढ़ जायेगा। धर्म और कर्म के तत्वों को अच्छी तरह से समझ सकेगा। महाभारत की घटना अनुमानतः पाँच हजार वर्ष पूर्व की है। यह घटना पाच हजार वर्ष पूर्व की होते हुए भी आज भी नवीन है। युद्ध के लिए दोनों सेनाओं के बीच जाकर अर्जुन की दशा को देखकर श्रीकृष्ण ने सोचा, यदि इस समय अर्जुन को ब्रह्मज्ञान नहीं कराया तो मोह, शोक से वह घिर जायेगा। यहा सोचकर श्रीकृष्ण भगवान ने समस्त वेदों का सार ब्रह्मज्ञान साधनों सहित अर्जुन को सुनाने लगे। भगवान ने यहां जिस ब्रह्मविद्या का उपदेश देकर अर्जुन की आँखें खोली, और उसे धर्म में लगाया, उसी का नाम 'गीता' है। गीता नामक धर्मग्रन्थ का यही यथार्थ परिचय है।

गीता ज्ञान का भण्डार है। गीता धर्ममयी, सर्वशास्त्रमयी और सब प्रकार के तत्वज्ञानो से भरी हुई है। गीता का एक-एक श्लोक, एक-एक पद, यहां तक कि एक-एक अक्षर भी ज्ञान से शून्य नहीं है। यह योग शास्त्र का विषय है। इसमें एकमात्र ब्रह्मविद्या का निरुपण है। इस ग्रन्थ के सभी श्लोक मंत्र है। सम्पूर्ण गीता ज्ञाननिष्ठता से परिपूर्ण है, ज्ञान निष्ठा ही मोक्ष का कारण है। बिना ज्ञाननिष्ठा से मुक्ति नहीं मिलती है, परन्तु ज्ञाननिष्ठा से पहले उपासना और उपासना के पहिले कर्मयोग या कर्मनिष्ठा की आवश्यकता होती है। अतः कर्म, उपासना, ज्ञान तीनों ही मोक्ष के कारण है। इन तीनों में से किसी एक के बिना काम नहीं चल सकता। तीनों साधनों से मोक्ष की प्राप्ति होती है। उपासना, ज्ञान के बिना, केवल कर्म से काम नहीं चलता है, इसी तरह ज्ञान के बिना केवल कर्म और उपासना से भी काम नहीं चलता। कहने का तात्पर्य है कि तीनों में से एक के न रहने पर शेष दोनों बेकार है। ये सदा एक दूसरे के पूरक है। इन दोनों में भी भेद है कि कर्म करने से अन्तःकरण शुद्ध होता

है और उपासना से चित्त एकाग्र होता है, और ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए गीता के प्रथम छ· अध्यायो में कर्मकाण्ड, दूसरे छः अध्यायों में उपासना का वर्णन और शेष के छ अध्यायो में ज्ञान का वर्णन है। इस तरह 18 अध्यायों और 700 श्लोकों में गीता का वर्णन है। जब मनुष्य कर्मयोग और उपासना का सम्पूर्ण अध्ययन कर लेता है तब ज्ञाननिष्ठा उसका मुख्य ध्येय हो जाती है। जब ज्ञाननिष्ठा का अध्ययन कर लेता है, तब उसके सारे दु.खों का नाश हो जाता है, और उसको परमानंद की प्राप्ति हो जाती है।

जिस तरह वेद में कर्म उपासना और ज्ञान का निरुपण किया जाता है, उसी तरह गीता में भी कर्म, उपासना और ज्ञान का निरुपण किया जाता है। गीता में ऊँच नीच का भेद नहीं है। गीता का मुख्य उपदेश है 'आत्मा सब में समान है' सभी ब्रह्म है और जीव तथा ब्रह्म में भेद नहीं है।' श्रीकृष्ण ने अर्जुन की भलाई के लिए जिस तरह यह ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया, अर्जुन ने जिस भांति इन उपदेशों को ध्यान से समझकर अपना कर्म ठीक से किया। उसी प्रकार महर्षि (व्यास) वेदव्यास ने भी जगत के उपकार के लिए, यह विचार किया कि कुछ दिनों बाद ऐसा समय आयेगा कि लोग वेद को समझ नहीं सकेंगे और ब्रह्मविद्या को भी नहीं जान पायेंगे, इसी को ध्यान में रखकर भगवान के मुख से निकले ब्रह्मज्ञान को यथास्थान रखकर अपने द्वारा रचित महाभारत के 'भीष्मपर्व' में जोड़ दिया और उसका नाम 'भगवद्गीता' रख दिया था। इसमें सन्देह नहीं है कि गीता अलभ्य ग्रन्थ है, इसके समान उपदेश पूर्ण और कोई ग्रन्थ नहीं है। इसके प्रमाण स्वरूप में भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है कि मैं गीता के आश्रय पर ही रहता हूँ, गीता ही मेरा परमोत्तम घर है और मैं गीता के ज्ञान का आश्रय लेकर ही त्रिलोकों का भरण-पोषण करता हूँ[1] और यह जो गीता है स्वयं परब्रह्म रूप चिदानन्द श्रीकृष्ण ने अपने मुख से अर्जुन को सुनायी है, इससे यह वेदत्रयी रूप, कर्मकाण्डमय और सदा आनंद तथा तत्व ज्ञान की देन है।[2] यह गीता का उपदेश एक तीखे नैतिक अर्न्तद्वन्द्व के अवसर पर दिया गया था। इसके उपदेश की नाटकीय परिस्थिति उसे प्रत्येक ईमानदार अन्वेषक और जिज्ञासु के लिए महत्वपूर्ण एवं पठनीय बना देती है। गीता के उपदेशों में समन्वय की भावना है जो अत्यधिक उदार है। उसमें किसी भी धर्म के

---

1. गीता श्रयेऽहतिष्ठिामि, गीतामेचोत्तम गृहम्। गीताज्ञानमुपाश्रिव्य, श्रीलोकान्पालयाम्यहम्।।
2 चिदानन्देन कृष्णेन, प्रोक्ता स्वमुखतोऽर्जुनम्। वेदत्रयी परानन्दा, तत्तवार्थज्ञानसयुत्ता।।

मानने वालों के लिए रोचक एवं महत्वपूर्ण सामग्री मिल सकती है। गीता में साम्प्रदायिकता की प्रवृत्ति नहीं होने से यह सब प्रकार के पाठकों को आकृष्ट करती है। गीता का स्थान विश्व के बडे धर्मग्रन्थों मे है। आज के युग में माना जाता है कि गीता एक असम्प्रदायिक, सभी धर्मो को जोड़ने वाली एक अद्भुत ग्रन्थ के रुप में उभर कर सामने आयी है। जो विश्व के धार्मिक और अधार्मिक विचारधारा के लोगों को आकृष्ट करती है।

गीता उपनिषदों का सार है। गीता ध्यान में इस ग्रन्थ के विषय में लिखा है भगवद्गीता अर्थात् 'भगवान द्वारा गाया उपनिषद्' इससे स्पष्ट है सब उपनिषद मानो गाय है ग्वालों का परम प्रिय श्रीकृष्ण इन गायों को दुहने वाला है, अर्जुन बछड़ा है, इन रस को पीने वाला हर एक व्यक्ति है। यह जिज्ञासु जिस अमृत का पान करता है, वह गीता गौमाता का महान ज्ञानामृत रुपी दूध है।[1] उक्त कथन का अभिप्राय है कि गीता ज्ञानामृत अर्जुन के लिए ही नहीं है, इसकी धारा अमरत्व के हर एक पिपासु के लिए बह रही है। जो इस अमृत का पान करें वही अर्जुन है। गीता में अर्जुन को जो उपदेश दिया है वह प्रधान रुप से भागवत धर्म भगवान द्वारा चलाये हुए धर्म के विषय में ही है।[2] भागवत धर्म का प्रतिपादन वासुदेव कृष्ण ने किया है। श्रीकृष्ण को श्रीभगवान का नाम प्रायः भागवत धर्म में ही मिला है। यह नया उपदेश नहीं है। पूर्वकाल में यह उपदेश भगवान ने विवस्वान् को विवस्वान ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को दिया था। यह बात गीता के चौथे अध्याय के श्लोक में दी गयी है।[3] भागवत धर्म कर्म प्रधान है, इसके अनुसार मोक्ष प्राप्ति ज्ञान, कर्म तथा भक्ति तीनों के द्वारा हो सकती है। भागवत् धर्म के अनुसार ज्ञानमार्ग कठिन मार्ग है, सर्वसाधारण जन के लिए सुलभ नहीं है, कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग की अपेक्षा सरल है, परन्तु सर्वश्रेष्ठ भक्तिमार्ग है। इसका अनुसरण सभी करते हैं, भागवत् धर्म में तप और यज्ञ के स्थान पर भक्ति को प्रधानता दी गयी है और यज्ञ में पशुबलि का निषेध किया गया है। मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्म के बन्धन से

1 सर्वोपनिषदों भावो दोग्धा गोपालनन्दन· । पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।

2 'श्रीमद्भगवद्गीता' रहस्य या कर्मयोग शास्त्र'–
श्री लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक अनुवादक माधव राव सप्रे। सन् 1928, चतुर्थ सस्करण से लिया गया है।

3 इम विवस्वते योग प्रोक्तवानहमव्ययम्। विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।
एव परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदु· । स कालेनेह महता योगो नष्ट· परतप।।
स एवायं मया तेऽद्य योग· प्रोक्तः पुरातन·। भक्तोऽसि में सखा चेति रहस्य ह्येतदुत्तमम्।।
श्रीमद्भगवद्गीता, श्लोक 1, 2, 3 ।

मुक्त होना आवश्यक है। कर्मो के फल से मुक्ति ईश्वर की कृपा द्वारा ही संभव है और ईश्वर की कृपा पाने के लिए ईश्वर भक्ति अति आवश्यक है। सारांश यह है कि उपर्युक्त कथनों से ऐसा लगता है कि गीता में अर्जुन को उपदेश दिया गया है वह विशेष करके मनु इक्ष्वाकु परम्परा से चले आ रहे हैं। भागवत पुराण का भागवत् धर्म और महाभारत का नारायणी धर्म दोनों एक ही है। इसका समर्थन महाभारत में और विशेष करके गीता में किया गया है। व्यास जी जब महाभारत की रचना कर रहे थे, तब भागवत् धर्म की भक्ति को भूल गये थे। गीता व्यास जी द्वारा कृत, उनकी योग्यता, सामर्थ्यता और ज्ञान का प्रतीक है।

स्वामी विवेकानन्द- का कहना है कि "गीता एक उस गुलदस्ते की तरह है जिसमें उपनिषदों के धार्मिक सत्य संग्रहित है।"

एनीबेसेन्ट के अनुसार "महाभारत की अनमोल शिक्षाओं का अमूल्य संग्रह भगवद्गीता में है।"[1]

पं० मदन मोहन मालवीय के कथनानुसार मेरा मानना है कि मानव के सम्पूर्ण इतिहास श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व गहन और अतिमहत्वपूर्ण मानव शक्ति से परिपूर्ण है और संसार की सभी जीवित भाषाओं में भगवद्गीता जैसी सत्य और ज्ञान में पिरोयी हुई सरल पुस्तक विश्व में कोई नहीं है।

इस अति विशिष्ट पुस्तक में 18 अध्याय है जो वेद उपनिषदों के वर्णन से परिपूर्ण है। आज के युग में और आने वाले युग में सम्पूर्ण प्रसंन्नता के मार्ग दर्शक के रूप में प्रसिद्ध है। यह मानव जगत की उच्च्च समृद्धि के लिए त्रियामी ज्ञान, कर्म, सेवा का उपदेश देती है। यह उच्च्तम् ज्ञान, शुद्धत्तम् प्रेम और प्रकाशवान कर्म का बोध मानव को कराती है। यह आत्मसंयम, त्रिआयामी कठोर तपस्या, अहिंसा, सत्य, त्याग, निष्काम कर्म और अधर्म, असत्य के विरुद्ध लड़ाई की शिक्षा देती है।

एम० हिरियन्ना के विचारानुसार लोकप्रियता के सम्बन्ध में गीता, विश्व में भारतीय विचारकों के अनुसार गीता का प्रथम स्थान है। गीता ने उपनिषदों के दायरे में कठोर कार्य

---

1. From Mrs Besant's Pocket Gita: Published by G A Nateson & C O Madras; Tilak. Gita Rahasy, Vol (Tr) B G. Sukthankar; Poona 1935.

का नया दर्शन स्थापित किया। गीता का लक्ष्य धार्मिक जीवन के सम्पूर्ण नीतिशास्त्र का एक अनोखा पहलू यह है कि यह आचारिता सिद्धान्त से मुक्त होकर आत्मनीति की स्वराजिता को महत्व देती है। मूलग्रन्थानुसार, गीता प्रसिद्ध संस्कृत महाकाव्य महाभारत का एक मुख्य अंग है। भीष्म पर्व के 25वें अध्याय से 42वें अध्याय तक है। इसे भारतीय विचारों, संस्कृति, दर्शन का प्रतिनिधित्व करने वाला सर्वलौकिक और सर्वकालिक ग्रन्थ माना जाता है, और जिसे सनातन धर्म कहते हैं।

अगर गीता की प्रशंसा की जाये तो वह कई ग्रन्थों में वर्णित है। तुलनात्मक धर्म के प्रसिद्ध अंग्रेजी विद्वान **जेनर** ने भगवद्गीता के संदेश और स्वर की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। राष्ट्र की मांगों को मन में रखते हुए ही **लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक** ने शंकर के व्याख्यान का खण्डन किया और गीता की नयी कर्म परक व्याख्या की है। गीता की व्याख्या के लिए देश-विदेश में विस्तृत साहित्य की रचना हुई है। अभी ऊपर हमने तिलक और गांधी के कर्मयोग का वर्णन किया, उन दोनों के साथ-साथ स्वामी विवेकानन्द और अरविन्द घोष का भी अधिक महत्व है। **अरविन्द को शब्दों में**- गीता का अध्ययन केवल भाष्य संबंधी या विचार संबंधी सूक्ष्म परीक्षण नहीं है। न ही उसे मन की दौड़ में विश्लेषणात्मक, तत्वमीमांसीय मान सकते हैं। हम इसके समीप सहायता और प्रकाश के लिए जाते हैं और हमारा लक्ष्य इसके आवश्यक और जीवान्त संदेशों में अन्तर करना है जिससे मानवता का उच्च धार्मिक कल्याण हो सके। गीता पर श्री अरविन्द की एक लेखमाला "Essay on the Gita" शीर्षक 'आर्य' पत्रिका है, जो सन् 1916-1920 तक प्रकाशित हुई जिसमें कहा है कि- "गीता नीतिशास्त्र या आचार शास्त्र का ग्रन्थ नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक जीवन का ग्रन्थ है।.... वास्तव में यह ग्रन्थ मूलतः एक योगशास्त्र है और जिस योग का यह उपदेश करता है, उसकी इसमें पद्धति व्यावहारिक है, और जो तात्विक विचार आये है वे इसके योग की व्यावहारिक व्याख्या करने के लिए है।..... इसमें ज्ञान और भक्ति के भवन को कर्म की नींव पर खड़ा किया गया है और कर्म को भी कर्म की जो परिसमाप्ति है उस ज्ञान में ऊपर उठाकर रखा गया है कर्म का पोषक उस भक्ति द्वारा किया गया है जो कर्म का प्राण है और जहां से कर्म उद्भूत होता है।

गीता का क्या तात्पर्य है?

गीता शास्त्र के तात्पर्य के संबंध में सदा इसके समन्वयात्मक दृष्टिकोण को ध्यान में रखना होगा, क्योंकि यही एकमात्र मान्य मापदण्ड है, जो गीताशास्त्र के तात्पर्य को समझने में सहायक है। यहाँ यह कह सकते हैं कि गीता पर लिखे गये भाष्यों की संख्या बहुत अधिक है जिससे इसके तात्पर्य को समझना और मुश्किल हो गया है। इन भाष्यों में गीता का अर्थ स्पष्ट होने के बदले और अधिक दुरुह और दुर्बोध हो गया है। यहाँ अब इसके तात्पर्य को स्पष्ट करना अनिवार्य हो गया है। गीता शास्त्र की रचना हजारों वर्ष पूर्व हुई थी, काल के विषय में भी अनेक मत-मतान्तर है। गीता पर लिखे गये भाष्यों में मुख्य रूप से दो भाष्य उल्लेखनीय है, क्योंकि हिन्दू समाज में ये दो भाष्य, इसकी परम्परा के आधारभूत सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने वाले माने जाते हैं। ये दो भाष्य है-शांकर भाष्य और रामानुज भाष्य। अभी तक देखा गया कि महाभारतकार के अनुसार गीता का क्या तात्पर्य है। कुछ भाष्यकारों और टीकाकारों ने गीता का तात्पर्य निश्चित ही वर्णित किया है। इन भाष्यकारों में आजकल श्री शंकराचार्यकृत गीता-भाष्य अति प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। यद्यपि इसके पूर्व भी गीता पर अनेक भाष्य और टीकायें लिखी जा चुकी है जो इस समय अनुपलब्ध है। इसी कारण से जान नहीं सकते कि महाभारत के रचनाकाल से शंकराचार्य के समय तक गीता का अर्थ किस प्रकार किया जाता था। यद्यपि शांकर भाष्य में इन टीकाकारों का उल्लेख है, उससे साफ मालूम होता है कि शंकराचार्य के पूर्वकालीन टीकाकारों ने गीता का अर्थ, महाभारतकर्ता के अनुसार ही ज्ञानकर्म समुच्चय के आधार पर किया है अर्थात् उसका यह प्रवृत्ति विषयक अर्थ लगाया जाता था कि, ज्ञानी मनुष्य को ज्ञान के साथ-साथ मृत्यु पर्यन्त स्वधर्म विहित कर्म करना चाहिए। परन्तु वैदिक कर्मयोग का यह सिद्धान्त शंकराचार्य को मान्य नहीं था, इसलिए उसका खण्डन करने और अपने मत के अनुसार गीता का तात्पर्य बताने के लिए उन्होंने **'गीता रहस्य'** की रचना की है। यहां 'भाष्य' और 'टीका' का बहुधा समानार्थी अर्थ में प्रयोग किया गया है। टीका मूल ग्रन्थ के सरल अन्वय और इसके सुगम अर्थ करने को कहते हैं। परन्तु गीता के तात्पर्य के विवेचन में शंकराचार्य ने जो भेद किया है, उसके पूर्व इतिहास की संक्षिप्त जानकारी अति आवश्यक है।

वैदिक धर्म केवल तान्त्रिक धर्म नहीं है, उसके गूढ़ तत्वों का विवेचन उपनिषदों से प्रारंभ हो गया था। परन्तु इन उपनिषदों को भिन्न-भिन्न ऋषियों ने एक समय पर नहीं बनाया, कारणवश उनमें विचार विभिन्नताएं आ गयी। इस विचार विरोध को समाप्त करने के लिए ही बादरायणाचार्य ने अपने वेदान्तसूत्रों में सब उपनिषदों की विचारैक्यता कर दी है, इसी कारण वेदान्तसूत्रों भी उपनिषदों के समान प्रमाण माने जाते हैं। इन्हीं वेदान्तसूत्रों का दूसरा नाम **'ब्रह्मसूत्र'** है। यद्यपि वैदिक कर्म के तत्वज्ञान का पूर्ण विचार इतने से नहीं हो सकता क्योंकि उपनिषदों का ज्ञान निवृत्ति विषयक या वैराग्य विषयक है। भगवद्‌गीता में प्रवृत्तिविषयक विचार किया गया है। अन्त में उपनिषदों, वेदान्त सूत्रों, और भगवद्‌गीता का 'प्रस्थानत्रयी' नाम पड़ा। प्रस्थानत्रयी का अर्थ है कि उसमें वैदिक धर्म के आधारभूत तीन मुख्य ग्रन्थ है, जिनमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों का नियमानुसार तथा तात्विक विवेचन किया गया है। इस प्रकार प्रस्थानत्रयी में गीता को गिने जाने पर और दिनों दिन प्रस्थानत्रयी का प्रचार होने से वैदिक धर्म के लोग उन मतों और सम्प्रदायों को गौण मानने लगे, जिनका समावेश इन तीनों ग्रन्थों में नहीं किया जा सका। परिणाम स्वरूप बौद्धधर्म के पतन के बाद वैदिक धर्म के अद्वैत, विशिष्ट द्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय हिन्दुस्तान में प्रचलित हुए। इन सम्प्रदायों के प्रवर्तक आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी के तीनों भागों अर्थात् भगवद्‌गीता पर भाष्य लिखे। ऐसा करके उन्होंने यह दिखाने का प्रयास किया कि उन्हीं तीन धर्मग्रन्थों पर हमारे सारे सम्प्रदाय स्थापित हुए है। आज गीता पर जितने भी भाष्य एवं टीकायें लिखी गयी है, वे सभी साम्प्रदायिक रीति से लिखी गयी है। इसका परिणाम यह हुआ कि मूल गीता पर एक ही अर्थ सुबोध रीति से प्रतिपादित हुआ है, और साथ ही गीता अन्य सम्प्रदायों की समर्थक समझी जाने लगी है।

इन सम्प्रदायों में शंकराचार्य का सम्प्रदाय अति प्राचीन है और तत्वज्ञान की दृष्टि से भारत में सर्वमान्य भी है। श्रीमदाघशंकराचार्य का जन्म संवत् 845 में हुआ। शंकराचार्य बड़े भारी और अलौकिक विद्वान एवं ज्ञानी थे। इन्होंने अपनी दिव्य अलौकिक शक्ति से उस समय फैले हुए जैन बौद्ध मतों का खंडन कर, अपना अद्वैत मत स्थापित किया; श्रुति-स्मृति विहित वैदिक धर्म की रक्षा के लिए, भरतखण्ड की चारों दिशाओं में चार मठ बनवाकर सन्यास धर्म को कलियुग में प्रारंभ किया। आचार्य शंकर ने अपने गीता भाष्य में तत्वज्ञान के

रूप में अद्वैत वेदान्त और आचार शास्त्र के रूप में सन्यास प्रधान ज्ञान योग का प्रतिपादन किया है। आचार्य शंकर ने अपने आचार-शास्त्र के आधारभूत तत्वज्ञान में निर्गुण ब्रह्मवाद, जगन्मिथ्यात्ववाद, ब्रह्मात्मैक्यवाद तथा निर्गुणौत्मवाद को प्रतिष्ठापित किया है। मायावाद, अद्वैत, सन्यास का प्रतिपादन करने के ढाई सौ वर्ष बाद, श्री रामानुजाचार्य ने 'विशिष्ट द्वैत' सम्प्रदाय चलाया। अपने सम्प्रदाय को पुष्ट करने के लिए उन्होंने भी, शंकराचार्य के समान प्रस्थानत्रयी पर (और गीता पर भी) भाष्य लिखे हैं। शंकर के अनुसार आत्मा और परब्रह्म की एकता का पूर्ण ज्ञान, अर्थात् अनुभव सिद्धि पहचान, बिना मोक्ष के नहीं हो सकती, इसी को 'अद्वैतवाद' कहते हैं। परन्तु इस सम्प्रदाय का मत यह है कि शंकराचार्य का माया मिथ्यावाद और अद्वैत सिद्धान्त दोनों झूठ हैं। जीव, जगत और ईश्वर ये तीनों तत्व भिन्न है तथापि जीव (चित्) और जगत् (अचित्) ये दोनों एक ही ईश्वर का शरीर है, इसलिए चिद्चिद्वशिष्ट ईश्वर एक ही है। इसी से जीव जगत की उत्पत्ति हुई है। रामानुजाचार्य का यही कथन उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता में भी प्रतिपादित है। यहां पर रामानुजाचार्य ने यह निर्णय लिया कि गीता में यद्यपि ज्ञान, कर्म, भक्ति का वर्णन है तथापि तत्वज्ञान की दृष्टि से विशिष्ट द्वैत और आचार दृष्टि से वासुदेव भक्ति ही गीता का सारांश है और कर्मनिष्ठा कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं वह केवल ज्ञाननिष्ठा की उत्पादक है। माया को मिथ्या कहकर इस सम्प्रदाय को झूठा मानकर वासुदेव भक्ति को सच्चा मोक्ष साधन बताकर रामानुज सम्प्रदाय के बाद एक तीसरा सम्प्रदाय निकला। उनका मत था कि परब्रह्म और जीव को कुछ अंशों में एक और कुछ अंशों में भिन्न मानना चाहिए, क्योंकि इन दोनों में पूर्ण अथवा अपूर्ण रीति से एकता नहीं हो सकती। इस तीसरे सम्प्रदाय को 'द्वैत सम्प्रदाय' कहते हैं। इस सम्प्रदाय के लोगों का कहना है कि इसके प्रवर्तक श्रीमध्वाचार्य (श्रीमदानदतीर्थ) थे। प्रस्थानत्रयी पर (अर्थात् गीता पर) श्रीमाध्वाचार्य के जो भाष्य है, उनमें प्रस्थानत्रयी के सब ग्रन्थों का द्वैत मत प्रतिपादक होना ही बतलाया गया है। गीता के अपने भाष्य पर श्रीमाध्वाचार्य कहते हैं कि यद्यपि गीता पर निष्काम कर्म के महत्व का वर्णन है, तथापि वह केवल साधन है और भक्ति ही अंतिम निष्ठा है। भक्ति की सिद्धि हो जाने पर कर्म करना या न करना बराबर है। यहां गीता के कुछ सिद्धान्त विपरीत है, ऐसे वचनों को सत्य नहीं समझ कर, अर्थवादात्मक समझना चाहिए। अन्य सम्प्रदाय श्रीबल्लभाचार्य जी का है। रामानुज और माध्वसम्प्रदाय के

समान वैष्णवपथी है। परन्तु जीव, जगत, ईश्वर के सबध मे इस सम्प्रदाय का मत, विशिष्टाद्वैत और द्वैत मतों से भिन्न है। इस मत को मानते हैं कि माया रहित शुद्ध जीव और परब्रह्म ही एक वस्तु है दो नहीं। इसलिए इस सम्प्रदाय को 'शुद्धाद्वैत' कहते है। यह शंकराचार्य के समान जीव और ब्रह्म को एक नहीं मानता। इसके सिद्धान्त के अनुसार जीव अग्नि की चिनगारी के समान है। ईश्वर का अंश है, मायात्मक जगत मिथ्या नहीं है, माया परमेश्वर की इच्छा से विभक्त हुई, एक शक्ति है, मायाधीन जीव को बिना ईश्वर की कृपा के मोक्षज्ञान नहीं मिल सकता, इसलिए मोक्ष का मुख्य साधन भगवद् भक्ति ही है। जिसमें यह सम्प्रदाय शांकर सम्प्रदाय से भिन्न हो गया। इस मार्ग को मानने वाले परमेश्वर के अनुग्रह को 'पुष्टि' और 'पोषण' भी कहते हैं जिसमें यह पथ 'पुष्टि मार्ग' कहलाता है। गीता की सबसे प्राचीन उपलब्ध व्याख्या शकराचार्य का भाष्य है। महत्व की दृष्टि से पुराने टीकाकारों में दूसरा स्थान रामानुजाचार्य का है। उक्त दोनों भाष्यों पर आनन्दगिरि और वेंकटनाथ ने टीकायें लिखी है। अन्य व्याख्याओं में आनन्दतीर्थ कृत (माध्व) भाष्य, जिस पर जयतीर्थ मुनि की टीका है, श्री हनुमत्कृत 'पैशाच भाष्य' बल्लभानुयायी श्री पुरुषोत्तम जी कृत 'अमृतरंगिणी' श्रीमधुसूदन कृत 'गूढ़ार्थदीपिका', श्रीधर स्वामी कृत 'सुबोधिनी' आदि प्रसिद्ध हैं यूरोपी ईसाई व्याख्याताओं में रयूडॉल्फ ऑटो और जेन आर०सी० के नाम उल्लेखनीय है।

गीता की समन्वय दृष्टि

भारतवर्ष के धार्मिक दार्शनिक साहित्य में गीता का अत्यधिक एवं अतिरिक्त महत्व है, उसका प्रमुख कारण समन्वय दृष्टि है। इसका अपना ऐतिहासिक महत्व है। उपनिषद् युग के बाद शताब्दियों पर यदि दृष्टि डाले तो पता चलता है कि उस समय भारत में कई तरह के वादो और सिद्धान्तों की प्रचुरता थी। सिद्धान्तों की विधिता, परम्परा के समर्थकों और उसके समीक्षकों दोनों तरह के विचारकों में पायी जाती थी। 'श्वताश्वर' और 'मैत्री' जैसे बाद के उपनिषदों एवं 'महाभारत' में तरह काल्पनिक दर्शन, बृहस्पति दर्शन, कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद आदि। पांचरात्र सम्प्रदाय में बत्तीस तन्त्रों का जिक्र है। जैसेः ब्रह्मतन्त्र, पुरुषतन्त्र, शक्तितन्त्र, नियतितन्त्र, कालतन्त्र, गुणतन्त्र, अक्षरतन्त्र, प्राणतन्त्र, कृर्ततन्त्र, ज्ञानतन्त्र, क्रियातन्त्र, भूततन्त्र आदि। आस्तिक विचारकों के आपसी मतभेद सदैव नास्तिक विचार और चिन्तन को प्रोत्साहन देते हैं। यदि सत्य एक है और वह धर्मग्रन्थों में उपलब्ध

है, तो विभिन्न आस्तिक विचार और चिन्तन को प्रोत्साहन देते है। यदि सत्य एक है और वह धर्मग्रन्थों में उपलब्ध है तो विभिन्न आस्तिक विचारकों और व्याख्याताओं में मतभेद क्यों है? आस्तिक के बीच मतभेद की स्थित तरह-तरह की नास्तिक विचारधाराओं को जन्म देती है। भगवद्गीता के रूप में आस्तिक हिन्दू धर्म और दर्शन ने यह प्रयत्न किया कि भिन्न-भिन्न मतों और मार्गों का एक सशक्त समन्वय प्रस्तुत करें। जबकि गीता का विशेष महत्व विभिन्न मोक्ष मार्गों के बीच समन्वय की स्थापना से है। वहाँ उसका तत्व दर्शन भी निगुण-सगुण ब्रह्म सांख्य के प्रकृतिवाद, प्राचीन उपनिषदों के ब्रह्मवाद और बाद की उपनिषदों के ईश्वरवाद का समन्वय प्रस्तुत करने की दृष्टि से नगण्य नहीं है।

द्वितीय अध्याय

गीता की तत्वमीमांसा

द्वितीय अध्याय

गीता की तत्वमीमांसा

गीता का तत्व दर्शन

गीता में वर्णित विश्वतत्व संबंधी विचारों पर सांख्य, उपनिषदों की अमिट छाप है। गीता और उपनिषदों में अनेक समानताओं के साथ-साथ मुख्य भेद भी है। जहां उपनिषदों में ब्रह्म के निगुण रूप को प्रधानता दी गयी है, वहीं गीता में सगुण ब्रह्म को श्रेष्ठ बताया है। परन्तु ऐसी मान्यता नहीं है कि गीता केवल सगुण स्वरूप को मानती है, वह ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप को भी मानती है। 'सारी विभक्त वस्तुओं में जो अविभक्त होकर वर्तमान है, जिसे न सत् कहा जा सकता है, न असत्, जो सूक्ष्म एवं दुर्जेय है, जो ज्योतियों की भी ज्योति है एवं अंधकार से परे है, जो ज्ञाता और ज्ञेय है।' इस तरह के ब्रह्म का वर्णन गीता में है। इस प्रकार के ब्रह्म का वर्णन करने से गीता कभी नहीं सकुचाती है परन्तु गीता का अनुराग सगुण ब्रह्म में अधिक है जिससे ब्रह्मसूत्र के शब्दों में, सारे जगत की उत्पत्ति एवं स्थिति होती है, और प्रलयकाल में समस्त संसार में लय हो जाता है। गीता का मुख्य दार्शनिक सिद्धान्त है कि 'जो असत् है उसका कभी भाव नहीं हो सकता, और जो सत् है उसक कभी अभाव नहीं हो सकता।[1] सत् वही है जो त्रिकालबाधित हो, अर्थात् जो भूत, वर्तमान, भविष्य तीनों कालों में सदा नित्य और अपरिवर्तनशील रहें। यह लक्षण **आत्म तत्व या ब्रह्म** का है, इसलिए ब्रह्म एकमात्र 'सत्' है। गीता में आत्मतत्व को नित्य, अविनाशी, अज, अव्यय, अचल, सनातन, अव्यक्त, अचित्य आदि कहा गया है। शरीर नश्वर है आत्मा नित्य है, अतः आत्मा शरीर के नष्ट हो जाने के बाद भी जीवित रहती है। जिस प्रकार व्यक्ति पुराने शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण कर लेता है उसी प्रकार आत्मा भी पुराने शरीर को वस्त्र की तरह त्याग कर नया शरीर धारण कर लेती है।[2] "संसार के अन्दर दो सत्व है, क्षर और अक्षर। अपरिवर्तनशील अक्षर है।"[3] यहां पर हम यह नहीं कह सकते कि अपरिवर्तनशील

---

1. नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः।। गीता-2, श्लोक-16
2. वासांसि जीर्णाति यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
   तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि सयति नवानि देही। श्रमद्भवगद्गीता-2-22
3. द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षर सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।। गीता- 15-16

जिसका यहां वर्णन है, सर्वोपरि यथार्थ सत्ता है क्योंकि अगले ही श्लोक में गीता में कहा गया है ''सर्वोपरि सत्ता दूसरी ही है जिसे सर्वोच्च आत्मा अर्थात् परमात्मा कहते हैं, जो अक्षय भगवान, तीनों लोकों में व्याप्त है, और उन्हें धारण किये हुए हैं।[1] गीता का रचयिता पहले संसार की स्थायी पृष्टभूमि को उसके क्षणिक व्यक्तरूपों से भिन्न करके बतलाता है अर्थात् वह प्रकृति है जो परिवर्तनों से पृथक् है। इस आनुभविक लोक में हमें नश्वर और स्थायी दोनों पक्ष मिलते हैं। संसार के परिवर्तनों की तुलना में प्रकृति नित्य है तो भी निरपेक्ष रूप से यथार्थ नहीं है, क्योंकि इसका आधार भी सर्वोपरि जगत् का स्वामी है।[2] रामानुज अपने विशेष सिद्धान्त की अनुकूलता को ध्यान में रखकर 'क्षर' का अर्थ प्रकृति तत्व और 'अक्षर' का अर्थ जीवात्मा करते हैं, फिर भी पुरुषोत्तम अथवा सर्वोपरि आत्मा को इन दोनों से श्रेष्ठ बताते हैं। गीता का पुरुषोत्तम सगुण ब्रह्म या भगवान है। वेद, वेदान्त और दर्शन के परम तत्व से गीता का पुरुषोत्तम भिन्न है। इस पुरुषोत्तम की दो प्रकृतियां है अपरा और परा। 'अपरा प्रकृति' को 'क्षेत्र' और 'क्षर पुरुष' भी कहते है। (जिसको अधिभूत, क्षेत्र, अश्वत्थ भी कहते है) यह जड़ प्रकृति है जिसके भीतर समस्त भौतिक पदार्थ विद्यमान रहते हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार, ये आठ भगवान की 'अपरा प्रकृति' है।

क्षर पुरुष 'अपरा प्रकृति' है तो अक्षर पुरुष उसकी 'परा प्रकृति' है जिसे 'अध्यात्मा', पुरुष', और 'क्षेत्रज्ञ' भी कहते हैं। परा प्रकृति हीजीव रुप या चैतन्य स्वरुप है, जो जगत को धारण करती है। अपरा प्रकृति वास्तव में सांख्य की मूल प्रकृति और श्वेताश्वर की माया है। अपरा प्रकृति जड़ और परा प्रकृति चेतन है। इन दोनों जड़ चेतन के सयोग से ही जगत की उत्पत्ति हुई है।

किन्तु गीता की यह सांख्य रुपी जो क्रिया है, वह सांख्य और वेदान्त से भिन्न है। सांख्य दर्शन में प्रकृति पुरुष को विपरीत धर्म वाले दो तत्व माना है। वेदान्त में व्यावहारिक दृष्टि से प्रकृति-पुरुष की यही सत्ता मानी गयी है, किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से वेदान्त

---

1. उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।। गीता 15-17
2. यह कहा जाता है कि ' एक और सत्ता है जो अव्यक्त ओर नित्य है, और इस अव्यक्त तत्व से भिन्न है जिसका अन्य सब वस्तुओं का नाश होने पर नाश नहीं होता।' (8-20)

प्रकृति-पुरुष के भेद को मायामय कहकर एक ही ब्रह्म को मानताहै। सांख्य और वेदान्त की अपेक्षा 'गीता' के प्रकृति पुरुष में भिन्नता है। यद्यपि गीतानुसार प्रकृति पुरुष के संयोग से ही जगत की उत्पत्ति हुई है, किन्तु वे दोनों दो नहीं, अपितु एक ही है।[1] गीता के अनुसार प्रकृति और पुरुष परमात्मा नहीं है, बल्कि वे एक मूल तत्व के प्रकाशक मात्र है। भगवान की प्रकृति जगत को बताया गया है इसलिए यह जगत भगवान का विर्वत्त और परिणाम न होकर उसमें भगवान व्याप्तहै। यह जगत ही भगवान का क्रिड़ा क्षेत्र है। श्रीकृष्ण ही पुरुषोत्तम है। इस क्षर और अक्षर पुरुष के ऊपर उत्तम पुरुष या 'पुरुषोत्तम' है। किन्तु जगत की अपेक्षा भगवान व्यापक है। जगत केवल उसका अंशमात्र है। वह अनन्त, अखण्ड, असीम और अजेय है। गीता के सातवें, आठवें, दसवें और ग्यारवें अध्यायों में अक्षर ब्रह्म पुरुषोत्तम की शक्तियों, स्वरुपों और लीलाओं का विशद चित्रण है। ये पुरुषोत्तम स्वयं श्रीकृष्ण ही है, क्योंकि गीता में उन्होंने स्थान-स्थान पर उत्तम पुरुष के रुप में अपनी विभूतियों की अभिव्यक्ति की है।

गीता में जो पुरुषोत्तम का वर्णन है उससे स्वयं भगवान श्रीकृष्ण का संबंध है। जो निर्गुण, निराकार, सगुण, साकार सभी है। प्रकृति जन्य गुणों का अभाव होने पर वे 'निर्गुण' है और लीलामय होने से वह 'सगुण' है। गीता का पुरुषोत्तम यद्यपि अखण्ड तत्व है, किन्तु अपनी लीलाशक्ति प्रकृति के द्वारा उन्होंने अनेकों रुपों में प्रस्तुत की है। गीता में प्रकृति को 'महद्ब्रह्म' भी कहते हैं, जो सम्पूर्ण विश्व की योनि (कारण) हैं। भगवान इसमें स्वयं बीजारोपण करते हैं।[2] यह प्रकृति तीन गुणों वाली है। सत्व, रजु, तमस, तीन गुण है, जो प्रकृति के भौतिक, मानसिक, व्यावहारिक क्षेत्रों में व्याप्त है। इन्हीं सात्विक, राजसिक, तामसिक भेदों से भोजन तीन प्रकार का होता है और श्रद्धा भी तीन प्रकार की होती है। यज्ञ, दान, तप आदि कर्म भी तीन प्रकार के होते हैं। प्रकृति के ये गुण ही हमारे कर्मो के लिए उत्तरदायी है। वास्तव में करने वाली तो प्रकृति ही है। परन्तुअहंकारवश हम अपने को कर्त्ता मानते हैं। यही निर्गुण और सगुण ही एकत्व और अनेकत्व है। एकत्व ब्रह्मरुप में और अनेकत्व उसके प्रकृति रुप में।

---

1. डॉ0 देवराज " भारतीय दर्शन" पेज नं0- 95-97
2. सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः। तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।। श्रीमद् भगवद्गीता 14-3

क्षर और अक्षर

यह क्षर लीलामय स्वरुप, जो भगवान की परमा प्रकृति है। अपने आनंद के लिए उन्होंने प्रकृति के द्वारा अपने को नाना रुपों में प्रकट किया है। यदि भगवान की इस जीवलीला या विश्वलीला को देखा जाये तो ज्ञात होता है कि वे अनेक है, सुखी-दुःखी है, जन्म-मृत्यु के वश में है और असीम है। यह भगवान की एक महत्वपूर्ण अवस्था है, जिसे भगवान का 'क्षर' (नाशवान) रुप कहते है या दूसरे शब्दों में सब भूतों को क्षर कहते हैं। क्षर रुप भगवान अपने भक्तों के लिए धारण करते हैं। किन्तु एक और रुप है जो इस क्षर रुप से बढ़कर है, जिसे 'अक्षर' (अविनाशी) कहते हैं। जो सब भूतों के नाश हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता, जो अव्यक्त और अविनाशी, सनातन है। कूटस्थ को अक्षर कहते है। इस अवस्था या रुप में भगवान प्रकृति से सर्वथा अलग रहता है। इस अवस्था में भगवान, दृष्टा, उदासीन, विमुक्त और स्वाधीन होते हैं।

संक्षेप में भगवान के उक्त दोनों रुपों को कहा जाये, तो बद्ध जीव की अवस्था का नाम 'क्षर' और शान्त, निर्गुण ब्रह्म की अवस्था का नाम 'अक्षर' है। ये तत्व सांख्य की प्रकृति और पुरुष के समान जान पड़ते है। रामानुज क्षर और अक्षर का अर्थ बद्ध और मुक्त जीव से करते हैं और शंकराचार्य ने क्षर का अर्थ माया शक्ति बताया है। गीता में भगवान के इस क्षर और अक्षर रुपों का वर्णन हुआ है किन्तु इन दोनों रुपों के अतिरिक्त भगवान का एक तीसरा रुप भी है, जो उक्त दोनों रुपों से श्रेष्ठ और सर्वोच्च है। इसके अन्दर क्षर और अक्षर दोनों समा जाते हैं। भगवान के उस रुप को **'पुरुषोत्तम'** या उत्तम पुरुष या परमात्मा कहते हैं। यह अवस्था भगवान की निर्गुण और सगुण दोनों अवस्था से संयुक्त हैं। क्षर के रुप में भगवान विश्वलीला में एकाकार है, अक्षर रुप में वे अपना ही लीलारुप देख रहे हैं। पुरुषोत्तम रुप में प्रकृति को स्वयं परिचालित कर तीनों लोकों को व्याप्त कर उसका भरण-पोषण कर रहे हैं। भगवान या पुरुषोत्तम ही संसार की सब वस्तुओं का एकमात्र अवलम्बन है। सब कुछ इसी में पिरोया है (मयि सर्वमिदं प्रोतमः), उन्हीं से सब कुछ प्रवर्तित होता है (मत्तः सर्वम् प्रवर्तते) दसवें, सातवें और नवें अध्यायों में कुछ स्थलों में भगवान की विभूतियों का वर्णन है। संसार के सत्-असत् सभी पदार्थ भगवान ही है। 'पृथ्वी में मैं गंध हूँ, और सूर्य चन्द्रमा में प्रकाश, मैं सब भूतों का जीवन हूँ और तपस्वियों का तप

हूँ।[1] 'मैं ही ऋतु हूँ, मैं ही यज्ञ हूँ, मैं ही स्वधा हूँ, मैं ही औषधियाँ हूँ, मंत्र, आज्य, अग्नि, द्रव्य आदि पदार्थ मैं ही हूँ। संसार की गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास स्थान, सुहृद, उत्पत्ति प्रलय, आधार और अविनाशी बीज मैं ही हूँ।'[2] 'मैं सब भूतों के भीतर स्थित हूँ, मैं उनका आदि, अन्त और मध्य हूँ। आदित्यों में मैं विष्णु हूँ, ज्योतियों में सूर्य, मरुद्गणों में मारीचि, और नक्षत्रों में चन्द्रमा। अक्षरों में 'अकार' समासों में द्वन्द्व। मैं अक्षय काल हूँ, मैं सबको धारण करने वाला विश्वतोमुख हूँ। सबका हरण करने वाली मृत्यु हूँ मैं भविष्य के पदार्थों की उत्पत्ति हूँ। मैं स्त्रियों की कीर्ति श्री वाणी, स्मृति, बुद्धि, धैर्य और सहनशीलता हूँ।'[3]

इस तरह से अपने तीनों स्वरुपों को गीता में भगवान ने स्वयं ही समझाया है। इस संसार में क्षर (नाशवान) और अक्षर (अविनाशी) दो तरह के पुरुष है। उनमें सम्पूर्ण भूत समुदाय क्षर और कूटस्थ जीवात्मा अक्षर कहलाता है। उत्तम पुरुष या पुरुषोत्तम दोनों से भिन्न है, जो परमात्मा है। इसलिए वेद और लोक में मैं पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हैं। ग्यारहवें अध्याय में विश्व रुप दिखलाकर भगवान् ने अर्जुन को अपनी विभूतियों और संसार का अपने अपर अवलम्बित होने का प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया। साथ ही उन्होंने अर्जुन को यह उपदेश दिया कि अपने को भगवान के ऊपर छोड़कर उन्हीं की उद्देश्य की पूर्ति के लिए कर्म करना चाहिए। इस तरह से गीता ने अपने तत्वदर्शन में सांख्यों के प्रतिवाद, उपनिषदों के ब्रह्मवाद और भागवतों के ईश्वरवाद का वर्णन कर, इन्हीं तीनों को समन्वित कर दिया।

भगवान से गीता सुनने के बाद अर्जुन ने श्रीकृष्ण को परम ब्रह्म स्वीकार कर लिया। प्रत्येक जीव ब्रह्म है, लेकिन परम जीव भगवान परम ब्रह्म है। परमधाम का अर्थ है कि वे सबों के परम आश्रय या धाम है, पवित्रम् का अर्थ है कि वे शुद्ध है और भौतिक कल्मष से अरंजित है। पुरुषम् का अर्थ है वह परम भोक्ता है, शाश्वत् अर्थात् आदि, सनातन, दिव्यम्,

---

1 पुण्योगन्ध. पृथिव्या च तेजश्चास्मि विभावसौ। जीवन सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।। श्रीमद्भगवद्गीता- 7-9

2. अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्। मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।।
गतिर्भर्ता प्रभु· साक्षी निवास शरण सुहृत्। प्रभव· प्रलय. स्थान निधान बीज भव्ययम्।। श्रीमद् भगवद्गीता, 9-16, 18

3. अहयात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः । अहमादिश्च मध्य च भूतानामत्त एव च।।
आदित्यानामह विपणुर्ज्योतिषा रविरशुमान्। मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं राशी।। 10-20, 21
अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च। अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः।।
मृत्यु सर्वहरश्चाहमुद्भवक्ष भविष्यताम्। कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेघा घृतिः क्षमा।।
श्रीमद् भगवद्गीता 10-20, 21, 33, 34.

अर्थात् दिव्य आदि देवम् भगवान अजम् अजन्मा, त्रिभुव अर्थात् महानतम्।[1] अतएव भगवद्गीता को भक्तिभाव से ग्रहण करना चाहिए। किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि वह श्रीकृष्ण के तुल्य हैं, न ही यह सोचना चाहिए कि कृष्ण सामान्य पुरुष है या महानतम् व्यक्ति है। श्रीकृष्ण भगवान तो साक्षात् पुरुषोत्तम भगवान है। श्रीमद् भगवद्गीता को समझने का प्रयत्न करने वाले व्यक्ति अर्जुन को यह समझ लेना चाहिए कि गीता में श्रीकृष्ण भगवान है और इसी विनीत भाव से गीता को समझ सकेंगे। तो भगवद्गीता क्या है?

भगवद्गीता का प्रयोजन मनुष्य को संसार के अज्ञान से उबारना है। प्रत्येक व्यक्ति अनेक प्रकार की कठिनाइयों में फंसा रहता है, जिस प्रकार अर्जुन भी कुरुक्षेत्र के युद्ध में युद्ध करने के लिए कठिनाई में था। अर्जुन ने श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण की थी। जिसके उपरान्त गीता का प्रवचन हुआ। न केवल अर्जुन वरन् इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति चिन्ताओं से परिपूर्ण है। हमारा अस्तित्व ही अनस्तित्व के परिवेश में है। वस्तुतः हमें अनस्तित्व से भयभीत नहीं होना चाहिए। हमारा अस्तित्व सनातन है।

कष्ट भोगने वाले मनुष्यों में केवल कुछ ही ऐसे हैं, जो वास्तव में यह जानने के लिए जिज्ञासु है कि वे क्या है, वे इस विषम स्थिति में क्यों डाल दिये गये हैं आदि-आदि। जब तक मनुष्यों को अपने कष्टों के विषय में जिज्ञासा नहीं होती, जब तक उसे यह अनुभूति नहीं होती कि वह कष्ट भोगना नहीं चाहता, अपितु कष्टों का हल ढूढ़ना चाहता है, तब तक उसे पूर्ण मानव नहीं समझना चाहिए। मानवता तभी शुरू होती है जब मन में इस तरह की भावना उदित होती है। 'ब्रह्मसूत्र' में इस तरह की जिज्ञासा को 'ब्रह्मजिज्ञासा' कहा गया है। अर्थात् **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'**। मनुष्य के सारे कार्यकलाप तब तक असफल माने जाते हैं, जब तक वह ब्रह्म की प्राप्ति के विषय में जिज्ञासा न करें।

श्रीमद् भगवद्गीता की विषय वस्तु में पांच मूल सत्यों की धारणा निधि है। सर्वप्रथम ईश्वर विज्ञान की और फिर जीवों के स्वरुप की विवेचना की गयी है। ईश्वर का अर्थ नियन्ता है और जीवों का अर्थ है नियंत्रित। यदि जीव यह कहे कि वह नियंत्रित नहीं है, अपितु स्वतंत्र है, तो समझो वह उन्मादी है। जीव सभी प्रकार से कम से कम बद्ध जीवन

---

1. अर्जुन उवाच, परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भगवान्। पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विमुम।।
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा। असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषिमे।। श्रीमद् भगवद्गीता 10-12, 13

में, तो नियंत्रित है ही। अतएव भगवद्गीता की विषयवस्तु ईश्वर तथा जीव से संबंधित है। इसमें प्रकृति, काल, तथा कर्म की भी व्याख्या है। भगवद्गीता से हमें केवल इतना अवश्य सीख लेना चाहिए कि ईश्वर क्या है, जीव क्या है, प्रकृति क्या है, दृश्य जगत क्या है, यह काल से कैसे नियंत्रित होता है? भगवान् अथवा कृष्ण अथवा ब्रह्म या परमात्मा आप चाहे जो कहे सबसे श्रेष्ठ है। जीव गुण में परम नियन्ता के ही समान है। उदाहरणार्थ जैसा कि भगवद्गीता के विभिन्न अध्यायों में बताया गया है भगवान भौतिक प्रकृति के समस्त कार्यों के ऊपर नियन्त्रण रखते हैं। भौतिक प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है। वह परमेश्वर की अध्यक्षता में कार्य करती है। जब हम दृश्य जगत् में विचित्र-विचित्र बातें करते या घटते देखते हैं, तो हमें यह जानना चाहिए कि इस जगत के पीछे नियन्ता का हाथ है। बिना नियन्त्रण के कुछ भी हो पाना संभव नहीं है। उदाहरण- एक बालक सोच सकता है कि स्वतोचालित यान विचित्र हो सकता है, क्योंकि यह बिना घोड़े के या खींचने वाले पशु से चलता है किन्तु अभिज्ञ व्यक्ति स्वतोचालित यान की अभिव्यक्ति अभियात्रिकी कुशलता से करता है। वह सदैव जानता है कि इस यन्त्र के पीछे एक व्यक्ति चालक होता है। इसी प्रकार परमेश्वर वह चालक है, जिसके निर्देशन में प्रत्येक व्यक्ति कर्म कर रहा है। भगवान ने जीवों को अपने अंश रुप में स्वीकार कर लिया है। सोने का कण भी सोना है, समुद्र को जल की बूंद भी खारी लगती है। इसी प्रकार हम जीव भी परम नियंता ईश्वर के अंश होने के कारण सूक्ष्म मात्रा में परमेश्वर के सभी गुणों से युक्त है, क्योंकि हम सूक्ष्म ईश्वर के आधीन है।

भौतिक प्रकृति क्या है? इसकी व्याख्या गीता के सांतवे अध्याय में की गयी है। यहां भगवान बोले, हे पार्थ! अनन्य प्रेम से मुझमें आसाक्तचित्त तथा अनन्य भाव से मेरे परायण होकर योग में लगा हुआ, तू जिस प्रकार से सम्पूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्यादि गुणों से युक्त, सबके आत्म रुप मुझको संशय रहित जानेगा, उसको मुझसे सुनो।[1] मैं तेरे लिए इस विज्ञान सहित तत्वज्ञान को सम्पूर्णतया कहूँगा, जिसको जानकर संसार में तेरे लिए कुछ भी जानने को नहीं रहेगा। गीता में इस भौतिक प्रकृति की व्याख्या अपरा प्रकृति के रुप में हुई है। जीव को परा प्रकृति (उत्कृष्ट प्रकृति) कहा गया है। प्रकृति चाहे परा हो या अपरा सदैव नियन्त्रण में रहती (आधीन) है। "पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार, इस प्रकार

1. श्रीभगवानुवाच-
मय्यासक्तमना. पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः। असंशयं समग्रं मा यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।।
ज्ञान तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः। यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।। श्रीमद् भगवद्गीता- 7-1, 2.

यह आठ प्रकार के भेद है, जो अपरा प्रकृति अर्थात् मेरी जड़ प्रकृति है। हे महाबाहो इससे दूसरे को, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है, मेरी, जीव रुपा परा प्रकृति अर्थात् चेतन प्रकृति है।"[1]

प्रकृति स्त्री-स्वरुप है और वह भगवान द्वारा उसी प्रकार नियन्त्रित होती है, जिस प्रकार पत्नी अपने पति द्वारा। प्रकृति सदैव आधीन रहती है जिस पर भगवान का प्रभुत्व रहता है, क्योंकि भगवान ही अध्यक्ष है। जीव और भौतिक प्रकृति दोनों ही अध्यक्ष है। जीव और भौतिक प्रकृति दोनों ही परमेश्वर द्वारा अधिशासित तथा नियन्त्रित होती है। इसलिए हे अर्जुन! तू ऐसा समझ कि सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियों से ही उत्पन्न होने वाला है, और मैं सम्पूर्ण जगत का प्रलय और प्रभव हूँ अर्थात् सम्पूर्ण जगत का मूल कारण हैं।[2]

गीता के अनुसार सारे जीव परमेश्वर के अंश है, लेकिन वे प्रकृति ही माने जाते हैं। यह भौतिक प्रकृति मेरी अपरा प्रकृति है, लेकिन इससे भी परे दूसरी प्रकृति है, जो जीव भूताम् अर्थात् जीव है। संक्षेप में या दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि ईश्वर की प्रकृति में आठ पदार्थ है। गंध, रस, रुप, स्पर्श, शब्द, अहंकार, महतत्व, अव्यक्त आदि। इस प्रकार आठ प्रकार की प्रकृति के अन्तर्गत यह सारा जड़ प्रपंच है। सम्पूर्ण जगत इस आठ प्रकार की प्रकृति से रचा है। यही ईश्वरीय माया है। यह अपरा प्रकृति है। ईश्वर की दो प्रकृतियां हैं- अपरा, परा। इस जड़ चेतन में ही सारा संसार रचा है। परा प्रकृति श्रेष्ठ है।

प्रकृति तीन गुणों से निमित्त है- सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण। इन गुणों के ऊपर नित्य काल हैं इन गुणों तथा नित्य काल के संयोग से अनेक कार्यकलाप होते हैं, जो कार्य कहलाते हैं। ये कार्यकलाप अनादि काल से चले आ रहे हैं और हम सभी इन कार्यकलापों कर्मों के फलस्वरुप सुख-दुःख भोग रहे हैं। उदाहरण मान लो कि एक व्यापारी है, जो बुद्धि के बल पर कठोर परिश्रम करता है और बहुत धन एकत्र कर लेता है। तब वह सुख प्राप्त करता है और यदि व्यापार में सारा धन नष्ट हो जाये तो वह दुःख का भागी है। इसी प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हम अपने कर्म के फल का सुख भोगते हैं या दुःख भोगते हैं, यह

1. भूमिरापोऽनलो वायुः रवं मनोबुद्धिरेव च। अहंकार इतीय मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेद धार्यते जगत्।। 7-4, 5
2. एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय। अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।। श्रीमद् भगवद्गीता (7-6 श्लोक)

'कर्म' कहलाता है। ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल, कर्म इन सभी की व्याख्या भगवद्गीता में हुई है। इन पांचों में ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल शाश्वत है। प्रकृति ही क्षणभंगुर है, लेकिन मिथ्या नहीं है। कुछ दार्शनिकों ने प्रकृति को मिथ्या बताया परन्तु वैष्णवों और भगवद्गीता के अनुसार ऐसा नहीं है। जगत की अभिव्यक्ति को मिथ्या नहीं मान सकते। इसे वास्तविक किन्तु क्षणभंगुर मान सकते हैं। यह उस बादल के सादृश्य है जो आकाश में घूमता रहता है या वर्षा ऋतु के आगमन के समान है, जो अन्न का पोषण करती है। ज्योंहि वर्षा ऋतु की समाप्ति होती है और बादल चले जाते हैं। इसी प्रकार भौतिक अभिव्यक्ति भी किसी समय, किसी स्थान, पर कुछ ही काल रहती है और फिर लुप्त हो जाती है। यही प्रकृति की लीला है। यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। इसीलिए प्रकृति को शाश्वत माना गया है, मिथ्या नहीं। भगवान इसे मेरी प्रकृति कहते हैं। यह अपरा प्रकृति परमेश्वर की भिन्ना शक्ति है। इसी प्रकार जीव भी परमात्मा की शक्ति है, किन्तु वे भिन्न नहीं, किन्तु भगवान से नित्य सम्बद्ध है। इस तरह भगवान, जीव, प्रकृति तथा काल, ये सब परस्पर सम्बद्ध और शाश्वत है। लेकिन कर्म शाश्वत नहीं है। हाँ कर्म के फल अत्यन्त पुरातन हो सकते हैं। हम अनेक प्रकार के कर्मों के फल भोग रहे हैं पर उनके फल बदल भी सकते हैं। यह कर्मो का परिवर्तन हमारे ज्ञान पर निर्भर है।

ईश्वर परम चेतना स्वरुप है। जीव जो ईश्वर का अंश है इसी कारण चेतन स्वरुप है। जीव और भौतिक प्रकृति दोनों प्रकृति है, अर्थात् जीव और भौतिक प्रकृति या (अपरा) प्रकृति दोनों परमेश्वर की शक्ति है। इन दोनों में जीव ही चेतन है, दूसरी प्रकृति नहीं। यही अन्तर दोनों प्रकृतियों में है। जीव और ईश्वर का अन्तर भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय में बताया गया है। सातवें अध्याय में परमात्मा की दो प्रकृतियां बतायी गयी परा और अपरा। ये तीन गुणों से बनी हुई है, और उसके आठ भाग है वह अपरा प्रकृति है, क्योंकि वह जड़ है और संसार का कारण है। दूसरी परा प्रकृति है, जो जीव रुप है, इन्हीं दोनों प्रकृतियों से ही ईश्वर पैदा करने वाला, पालन करने वाला, नाश करने वाला है। **अपरा प्रकृति को 'क्षेत्र'** और **परा प्रकृति को 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं।** इस अध्याय में आत्मज्ञान यानि शरीर और जीव का भेद तथा जीव और ब्रह्म की एकता का विस्तार से वर्णन किया गया है। **इस शरीर को क्षेत्र कहते हैं और जो मनुष्य इसे जानता है उसे शरीर शास्त्र जानने वाला क्षेत्रज्ञ कहते हैं।**

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का अर्थ

शरीर को 'क्षेत्र' इसीलिए कहते हैं कि इसमें खेतों की तरह पाप और पुण्य ये फल पैदा होते हैं। जो इसे जानता है उसे क्षेत्र या खेतों को जानने वाला कहते हैं। कहने का अर्थ है कि प्राणी का शरीर खेत है और पाप-पुण्य इसी खेत में पैदा होते हैं। क्षेत्रज्ञ या जीव का, खेत का पाप पुण्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। अब यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्षेत्र शरीर किस जड़ पदार्थ से बना है, उसका स्वभाव कैसा है? धर्म क्या है, वह किन-किन विकारों से युक्त है, कैसे प्रकृति पुरुष के संयोग से पैदा हुआ है? क्षेत्रज्ञ जीव का स्वरुप क्या है?

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का वर्णन ऋषियों ने अनेक प्रकार से दिया है, साथ ही ऋग्वेद, सामवेद और युक्तियों मे, निश्चित अर्थ वाले व्याकृत ब्रह्मसूत्र के पदों में उनका स्वरूप भिन्न प्रकार से वर्णित है। ईश्वर क्षेत्रज्ञ या चेतन है जैसाकि जीव भी है, लेकिन जीव केवल अपने शरीर के प्रतिसचेत रहता है, जबकि भगवान समस्त शरीरों के प्रति सचेत् रहता है। चूँकि वे प्रत्येक जीव विशेष की मानसिक गतिशीलता से परिचित है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए। यह भी बताया गया है कि परमात्मा प्रत्येक जीव के हृदय में ईश्वर या नियन्ता के रुप में वास कर रहे हैं, और जैसा चाहते हैं वैसा करने के लिए जीव को निर्देश करते रहते हैं। जीव भूल जाता है उसे क्या करना है।

यदि सम्पूर्ण गीता का अध्ययन किया जाये तो हम पायेंगे कि भगवान ही पूर्ण है, जिनमें परमनियंता नियंत्रित जीव, दृश्य जगत, शाश्वत काल तथा कर्म सन्निहित है, इन सभी की व्याख्या इसके मूल में की गयी है। ये सब मिलकर पूर्ण का निर्माण करते हैं। यही परब्रह्म या परमसत्य है। यही पूर्ण तथा पूर्ण परम सत्य भगवान श्रीकृष्ण है। सारी अभिव्यक्तियां उनकी विभिन्न शक्तियों के फलस्वरूप है वे ही पूर्ण है।

भगवद्गीता में ब्रह्म के स्वरुप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि ब्रह्म भी पूर्ण परम पुरुष के आधीन है। ब्रह्मसूत्र में ब्रह्म की विशद व्याख्या सूर्य की किरणों के समान की गयी है। निर्विशेष ब्रह्म भगवान की प्रभामय किरणें तथा पूर्ण ब्रह्म की अपूर्ण अनुभूति है।

इसी रुप मे परमात्मा इसे धारण करते हैं।[1] '<u>ब्रह्म ही जानने योग्य है।</u>' हे! अर्जुन जो जानने योग्य है, उसे मैं कहता हूं। उसके जानने से मनुष्य की मुक्ति हो जाती है। वह अनादि पर ब्रह्म है। उसे सत् असत् नहीं कहते हैं।

'<u>ब्रह्म ही चेतनता का कारण है</u>' उस परब्रह्म के चारों ओर हाथ, पॉव, ऑख, कान, नाक, मुंह, सिर है। वह सभी जगह है। ऐसा कोई स्थान नहीं है जहॉ वह नहीं है, सम्पूर्ण संसार में वह व्याप्त है। परब्रह्म के विषय में आगे कहा गया है कि उसके कान, आदि इन्द्रिय नहीं हैं, परन्तु वह सब इन्द्रियों के गुण देखते हैं। आत्मा के आंख न होने पर भी वह देखता है, कान न होने पर भी वह सुनता है इसी प्रकार वह सभी को धारण करता है। वह सत्, रज, तम इन गुणों से रहित होकर भी इनके गुणों को भोगने वाले हैं।

'<u>ब्रह्म सर्व है।</u>' वह सारे चराचर प्राणियों के भीतर और बाहर है, जिस तरह चन्द्रमा की चॉदनी हर जगह व्याप्त रहती है, काल विशेष द्वारा कहीं दिखती है और कहीं नहीं। उसी तरह ज्ञान की आंखे नहीं खुलती, वह उन्हें नहीं देख सकता, किन्तु जिनकी ज्ञान की आंखे खुली है वह उसे देख सुन सकता है। वह चर और अचर दोनों है। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि हिलते हैं, इसलिए चर हैं पेड़-पौधों एक जगह ठहरने के कारण अचर है। ये अति सूक्ष्म है, इसी कारण इसे जाना नहीं जा सकता है। केवल तीव्र बुद्धि वाले ही इसे जान सकते हैं, किन्तु मोटी बुद्धि वाले नहीं। वह पास भी है और दूर भी है जिस तरह मृग की नाभि में कस्तूरी रहती है मगर वह सुगंध की खोज में इधर-उधर भटकते रहने से, वह उन्हें कभी नहीं मिलता है।

'<u>ब्रह्म सब में एक है।</u>' वह ब्रह्म या आत्मा सभी में एक समान है, वह आकाश की तरह एक है न कि विभक्त है। दूसरे शब्दों में वह सब में एक ही है, मगर शरीर में रहता

---

1 सर्वत पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वत· श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।। 13
सर्वेन्द्रियगुणाभास सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।। 14.
बहिरन्तश्च भूतानामचर चरमेव च। सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेय दूरस्थ चान्तिके च तत्।। 15.
अविभक्त च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्। भूतभर्तृ च तज्ज्ञेय ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।।16.
ज्योतिषमपि तज्जोतिस्तमस परमुच्यते। ज्ञान ज्ञेय ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।। 17.
इति क्षेत्र तथा ज्ञान ज्ञेय चोक्त समासतः। मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।। 18.
प्रकृति पुरुष चैव विद्ध्यनादी उभावपि। विकरांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।। 19.
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-13, श्लोक- 13-19.

हुआ उपाधियो से अलग मालूम पड़ता है। वह क्षेत्रज्ञ सब प्राणियों का पालन करने वाला, नाश करने वाला, पैदा करने वाला है।

'ब्रह्म ही सबका प्रकाशक है।' यहां ब्रह्म ही ज्योतियों की भी ज्योति है, यानि वह सूर्य, चॉद आदि को भी प्रकाशित करती है। जिस तरह वह बाह्य ज्योतियों को प्रकाशित करती है, उसी प्रकार वह मन, बुद्धि, आदि अन्दर ज्योतियों को भी प्रकाशित करती है। यहां क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान इन सभी का वर्णन है। इन्हें जानकर मेरा भक्त मेरे भाव को प्राप्त कर लेगा।

'प्रकृति और पुरुष सनातन हैं।' ६वें अध्याय में छठे श्लोक में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अनुरुप परा और अपरा दो प्रकार की प्रकृतियों का वर्णन है। यही सभी जीवों को उत्पन्न करती है। अब यहा प्रश्न हो सकता है यह क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ दोनों प्रकृतियां सब जीवों को किस तरह पैदा करती है।

प्रकृति-पुरुष और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, ये दोनों ईश्वर की प्रकृतियां है। ये दोनों ही अनादि है। जब ईश्वर अनादि है तो दोनों प्रकृतियों को भी अनादि होना चाहिए। ये दोनों प्रकृतियां ही इस जगत को उत्पन्न, पालन, नष्ट करने वाली है। आदि रहित होने से ये संसार का कारण है। कुछ लोग प्रकृति को अनादि नहीं मानते और ईश्वर को जगत का कारण मानते हैं। अगर प्रकृति पुरुष सनातन है तो वे संसार का कारण है, फिर ईश्वर जगत का रचयिता नहीं है।[1]

यहॉ स्वयं भगवान ने ज्ञान के साधनों का वर्णन करते हुए गीता में अध्याय सात से बारह तक आत्मा परमात्मा की भक्ति का वर्णन किया है। जिसमें अखिल विश्व को सबकी आत्मा परमात्मा का स्वरुप स्वयं अपने में दिखलाकर, स्वयं में सबकी एकता दिखलायी है। गीता में विवेक शून्य श्रद्धाविश्वास का स्थान नहीं है, इसलिए इसमें ऐसे विषयों का वर्णन है जो तात्विक विचार द्वारा सिद्ध है। अध्याय १३ में भगवान, क्षेत्र,क्षेत्रज्ञ अर्थात् शरीर जीवात्मा, प्रकृति पुरुष एवं जगत और जगदीश्वर आदि का वर्णन है। भगवान श्रीकृष्ण प्रकृति, जीव, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान, ज्ञान के साधन को पुनः अर्जुन को बताते हैं। यहां भगवान कहते हैं कि

1. "गीता का व्यवहार दर्शन"- राभ गोपाल मेहता कृत, पृष्ठ सख्या- 427

यह शरीर ही क्षेत्र है, और इसमे भगवान रहते हैं क्षेत्र को जानता है वह क्षेत्रज्ञ है, ऐसा क्षेत्र को जानने वाले कहते हैं।[1]

शरीर और क्षेत्र का शब्दार्थ

जीव का स्वरुप नित्य है, परन्तु देह का नाश होने से वह अव्यक्त है। इस प्रकार अव्यक्तादि जीव की हिंसा का कारण होने से 'शर' कहलाता है। भगवान द्वारा प्रेरित होने के कारण 'ईर' कहलाता है। इस प्रकार अव्यक्तादि 'शरीर' कहलाता है केवल जीव ही शरीर नहीं है। भगवान का निवास स्थान होने से भी अव्यक्तादि 'क्षेत्र' कहलाते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अव्यक्तादि शरीर और क्षेत्र कहलाते हैं। जड़रुप, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, धृति, देह, मन की व्याप्ति क्षेत्र के विकार है। जड़रुप (अचिद्रूप) इच्छादि चिद्रूप से मिश्र होकर रहते हैं, चिद्रूप इच्छादि क्षेत्र के विकार नहीं है। यह जीव के स्वभूत है। क्या सदा मिश्रित ही रहते हैं। केवल संसारावस्था में मिश्रित रहते है और मुक्ता अवस्था में (लिंग देह नाश होने से) केवल स्वरुपभूत चिद्रूप इच्छादि रहते हैं[2] और हे भारत! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मुझे ही समझो, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, वह मेरा ही है। 'जीव क्षेत्रज्ञ है' 'क्षेत्रज्ञं जीवं च मा विद्धि' क्षेत्रज्ञ और जीव मैं (श्रीकृष्ण) ही हूँ इस प्रकार के अन्यथा अर्थ का निराकरण करने के लिए अन्य प्रमाण वाक्यों से इस श्लोक के वास्तविक अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है कि- भगवान विष्णु या स्वयं श्रीकृष्ण ही क्षेत्रज्ञ है। अन्य कोई अव्यक्तादि क्षेत्रों को अच्छी तरह से नहीं जानता। भगवान स्वय क्षेत्र में अर्न्तभूत नहीं है। वह भगवान व्यक्त और अव्यक्त इन दोनों से विलक्षण (भिन्न) है। भगवान सदा जीवों के अन्दर और बाहर रहते है। इसलिए भगवान सब कुछ जानते हैं। जब भगवान स्वयं सम्पूर्ण जीवों से अभिन्न है, तब भगवान की स्थिति जीवों में स्वयं कैसे हो सकती है। भगवान जीवों से विलक्षण है? किस तरह का वैलक्षण्य है? भगवान के पाणिपादादि सर्वत्र है, इसलिए सम्पूर्ण जीव समुदाय से भगवान भिन्न हैं। भगवान की सम्पूर्ण इन्द्रियां सहायक है। भगवान के सभी रुप इस प्रकार है। भगवान के शादियों में पाण्यादि शक्ति है यह युक्ति विरूद्ध नहीं है, क्योंकि यदुकुल में उत्पन्न श्रीकृष्ण भगवान्

---

1. "प्रकृति पुरुष चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च। एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेय च केशव।।"
श्रीमद्भगवद्गीता–श्री 1008, श्रीविद्या बल्लभ तीर्थ स्वामी जी महाराज, जगद्गुरु श्रीमन्मध्वाचार्य, पीठाधीश्वर, मध्वमढ़, प्रयाग।
2. हिंसाहेतुश्च जीवस्य परेण प्रेर्यते च यत्। अव्यक्तादि शरीर तु तत् क्षेत्रं क्षीयतेऽत्र यत्।।
इच्छाद्वेषः सुखं दु:खं देहो व्याप्तिश्च चेतस । तद्विकारा इति ज्ञेया' चिद्रूपेच्छादि मिश्रितः।। (नारायण श्रुति)
श्रीमद् भगवद्गीता श्री 1008 श्रीविद्याबल्लभतीर्थ स्वामी जी महाराज जगद्गुरु श्रीमन्मध्याचार्य पीठाधीश्वर, प्रयाग।

श्रीमन्नारायण के कृष्ण केश है जो प्रमाण से सिद्ध है। करचरणादि सहित अणु से भी अणुतर अनन्त रुपो से परमाणु प्रदेश में, उससे सूक्ष्म प्रदेश में तथा सर्वत्र व्याप्त अव्याकृत आकाश मे तथा समस्त रुपों में अंगागि भाव से रहते है। इसलिए भी वह पाणिपाद कहलाते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय से और प्रत्येक अवयव से सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों को जानते हैं और साथ ही मै सभी अव्ययों का काम भी करते हैं। भगवान अपने नेत्र से जैसे रुप को जानते हैं वैसे ही नेत्र से रसादियों को, सब विषयों को जानते है। करचरणादि से जो कार्य होते हैं उन्हें इन्द्रियो और अव्ययों से भी करते हैं। भगवान को अप्रकृत इन्द्रियो और अव्ययो होने से श्रुतियों में 'अनिन्द्रिय' कहा गया है। भगवान से भिन्न इन्द्रिया नहीं है। इस प्रकार जीव और भगवान मे वैलक्षण्य होने से जीव और भगवान में अभेद नहीं हो सकता। भगवान विष्णु जीवो से भिन्न है।[1] यहां पर यह शरीर, सब शरीरों मे रहने वाली जीवात्मा और परमात्मा सब कुछ 'मैं (सबकी आत्मा) मैं ही हूँ।[2] अतः शरीर और जीवात्मा के विषय का जो यथार्थ ज्ञान है, वही परमात्मा स्वरुप मेरा ज्ञान है। वह क्षेत्र जो कुछ है, जैसा है, एवं जिन विकारों वाला है, और जिससे जो होता है, तथा वह (क्षेत्रज्ञ) जो कुछ है एवं जिस प्रभाव वाला है, सो संक्षेप में मुझसे सुनो। तात्पर्य यह है कि क्षेत्र अथवा क्षेत्रज्ञ अथवा शरीर और जीवात्मा के विषय में अलग विवेचन आगे के श्लोकों में है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ या शरीर जीवात्मा संबंधी विज्ञान सहित ज्ञान का निरुपण अनेक ऋषियों ने वेदों के मंत्र भाग में तथा उपनिषदों में नाना प्रकार से किया है और वेदान्त सूत्रों में कार्यकारण रुप हेतु दिखलाकर युक्तियुक्त प्रमाणों से उन पृथक निरुपणों की एक वाक्यता करके पूर्णतया निश्चित सिद्धान्त स्थिर कर दिया गया है।

---

1 क्षेत्रज्ञों भगवान विष्णु न ह्यन्य· क्षेत्रमजसा। वेच्यसो भगवानज्ञेयो व्यक्ताव्यक्तविलक्षणः।।
स तु जीवेषु सर्वेषु बहिश्चैव व्यवस्थित । विलक्षणश्च जीवेभ्य· सर्वेभ्योऽपि सदैव च।।
सर्वत पाणिपादादि यत पाण्यादिशक्तिमान्। केशदिष्वपि सर्वत्र कृपणकेशो हि यादव·।।
अणोरणुतरै रुपैः पाणिपादादि सयुतै. । सर्वत्र सस्थितत्वाद्वा सर्वत· पाणिपादवान्।।
सर्वेन्द्रियाणा विषयान् वेत्तिसोऽप्राकृतेन्द्रियः। यतोऽतोऽनिन्द्रिय प्रोक्तो यन्नभिन्नेन्द्रियोऽथवा।।
'श्रीमद् भगवद्गीता'-श्री 1008 श्रीविद्यावल्लभतीर्थ स्वामी जी महाराज, जगद्गुरु श्रीमन्मध्वाचार्य पीठाधीश्वर मध्वमढ, प्रयाग अध्याय-13, पृष्ठ सं0-281

2. भूमिरापोऽनलो वायु रवं मनो बुद्धिरेव च। अहकार इतीयं मे मिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।।
अपरेयमितस्त्वन्या प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूता महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।। 4-5
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युषधारय। अहं कृत्स्त्रस्य जगतः प्रभव· प्रलयस्तथा।।6
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-7, 4, 5, 6

'महाभूत' अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, अहकार, अर्थात् 'मैं हूँ' यह व्यक्तित्व का भाव, बुद्धि अर्थात् विचार शक्ति, अव्यक्त अर्थात् कारण प्रकृति, ग्यारह इन्द्रिया, अर्थात् आंख, नाक, कान, जीभ, त्वचा के भेद से पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ के भेद से पांच कर्मेन्द्रियां एव ग्यारहवॉं मन तथा पांच ज्ञानेन्द्रियों के पाच विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रुप, रस, गध (इन २४ तत्वों का समूह) और इच्छा अर्थात् अनुकूलता की प्राप्ति की चाहना, द्वेष अर्थात् प्रतिकूलता के तिरष्कार की भावना, सुख अर्थात् अनुकूल वेदना, दु:ख अर्थात् प्रतिकूल वेदना, सघात अर्थात् इन सबका योग, चेतना अर्थात् मन, बुद्धि, इन्द्रियों एवं प्राण आदि के व्यापारों से प्रतीत होने वाले शरीर की चेतन अवस्था, धृति अर्थात् धारणाशक्ति इन सभी को संक्षिप्त रुप से **'क्षेत्र'** कहते हैं। अमानित्व अर्थात् शरीर के बड़प्पन, उच्चता, कुलीनता, पवित्रता, विद्या, बुद्धि, रुप, यौवन, बल, धन, पद, प्रतिष्ठा आदि का अभिमान न करना, अदम्भित्व अर्थात् दूसरों पर अपना प्रभाव जमाने के लिए, स्वार्थ सिद्धि के लिए दूसरों को ठगना, धोखा देना, छल-कपट करना, अहिसा अर्थात् अपने स्वार्थसिद्धि के लिए दूसरो को तन, मन, वचन से शारीरिक तथा मानसिक कष्ट न देना, क्षमा अर्थात् दूसरो के अपराध को सहन करना। आर्जव अर्थात् अपनी तरफ से सबसे सरलता का बर्ताव करना। आचार्य की उपासना करना अर्थात् गुरु की भक्ति करना, शौच अर्थात् (बारह अध्याय) पवित्रता, स्थैर्य यानि दृढ़ निश्चय, आत्मनिग्रह अर्थात् मन को अपने वश में भलीभाति करना। (अध्याय १२ में शम का स्पष्टीकरण) इन्द्रियों के विषय में वैराग्य (अध्याय २, श्लोक, ५५-५८, अध्याय ५ श्लोक ८-६) शब्द, रुप, रस, स्पर्श, गंध ये विषय इन्द्रियों के भोगी है, अज्ञानतावश मनुष्य इसको सुख का हेतु समझता है। वास्तव में ये दुःख का कारण है। अहंकार अर्थात् दूसरों से अलग अपने व्यक्तित्व का अहंकार न रखना। (अध्याय १२ में निहंकार का स्पष्टीकरण) जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, रोग आदि व्याधियों से होने वाले दु:ख को हमेशा याद रखना, पुत्र, स्त्री, मोह, गृह पदार्थों में स्नेह और ममत्व का भाव होने वाले मोह से रहित होना। इष्ट अर्थात् अनुकूल और अनिष्ट अर्थात् प्रतिकूल की प्राप्ति होने पर, दोनों दशाओं में चित्त की एकता, समता बनाये रखना। भगवान को ही स्वतन्त्र, एवं परम ब्रह्म या पुरुषोत्तम मानना। अर्थात् सब कुछ परमात्मा ही है। इस एक भाव से सदैव परमात्मा की भक्ति में लगे रहना और अज्ञानी समाज में मोह न रखना। अपने

साथ-साथ सबको आत्मस्वरुप समझना और तत्वज्ञान के अर्थ को देखते रहना सभी प्रकार के ज्ञान का तात्विक विवेचन करना यह ज्ञान है। इस प्रकार का आचरण करना ही सच्चा ज्ञान है, वह सच्चा ज्ञानी है। इसके विपरीत जो कुछ है वह अज्ञान ही है। इस तेरहवें अध्याय के दूसरे-तीसरे श्लोक में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो वर्णन है, वही सातवें अध्याय के ग्यारहवें श्लोक में भी है यही यथार्थ ज्ञान है।

जिस पुरुष को क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अथवा शरीर और आत्मा अथवा जगत् और परमेश्वर का सच्चा ज्ञान हो जाता है उसके ये स्वाभाविक आचरण होते हैं। अब हमे यह जानकारी करनी है कि इन ज्ञान का प्रवर्तक कौन है। मैं ही वह परब्रह्म हूँ। वह जो जानने योग्य है अर्थात् ज्ञेय वस्तु आत्मा अनादि परब्रह्म है, न वह सत् है और न असत्।[1] उस आत्मा के हाथ पैर, ऑखें, सिर, मुख, कान है, वह सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है। वह सब इन्द्रियों का आभास है और अगर इन्द्रियां न भी हो तो भी वह है, सब संबंधों से रहित होकर भी सभी का पालन-पोषण करता है, निर्गुण होकर भी वह गुणों का भोक्ता है, अर्थात् सब कुछ वही होने के कारण वहीं धारण-पोषण करने वाला है, और वही निर्गुण तथा सगुण है। सब भूतों के बाहर और भीतर स्थित है, चर-अचर भी है, अति सूक्ष्म होने के कारण वह (मन और इन्द्रियों से) जाना नहीं जा सकता, वह दूर भी है और पास भी है अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्य रुप से सर्वत्र परिपूर्ण है। वह ज्योतियों की भी ज्योति अर्थात् तेज का भी तेज, अज्ञान रुपी अंधकार से परे, तथा ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञान से अनुभव होने वाला, सबके हृदय में रहता है। इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान, ज्ञेय, औरों का संक्षेप में वर्णन है। वह सबका आत्मा क्षेत्रज्ञ अथवा ज्ञेय अनादि है, अर्थात् वह सदा रहने वाला है, इसलिए उसकी उत्पत्ति का कोई काल और कारण नहीं हैं, भूत, भविष्य और वर्तमान सभी काल और सभी वस्तुएँ उसी में स्थित है, अतः वह किसी काल अथवा वस्तु में "परिमित नहीं हैं, मैं हूँ" यह भाव अर्थात् अपने होने का भाव सबको सब काल में बना रहता है-शरीरों के साथ उत्पन्न होने के साथ वह उत्पन्न नहीं होता, वह सबका अपना आप आत्मा पर ब्रह्म है, अर्थात् वह सब, देश, काल, वस्तुओं में हमेशा रहता है, ऐसे कोई काल, देश, वस्तु नहीं है, जिसमें ये न हो।

1. ज्ञेय यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते। अनादिमत्पर ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्चयते।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-13, श्लोक 12, पृष्ठ स0- 189.

अपने आप ही सब देश काल, और वस्तुओं की सिद्धि होती है। सबका अपना-आप-आत्मा ही सब कुछ है। विश्व में जितने शरीर है, वे सभी एक ही आत्मा और परमात्मा के अनेक रुप है, इस कारण प्राणीमात्र के शरीर की इन्द्रियां, हाथ, पैर आदि अग उसी परमात्मा या आत्मा के है। जिस तरह से समुद्र से तरंगों को अलग नहीं कर सकते, उसी तरह से आत्मा और परमात्मा के टुकड़े नहीं होते, वह सदा अखण्ड बना रहता है। 'मैं' रुप से सबके अन्त करण में रहने वाला सबका अपना-आप-आत्मा और परमात्मा ज्ञान स्वरुप है, वही सब कुछ है, इसलिए ज्ञेय अर्थात् जानने की वस्तु भी वही है, क्योंकि जिस किसी भी वस्तु का ज्ञान होता है, वह उसी आत्मा का ज्ञान है, सबका प्रकाशक भी वही है, क्योंकि अपने-आपको प्रकाश से ही सबका प्रकाश होता है, सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि जितने भी प्रकाशवान पदार्थ हैं, वे सब जड़ है, वे चेतन आत्मा की सत्ता से प्रकाशित है परन्तु आत्मा तो स्वयं प्रकाश है।

सातवे अध्याय में भक्ति अथवा उपासना का वर्णन विज्ञान सहित ज्ञान के द्वारा किया है, साथ ही साथ परा और अपरा प्रकृति का वर्णन उपासना शैली में किया है। यहॉ पर अब उसी विषय को अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त के आधार पर दार्शनिक शैली में कहा गया है। शरीर और जगत तथा आत्मा और परमात्मा की एकता का वर्णन अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त जिसका वर्णन अनेक ऋषियों ने वेदों और उपनिषदों में भिन्न प्रकार से किया है। उन सभी का वर्णन महर्षि बादरायण, व्यास जी ने युक्तियों द्वारा वेदान्त सूत्र में किया है। यही अद्वैत सिद्धान्त भगवान को मान्य है, और ऐसे कथनानुसार यहां क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ रुप से शरीर अथवा पिण्ड तथा जगत अथवा ब्रह्माण्ड और आत्मा अथवा परमात्मा के संबंध का अलग-अलग एवं संक्षिप्त वर्णन है। भगवान कहते हैं कि सब शरीरो में 'मैं' रुप से विद्यमान सबकी आत्मा ही परमात्मा है और आत्मा अथवा परमात्मा ही २४ तत्वों के समूह तथा नाना विकारों से युक्त क्षेत्र संज्ञा वाला शरीर और जगत् (ब्रह्माण्ड) के रूप में दृश्यमान है, इन्हीं शरीर जगत को बुद्धि से जानने वाला क्षेत्रज्ञ कहलाता है। जिस तरह मनुष्य को जब स्वप्न आता है, तो स्वयं ही वह स्वयं ही स्वप्न को देखने वाला होता है, उसी तरह 'मैं' रुप से सबके अन्दर रहने वाला, सबका अपना-आप-आत्मा ही जाग्रत जगत का दृश्य है और आप ही दृष्टा होता है- जो व्यवस्था स्वप्न सृष्टि की है, वही जागृत सृष्टि की है। जगत प्रत्यक्ष इन्द्रिय गोचर होने के

कारण सत् प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव मे वह प्रतिक्षण परिवर्तनशील एवं नाशवान होने के कारण सत् नहीं है, और जीवात्मा इन्द्रिय गोचर नहीं है, इसलिए असत् प्रतीत होती है, परन्तु वास्तविकता यह है कि इन्द्रिय गोचर न होने के कारण असत् प्रतीत होता है, परन्तु वह सबकी सत्ता स्वरूप होने के कारण असत् नहीं है। आत्मा दोनों भावों का सच्चा आधार है, इसलिए उसे न तो सत् कह सकते हैं और न असत्। क्योंकि सत् कहने से असत् उससे भिन्न हो जाते हैं और असत् कहने से सत् उससे भिन्न हो जाते हैं और भिन्नता वस्तुतः है ही नहीं, सत्-असत् दोनों अपने आप आत्मा से ही सिद्ध है। आत्मा ही सेन्द्रिय (चेतन सृष्टि रुप) और आत्मा ही निरिन्द्रिय (जड़ सृष्टि रुप) होता है, और आत्मा सब दृश्य प्रपंच रुप रचनाओं से परे है। सेन्द्रिय सृष्टि रुप होने के कारण इन्द्रियवान् प्राणियों के जितने हाथ, पैर, आँख, नाक, कान, सिर, मुख आदि अंग हैं, वे सब आत्मा के ही है, और सब अंग तथा इन्द्रियों से रहित जड अर्थात् निरिन्द्रय सृष्टि भी वही है।

इन्द्रियगोचर सब पदार्थों की प्रतीति अपने-आप-आत्मा ही से होती है, आत्मा ही मन-रुप से इन्द्रियों के सब विषयों का अनुभव करता है, मन ही आंखों के द्वारा रुप देखता है, मन ही कानों के द्वारा शब्द सुनता है, मन ही नाक के द्वारा गन्ध लेता है, मन ही जीभ के द्वारा स्वाद लेता है। यदि मन का इन्द्रियों के साथ संयोग न हो, तो उसे अपने विषयों की प्रतीति नहीं होगी। कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा ही संसार के अन्दर की ओर बाहर की वस्तुओं को उत्पन्न और नष्ट करती है। चेतन रुप में वह चलता है और अचेतन रुप में स्थिर है। वह एक (आत्मा) ही अनेक रुपों में दिखायी देता है। जिस प्रकार समुद्र की लहरो की उत्पत्ति, स्थिति, लय भी आत्मा में ही है। सूर्य, चन्द्रमा, तारें आदि जितने भी प्रकाशवान पदार्थ है वे सभी अपने आप आत्मा से प्रकाशित है, अतः आत्मा स्वयं ही प्रकाश स्वरुप है।

अभी तक भगवान ने अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का वर्णन किया है। अब सांख्य दर्शन के सिद्धान्त के अनुसार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विचार सांख्य की परिभाषा में प्रकृति और पुरुष के रूप में करते हैं। सांख्य दर्शन वाले प्रकृति और पुरुष को स्वतन्त्र और अलग मानते है तथा दोनों के एक तत्व भाव ब्रह्म अथवा आत्मा अथवा परमात्मा को नहीं मानते, परन्तु वेदान्त सिद्धान्त को मानने वालों ने एक आत्मा अथवा परमात्मा की इच्छा

एवं कल्पना के दो भाव बताए हैं- एक पतिवर्तनशील असत् जड़ भाव है और दूसरा अपरिवर्तनशील सत् चेतन भाव है। इन दोनों के अन्तर को छोड़कर दोनो भावो अर्थात् प्रकृति और पुरुष के संबध के तथा प्रकृति के विस्तार के विषय जो विचार सांख्य दर्शन के है, वे वेदान्त को भी ग्राह्य है। इसलिए सांख्य की परिभाषा में प्रकृति पुरुष संबंधी विचारों का वर्णन किया है, अध्याय तेरह में वर्णित[1] श्लोक में प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादि बताया गया और विकार एवं गुणों को प्रकृति से उत्पन्न माना गया है। तात्पर्य यह है कि सांख्य मतानुसार प्रकृति और पुरुष दोनों स्वतन्त्र रुप से अनादि है, और वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार ये दोनों सबके आत्मा परमात्मा की इच्छा के दो भाव है, इसलिए इनका कोई आदि नहीं कहा जा सकता, इस प्रकार यह दोनों ही अनादि है, और राग-द्वेष, सुख-दुःख, मिटना, घटना-बढ़ना आदि विकार तथा तीनों गुणों का फैलाव प्रकृति से होता है। कार्य और कारण के कर्तापन में हेतु प्रकृति कही जाती है। सुख-दुःख के भोक्तापन का हेतु कहे जाते है, तात्पर्य यह है कि कार्य कारण की परम्परा का आरंभ प्रकृति से होता है और प्रकृति एक ही रहती है या कार्य रुप शरीर और कारण रुप पंच महाभूत तथा तीन गुण (सब) प्रकृति के बनाव है। सुख-दुःख की वेदनाओं की प्रतीति का कारण (मनुष्य) पुरुष की चेतनता है।[2] गीता किसी भी मत का तिरस्कार नहीं करती, जिस मत की जहां तक पहुँच होती है, उसको वहां तक स्वीकार करती हुई, उसमें जो त्रुटियां होती है उसे पूरा करती है। जड़ और चेतन अथवा प्रकृति और पुरुष के संयोग से उत्पन्न होने वाले शरीर और जगत अथवा पिण्ड और ब्रह्माण्ड के विषय के तात्विक विवेचन में सांख्य दर्शन वेदान्त दर्शन के सिवाय अन्य सब दर्शनों से बहुत आगे बढ़ा हुआ है। उनसे भिन्नता के सब भावों का एकीकरण करके जड़ प्रकृति और चेतन पुरुष, इन दो मूल तत्वों में सबका समावेश कर देते हैं। वेदान्त दर्शन ने जड़ प्रकृति और चेतन पुरुष का समावेश आत्मा अथवा परमात्मा में कर लिया।

सांख्य दर्शन जड़ प्रकृति को सत्व, रज, तम भेद से तीन गुणों की जननी, तथा नाना प्रकार के विकारों एवं कार्य कारण भाव का प्रसार करने वाली मानता है; और पुरुष को चेतन, निर्गुण, निर्विकार, कार्य कारण भावों से रहित और साथ ही प्रकृति के गुणों का

---

1. प्रकृतिं पुरुष चैव विद्धयनादी उभावपि। विकाराश्च गुणाश्चैव विद्धि प्रकृति संभवान्।। श्रीमद् भगवद्गीता, 13-19
2. कार्यकारणकर्तृत्वे हेतु प्रकृतिरुच्यते। पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।। श्रीमद् भगवद्गीता, 13-20

भोक्ता मानता है, क्योंकि प्रकृति जड़ है, इस कारण उसमें स्वयं भोक्तापन बन नहीं सकता। सांख्य के अनुसार पुरुष स्वयं निर्गुण और निर्विकार होता हुआ भी प्रकृति के गुणों का संग करके उनसे सुखी-दुःखी होता है, उसी के अनुसार ऊँची-नीची योनियों के शरीर धारण करता है। सांख्य दर्शन का मत वेदान्त दर्शन को मान्य है।

सांख्य दर्शन का यह सिद्धान्त है कि प्रकृति और पुरुष दोनों वस्तुतः अलग-अलग, स्वतन्त्र, दोनों एक समान सत् और दोनों स्वतन्त्र रुप से अनादि है; जड़ प्रकृति में चेतन पुरुष की समीपता से क्रिया उत्पन्न होती है, जिससे यह क्रियाशील होकर अपने गुणों के द्वारा जगत का विस्तार करती है, और पुरुष को आकर्षित करती है। परन्तु प्रकृति जब पुरुष के इस जाल से अलग होकर अपना छुटकारा कर लेती है, तब कैवल्य पद रुप मोक्ष पा लेता है। सांख्य का द्वैत सिद्धान्त वेदान्त को मान्य नहीं। वेदान्त का सिद्धान्त है कि सबका अपना-आप-आत्मा अथवा परमात्मा अथवा ब्रह्म, अपनी इच्छा अथवा कल्पना से एक तरफ निरन्तर बदलते रहने वाली जड़ प्रकृति रुप होकर, उसके द्वारा जगत के नाना प्रकार के मायिक बनाव करता है, दूसरी तरफ सत्, चित् भाव से पुरुष अथवा जीव रुप होकर उस मायिक बनाव को धारण करता है, जड़ प्रकृति परिवर्तनशील, उत्पन्न, नष्ट तथा घटने, बढ़ने आदि विकारों वाली होने के कारण मिथ्या अर्थात् असत् है, और चेतन पुरुष अथवा जीवात्मा, परमात्मा का सत् चित् भाव है, इसलिए वह सदा एक समान बना रहने वाला नित्य एवं निर्विकार सत् है। आत्मा और जीवात्मा जब तक अपने समष्टि भाव की कल्पना रखता है, अर्थात् अपने को प्रकृति के गुणों से उत्पन्न होने वाला सूक्ष्म अथवा स्थूल शरीर मानता है, तब तक अपने को सुखी-दुःखी आदि विकारों से युक्त मानता है, तथा गुणों के संबंध के अनुसार नाना योनियों के शरीर धारण करता है परन्तु जब उक्त प्रकृति को अपनी ही कल्पना का खेल समझकर अपने को इस खेल का आधार, उसको सत्ता देने वाला तथा उसे चेतना युक्त करने वाला अनुभव कर लेता है, तब उसे कोई सुख-दुःख नहीं होता न उसके लिए विवशता से किसी योनि में शरीर धारण करना ही शेष रहता है। वह अपने यथार्थ स्वरुप का अनुभव करके सबकी एकता-स्वरुप परमात्म भाव में स्थित हो जाता है। अपने यथार्थ स्वरुप के अनुभव के लिए उसको किसी से अलग होने या किसी को छोड़ने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि छोड़ने के लिए उससे वस्तुतः भिन्न दूसरा कुछ नहीं होता।

सांख्य का मत जहां तक अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त के अनुकूल है, उसे ग्रहण करके उसमें जो त्रुटि है, उसे अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार पूरा करके भगवान इन दोनो सर्वोच्च दर्शन का सामंजस्य करते है, कि सबका अपना-आप एक, नित्य, एवं सत्य आत्मा तथा परमात्मा अपनी इच्छा अथवा कल्पना शक्ति से दो भावों में व्यक्त होता है- एक सत् चित्त आनन्द भाव जिसको सातवें अध्याय में जीव भाव वाली परा प्रकृति, क्षेत्रज्ञ, सांख्य की परिभाषा में (जीव भाव) पुरुष और पन्द्रहवें अध्याय में अक्षर कहा गया है और दूसरा आनत् जड़ विकारवान् भाव जिसको सातवें अध्याय में जड़ अपना प्रकृति, क्षेत्र, सांख्य की परिभाषा में प्रकृति और पन्द्रहवें अध्याय में क्षर कहते हैं। ये दोनों भाव अनादि है, अर्थात् इनके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि ये अमुक समय में उत्पन्न हुआ।

कारण यह है कि अनादि आत्मा की इच्छा का यह खेल, काल में सीमाबद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि काल स्वयं उसकी (अपरा) प्रकृति से उत्पन्न हुआ है। परमात्मा की परा प्रकृति रुप पुरुष की सत्ता से (अपरा) प्रकृति द्वारा उत्पन्न सत्व, रज, तम भेद से तीनों गुणों की कमी बेशी के तारतम्य रुप गुण वैचित्र्य से जगत के नाना प्रकार के बनाव बनते हैं, उसी से जगत के अनंत प्रकार के भेद एवं विकार उत्पन्न होते हैं। परा प्रकृति रुप चेतन पुरुष अपरा जड़ प्रकृति के गुणों का संग करके, अपने को गुणों से युक्त मानकर, नाना प्रकार के शरीर धारण करके उक्त गुण वैचित्र्य से उत्पन्न नाना प्रकार के भोग भोगता है। सत्वगुण में विशेष आसक्त होकर वह सात्विक शरीर धारण करता है, रजोगुण में विशेष आसक्त होकर राजस शरीर और तमोगुण में विशेष आसक्त होकर तामस शरीर धारण करता है, तथा अपने आपको सुखी-दुःखी, विकारवान्, एवं बन्धनयुक्त अनुभव करता है। प्रकृति में जो कुछ क्रियाएं होती है, वे चेतन पुरुष की सत्ता से होती है, क्योंकि चेतन के बिना जड़ प्रकृति अकेले कुछ नहीं कर सकती। अतः सारा जगत् प्रकृति और पुरुष के संयोग से बना है। क्षेत्रज्ञ रुप-पुरुष, क्षेत्र रुप सब शरीरों में रहता हुआ, बुद्धि रुप से शरीरों का ज्ञाता अथवा दृष्टा है, अपनी चेतनता से शरीर के अंगों को चेतना युक्त और एकता से भिन्न अंगों में एकता रखता है, मन रुपी इन्द्रियों से अपने विषय को भोगने की शक्ति से युक्त रखता है और स्वामी भाव से सभी को प्रेरणा देता है कि सब पर शासन करें। जिस प्रकार बिजली के प्रवाह से अनेक प्रकार के कार्य जैसे- लेम्प में रोशनी, पंखों से हवा, मोटरों

से अनेक प्रकार के उद्योग, आदि होते हैं उसमे शक्ति बिजली की होती है, उसी प्रकार चेतन पुरुष की सत्ता से जड़ प्रकृति (जगत) के कार्य होते हैं। वह सब शरीर में रहने वाला चेतन पुरुष सबका परमात्मा ही है, वह सदा सब में, सर्वत्र, एक समान रहता है। किसी बड़े शरीर में वह बड़ा और छोटे शरीर में छोटा नहीं होता, उच्च कोटि के शरीर में उच्च नहीं होता और निम्न कोटि के शरीर में हीन नहीं, पवित्र शरीर में पवित्र नहीं और मलिन शरीर में मलिन नहीं होता, शरीर के सुखी-दुःखी होने से सुखी-दुःखी नहीं होता, शरीर की उत्पत्ति से उत्पन्न और नष्ट होने से वह नष्ट नहीं होता। वह सदा सम और निर्विकार रहता है। वह जगत के सब प्रकार के व्यवहारो को सूर्य की तरह समान रुप से प्रकाशित करता है, अर्थात् जगत् की प्रतीति उसी से होती है।

श्री अरविन्द के विचारानुसार भक्ति योग की चर्चा प्रारम्भ करते हुए गीता ने पांचवे अध्याय से ही इसकी भूमिका बना ली थी। वहां पर 'यज्ञ' का वर्णन करते हुए कहा कि यज्ञमय जीवन है। 'साधना की विधि विशेष का नाम यज्ञ है।' यज्ञ का अर्थ है उत्सर्ग कर देना, अपने को अर्पण कर देना। अपना सब कुछ भगवान के चरणों में भेंट के रुप में चढ़ा देना। कर्म को अपना क्रिया समझकर न करना। भक्ति में तो सभी कुछ उसी के लिए किया जाता है। अगर 'कर्म' की पूर्णता 'यज्ञ' में होती है, तो 'यज्ञ' की पूर्णता 'भक्ति' में होती है। गीता के सावतें अध्याय के एक से चौदहवें श्लोकों में भगवान् ने ब्रह्म की दो प्रकृतियों का वर्णन किया है- 'अपरा प्रकृति' और 'परा प्रकृति' ।

संसार के पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार ये ब्रह्म की अपरा प्रकृति है, वह अपरिवर्तनशील प्रकृति है, इसके अतिरिक्त परिवर्तनहीन, अचल, सत् चित्त आनन्द रुप उसकी एक और प्रकृति है, वह उसकी परा प्रकृति है। जीव ब्रह्म की 'अपरा प्रकृति' के सानिध्य में रहने के कारण प्रकृति के सत्व, रज्, तम् इन तीनों गुणों में चल रहे कर्म को अपना समझता है, यह उसका केवल भ्रम है, क्योंकि जीव प्रकृति का अंश नहीं, ब्रह्म का अंश है-'ममैवांश सनातनः'[1] इसलिए उसे अपने को प्रकृति से पृथक कर लेना ही अपने यथार्थ रुप में आ जाना है। इस तरह से अपनी दो प्रकृतियों का वर्णन करने के बाद

1. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। मन· षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।। श्रीमद् भगवद्गीता, 15-7

इस अध्याय के (१५) सोलहवें श्लोक में जीव को 'अपरा प्रकृति' के साथ एकात्मता स्थापित करनी चाहिए। ब्रह्म की परा प्रकृति के साथ एकात्मता का दूसरा नाम भक्ति है।

ब्रह्म की परा और अपरा प्रकृति के संबध में श्री **अरविन्द के विचार** है हमें ब्रह्म का समग्र रुप जानने की चेष्टा करनी चाहिए। ब्रह्म के समग्र रुप को जानने पर हम ब्रह्म के दो पहलुओं को जान लेंगे, गीता में इसी को ज्ञान और विज्ञान कहा है। 'ज्ञान' का अर्थ है ब्रह्म को (ज्ञान) जानना, 'विज्ञान' का अर्थ है उसका अनुभव कर लेना, जब ब्रह्म को जानकर उसका अनुभव कर लिया जाता है तब ज्ञान और विज्ञान द्वारा हम ब्रह्म को समग्र रुप से जान लेते हैं। गीता में कहा गया है कि इस तरह ब्रह्म का 'समग्र' रुप जानने वाले बहुत कम है। जो प्रयत्न करते हैं और उसे प्राप्त करने वाले कम ही है। ब्रह्म का स्वरुप क्या है? इसके स्वरुप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि ब्रह्म के दो रुप है, उसकी दो प्रकृतियॉ है एक है पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार यह आठ प्रकार की प्रकृति है। यह ब्रह्म की अपरा प्रकृति (Lower Nature) है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म की एक दूसरी प्रकृति है- 'इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्'- इस अपरा से भिन्न मेरी दूसरी प्रकृति है जिसे परा प्रकृति (Higher Nature) कहते हैं।

इस प्रकार परा, अपरा, ब्रह्म की दो प्रकृतियां है। 'अपरा प्रकृति' यह संसार है, 'परा प्रकृति' ब्रह्म का चैतन्य रुप है, जिससे इस संसार का धारण होता है- 'ययेदं धार्यते जगत'। वह परा प्रकृति ही संसार को उत्पन्न करती है- 'एत घोनीनि भूतानि' इससे परे कुछ भी नहीं है- 'मत्तः परतरं नान्यत्', उसी में सब पिरोया हुआ है- 'मयि सर्वमिदं प्रोतम्' वही जलो में रस है, सूर्य चन्द्र में ज्योति है, पृथ्वी में गंध मैं हूँ, वहीं सब का बीज हूँ। जिस तत्व को हम जीव कहते हैं वह उसी ब्रह्म की 'परा प्रकृति' है। गीता के अनुसार परा प्रकृति कैसी है? इसका वर्णन सातवें अध्याय के पांचवे श्लोक 'जीव भूताम्' अर्थात् जो जीव बना हुआ है। श्री अरविन्द का कहना है कि 'जीवात्मिकाम्' और जीवभूताम् में आधारभूत भेद है। अगर 'जीवात्मिकाम् कहा तो इसका अर्थ है कि 'परा प्रकृति' और 'जीव' में कोई भेद नहीं है। गीता ने ऐसा नहीं कहा। गीता ने कहा है- जीवभूताय् परा प्रकृति जीव बनी हुई है। इसका यह अर्थ है कि परा प्रकृति अपने शुद्ध रुप में जीव नहीं है, जीव से बहुत अधिक है, महान है, जीव तो उसका एक रुप है, एक अंश है-ममैवांशः सनातनः श्री अरविन्द ने कहा कि

गीता के अनुसार जीव ब्रह्म नहीं है, ब्रह्म का अश है, ब्रह्म की पराप्रकृति 'जीवात्मक' नहीं है जीवभूत है। अगर ब्रह्म तथा जीव एक ही होते तो गीता को यह कहना चाहिए था कि परा प्रकृति 'जीवात्मक' है, यह नहीं कहना चाहिए था कि वह जीवभूत है। 'जीवभूत' ही ब्रह्म मे लीन होने का प्रयत्न कर सकता है, जीवात्मक तो पहले से ही ब्रह्म है, उसे ब्रह्म में लीन होने की बात कहना- मदगते नान्तरात्मना असगत है।[1]

गीता का कहना है कि जैसे प्राणियों में ब्रह्म की परा प्रकृति जीव रुप में, प्रकट होती है, वैसे ही वह पृथ्वी में गंध रुप में जल में रस रुप में, अग्नि में तेज रुप में, सूर्य चन्द्र में ज्योति रुप में प्रकट होती है। इन सबका आधार ये स्वयं नहीं है, ब्रह्म की परा प्रकृति ही सबका आधार है।

सांख्य शास्त्र को मानने वालों ने संसार के दो मुख्य तत्व बताये हैं- 'प्रकृति' तथा 'पुरुष'। ये दोनों एक दूसरे से अलग-अलग है। जितनी क्रियाएँ है, कर्म हैं, वे सब प्रकृति करती है, पुरुष नहीं करते, परन्तु प्रकृति के सान्निध्य के कारण प्रकृति के किये को पुरुष अपना किया मानती है। जिस प्रकार स्फटिक में पुष्प का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे प्रकृति के सात्विक, राजसिक, तामसिक कर्मों का पुरुष में प्रतिबिम्ब पड़ता है। वास्तव में पुरुष निष्क्रिय है, अकर्ता है, मुक्त स्वभाव है। सांख्य सिद्धान्त के अनुसार पुरुष का अपने को प्रकृति से अलग करके जान लेना ही मुक्ति है।

इस सम्बन्ध में श्री अरविन्द का कहना है कि गीता सांख्य सिद्धान्त तक आकर ही नहीं रुक जाती। गीता का कहना है कि सांख्य सिद्धान्त जिसे सत्व, रज्, तम् के रुप में प्रकृति कहता है, वह तो ब्रह्म की ही 'अपरा प्रकृति' है, यह निम्न श्रेणी की प्रकृति है। जब जीव अपने को इस प्रकृति से जुदा कर लेता है, तब प्रकृति के कर्म तो शान्त हो जाते हैं, परन्तु तब वह ब्रह्म की 'परा प्रकृति' के सम्पर्क में आता है, उच्च श्रेणी की प्रकृति के सम्पर्क में, ब्रह्म की जड़ प्रकृति का सम्पर्क छोड़कर ब्रह्म के सत् चित्त, आनंद रुप प्रकृति के सम्पर्क में आता है, और तब दिव्य शक्ति के संपर्क में आने के कारण उसका यह नया दिव्य जन्म होता है।

---

1. योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमोमतः।। श्रीमद् भगवद्गीता, 6-47

तृतीय अध्याय

गीता में जीवात्मा का स्वरूप

तृतीय अध्याय

जीवात्मा का स्वरुप

जीवात्मा का स्वरुप

जीवात्मा परमात्मा का अंश है, परन्तु प्रकृति के कार्य शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, आदि के साथ अपनी एकता मानकर वह 'जीव' हो गया 'जीवभूत'। उसका यह जीवपना वास्तविक नहीं है, बल्कि बनावटी है, जिस प्रकार नाटक में कोई पात्र बनता है, यह आत्मा जीव लोक में जीव बनती है।

भगवद्गीता के सातवें अध्याय के पांचवे श्लोक "अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि में पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।" में भगवान श्रीकृष्ण ने कहां है कि इस सम्पूर्ण जगत को मेरी 'जीवभूतां' पराप्रकृति ने धारण कर रखा है अर्थात अपरा प्रकृति (संसार) से वास्तविक सम्बन्ध न होने से भी जीव ने उससे अपना सम्बद्ध मान लिया है।

भगवान जीव के प्रति कितनी आत्मीयता रखते हैं कि उसको अपना ही मानते हैं- **'ममैवांशः'**। जीव को अपना ही नहीं मानते बल्कि उसको जानते भी है। उनकी यह आत्मियता महान, हितकारी, अखण्ड रहने वाली एवं स्वतः सिद्ध है। इस स्थल पर भगवान यह वास्तविकता प्रकट करते हैं, कि जीव केवल मेरा ही अंश है। इसमें प्रकृति का किञ्चिन्मात्र भी अंश नहीं है। जैसे शेर का बच्चा भेड़ों में मिलकर अपने को भेड़ मान लें ऐसे ही जीव शरीरादि जड़ पदार्थो के साथ मिलकर अपने असली चेतन स्वरुप को भूल जाता है। अतः इस भूल को मिटाकर उसे अपने को सदा सर्वथा चेतन स्वरूप ही अनुभव करना चाहिए। शेर का बच्चा भेड़ों के साथ मिलकर भी भेड़ नहीं हो जाता, जैसे कोई दूसरा शेर आकर उसे बोध करा दें कि देख तेरी और मेरी आकृति, स्वभाव, जाति, गर्जना, आदि सब एक समान है अतः निश्चित रुप से तू भेड़ नहीं है। बल्कि मेरे जैसा ही शेर है। ऐसे ही भगवान यहां पर 'मम एव' पदों से जीव को बोध कराते हैं कि हे जीव तू मेरा ही अंश है। प्रकृति के साथ तेरा संबंध कभी हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं।[1]

---

1 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः जीवभूतः सनातनः। मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।" अध्याय-15, श्लोक-7 श्रीमद् भगवद्गीता साधक सजीवनी- स्वामी राम सुखदास अध्याय 15, पेज नं0- 948, गीता प्रेस, गोरखपुर।

भगवद् प्राप्ति के सभी साधनों में 'अहंता' (मैं-पन) 'ममता' (मेरा पन) का परिवर्तन रुप, साधन बहुत सरल एवं श्रेष्ठ है, अहंता और ममता दोनों में साधक की जैसी मान्यता होती है। उसके अनुसार उसका भाव तथा क्रिया भी अपने आप होती है। साधक की अहता यह होनी चाहिए कि 'भगवान ही मेरे हैं' इन सभी का अनुभव है कि हम अपने को जिस वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदि का मानते हैं उसी के अनुसार हमारा जीवन बनता है। पर यह मान्यता 'जैसे मैं ब्राह्मण हूँ, मैं साधु हूँ, इत्यादि' केवल (नाटक के स्वांग की तरह) कर्तव्य पालन के लिए है, क्योंकि यह सदा रहने वाली नहीं है। परन्तु 'मैं भगवान का हूँ' यह वास्तविकता सदा रहने वाली है मैं ब्राह्मण हूँ, मैं साधु हूँ आदि भाव कभी हमसे ऐसा नहीं कहते कि 'तुम ब्राह्मण हो' या तुम साधु हो इसी प्रकार मन, बुद्धि, इन्द्रियॉ, शरीर, धन, जमीन, मकान आदि जिन पदार्थों को हम भूल से अपना मान रहे हैं वे हमें कभी भी ऐसा नहीं कहते हैं कि तुम हमारे हो, लेकिन सम्पूर्ण सृष्टि के सृष्टिकर्ता ईश्वर यह कहते हैं कि जीव मेरा ही है।

हमको यह विचार करना चाहिए कि शरीरादि पदार्थों को हम अपने साथ लेकर नहीं आये अपनी इच्छानुसार उसमें हम परिवर्तन नहीं कर सकते, उसको अपनी इच्छानुसार अपने पास सदैव नहीं रख सकते। उन वस्तुओं या पदार्थों को अपने साथ नहीं ले जा सकते, फिर भी इन सभी पदार्थों को हम अपना मानते हैं। यह हमारी भूल है। बचपन में हमारे मन, बुद्धि, इन्द्रियां, शरीर, जिस प्रकार थे, वे अब उस प्रकार नहीं रहे। उसमें परिवर्तन हो गये हैं, फिर भी 'मैं' जिस प्रकार बचपन में था, उसी प्रकार अब भी हूँ। ऐसा मैं मानता हूँ। इसका कारण स्पष्ट है कि शरीरादि में परिवर्तन होने पर भी हमारे अन्दर कोई परिवर्तन नहीं हुआ। जिसको परिवर्तन दिखाई पड़ता है। वह परिवर्तन रहित ही होता है इसलिए संसार के सभी पदार्थ और सभी मनुष्य हमारे साथी नहीं है।

<u>'मैं ईश्वर का हूँ'</u> इस प्रकार का भाव रखना अपने आप को भगवान में लगाना है। भक्तों में सबसे अधिक भूल यह होती है कि वह अपने आप को ईश्वर के प्रति समर्पित न करके, अपने मन, बुद्धि को ईश्वर के प्रति समर्पित करते हैं। 'मैं ईश्वर का हूँ' इस वास्तविकता को भूलकर मैं ब्राह्मण हूँ, मैं साधु हूँ, आदि भी मानते रहे और मन, बुद्धि को ईश्वर के प्रति समर्पित करते रहे तो यह दुविधा कभी मिटेगी नहीं और बहुत कोशिश करने पर भी मन, बुद्धि जैसे भगवान भी लगने चाहिए पर वैसे लगेंगे नहीं। भगवान ने इसी

अध्याय के चौथे श्लोक में 'मैं उस ईश्वर की शरण में हूँ' पदों से अपने आप को ईश्वर के प्रति समर्पित करने की बात कही है। इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास[1] भी कहते हैं कि पहले ईश्वर का होकर फिर नाम जप आदि साधन करें, तो अनेक जन्मों की बिगड़ी स्थिति अभी भी सुधर सकती है। इसका अर्थ यह है कि भगवान में केवल मन, बुद्धि लगाने की अपेक्षा अपने आप को भगवान के प्रति समर्पित करना ही श्रेष्ठ है। अपने आप को ईश्वर के प्रति समर्पित करने से मन, बुद्धि अपने आप सरलतापूर्वक ईश्वर के आराधना में लग जाती है। एक नाटक का पात्र हजारों दर्शको के समक्ष यह कहता है कि 'मैं रावण का बेटा मेघनाथ हूँ' और मेघनाथ की तरह वह अपनी सभी बाह्य क्रियाएं करने लगता है। लेकिन उसके भीतर यह भाव हमेशा विद्यमान रहता है कि यह तो स्वाग है। मैं वास्तविक रुप से मेघनाथ नहीं हूँ। इसी तरह साधकों को भी नाटक के स्वांग की तरह इस संसार रुपी नाट्यशाला में अपने-अपने कर्तव्य का पालन करते हुए भीतर से 'मैं तो भगवान का हूँ'। ऐसा भाव हमेशा रखना चाहिए।

जीवात्मा सदैव से ही ईश्वर का है- ''सनातनः।'' ईश्वर ने न तो कभी जीव का त्याग किया है और न तो कभी उससे विमुख ही हुए हैं। जीव भी भगवान का त्याग नहीं कर सकता। ईश्वर के द्वारा प्रदत्त स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करके वह ईश्वर से विमुख हुआ है जिस प्रकार स्वर्ण आभूषण तत्वतः स्वर्ण से अलग नहीं हो सकता उसी तरह जीव भी तत्वत· परमात्मा से पृथक नहीं हो सकता।[2] बुद्धिमान कहलाने वाले मनुष्य की सबसे बड़ी गलती यह है कि वह अपने अशी ईश्वर से विमुख हो रहा है, वह इधर ध्यान नहीं देता कि ईश्वर इतने दयालु और प्रेमी है कि हमारे न चाहने पर भी वह हमको चाहते हैं, न जानने पर भी वे हमको जानते हैं ईश्वर कितने उदार, दयालु और प्रेमी है इसका वर्णन भाषा, भाव, बुद्धि आदि के द्वारा नहीं हो सकता। ऐसे दयालु एवं प्रेमी ईश्वर को छोड़कर अन्य नाशवान जड़ पदार्थों को अपना मानना, बुद्धिमानी नहीं है, बल्कि यह बहुत मूर्खता होगी। जब मनुष्य ईश्वर की आज्ञानुसार अपने कर्तव्य का पालन करता है तब वह उस मनुष्य की इतनी

---

1 बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु। हेहि राम को नाम जपु तुलसीतजि कुसमाजु।।
गोस्वामी तुलसीदास- दोहावली 22

2. श्री भगवद्गीता - साधक सजीवनी स्वामी राम सुखदास, अध्याय 15, पेज 949, गीता प्रेस, गोरखपुर।

उन्नति कर देते हैं कि उस मनुष्य का जीवन सफल हो जाता है और जन्म मरण रुप बन्धन सदैव के लिए मिट जाता है। जब मानव गलती से कोई पाप कर देता है तब वह उसको दुःख देकर उस मनुष्य को चेतावनी देते हैं पुराने पापों को भुक्ताकर उसे शुद्ध करते हैं और नये पाप करने के लिए रोकते हैं।

जीव चाहे नरक में हो या स्वर्ग में हो या मनुष्य योनि में, पशु योनि में हो, ईश्वर उसको अपना एक अश मानते हैं। यह उनकी अहैतुकी कृपा, उदारता, एवं महत्ता है। जीव के कष्ट को देखकर भगवान दुखी भी होते हैं और कहते हैं कि उस मनुष्य को मेरे पास आने का पूरा अधिकार था, लेकिन वह मेरे पास नहीं आया इसलिए वह नरक में जा रहा है।[1]

मनुष्य के विषय में भगवान ने कहा है कि मनुष्य चाहे किसी भी स्थिति में क्यों न हो, भगवान उसे वहॉं स्थिर नहीं रहने देते, उसे अपनी ओर खींचते ही रहते हैं। जब हमारी सामान्य स्थिति में कुछ भी परिवर्तन (सुख-दुःख, आदरनिरादर आदि) हो, तब यह मानना चाहिए कि भगवान हमें विशेष रुप से याद करके नयी परिस्थिति पैदा कर रहे हैं, हमें अपनी ओर खींच रहे हैं। ऐसा मानकर साधक प्रत्येक परिस्थिति में विशेष भगवत् कृपा को देखकर मस्त रहे और भगवान को कभी भूले नहीं।

अंशी को प्राप्त करने में अंश को कठिनाई और देरी नहीं लगती है। अगर कठिनाई और देरी लगती भी है तो अंश ने अपनी अंशी से विमुखता मानकर उन शरीरादि को अपना मान रखा है, जो अपने नहीं है। अतः भगवान के सामने आते ही उसकी प्राप्ति स्वतः सिद्ध है। सम्मुख होना जीव का काम है, क्योंकि जीव ही भगवान से विमुख हुआ है। भगवान तो जीव को अपना ही मानते हैं, जीव भगवान को अपना मान ले यही सम्मुखता है। मनुष्य से यह बड़ी भारी भूल हो रही है कि जो व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति अभी नहीं है। अथवा जिसका मिलना निश्चित भी नहीं है और जो मिलने पर भी सदा नहीं रहेगी उसकी प्राप्ति में वह अपना पूर्ण पुरुषार्थ और उन्नति मानता है। यह मानव का सबसे बड़ा धोखा

---

1. आसुरी योनिमापन्नामूढ़ा जन्मनि जन्मनि। माम प्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमा गतिम्।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-16, श्लोक 20, गीता प्रेस, गोरखपुर।

अपने साथ है। वास्तव में जो नित्य प्राप्त और अपना है, उस परमात्मा को प्राप्त करना ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है, शूरवीरता है। हम धन, सम्पत्ति आदि सांसारिक पदार्थ कितने ही क्यों न प्राप्त कर ले, पर अन्त में तो वे सब नष्ट हो जायेगा और हम भी नहीं रहेंगे। उस (अविनाशी परमात्मा) को प्राप्त कर लेने मे ही शूरवीरता है। जो 'नहीं' है, उसको प्राप्त करने में कोई शूरवीरता नहीं है।

जीव जितना ही नाशवान पदार्थों को महत्व देता है, उतना अधिक वह पत्तन की ओर जाता है, और जितना ही अविनाशी परमात्मा को महत्व देता है, उतना ही वह ऊँचा उठता है, इसका कारण यह है कि वह (जीव) परमात्मा का अंश है।

यहां कहने का अर्थ यह है कि नाशवान सांसारिक पदार्थों को प्राप्त करके मनुष्य कभी भी बड़ा नहीं होता और न ही हो सकता है। केवल उसे बड़े होने का वहम् या धोखा हो सकता है और वास्तव में असली बड़प्पन (परमात्मा की प्राप्ति) से वंचित हो जाता है। नाशवान पदार्थों के कारण माना गया बड़प्पन कभी स्थिर नहीं रहता और परमात्मा के कारण होने वाला बड़प्पन कभी नहीं मिटता। इसलिए जीव जिसका अंश है, उस सर्वोपरि परमात्मा को प्राप्त करने से ही बड़ा होता है। इतना बड़ा हो जाता है कि देवता लोग भी उसका आदर करते हैं और यही कामना करते हैं कि वह हमारे लोक में आये। इतना ही नहीं, स्वयं भगवान् भी उसके आधीन हो जाते हैं।

'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृति तस्थानि कर्षति'[1] भगवान ने जिस प्रकार इसी श्लोक में जीव को अपने में स्थिन न कहकर उसको अपना अश बताया है, उसी प्रकार श्लोक के उत्तरार्द्ध मे मन तथा इन्द्रियों को प्रकृति का अश न कहकर उनको प्रकृति में स्थित बताया है। तात्पर्य यह है कि भगवान का अंश जीव सदा भगवान में ही स्थित है और प्रकृति में स्थित मन तथा इन्द्रियां प्रकृति के ही अंश है। मन और इन्द्रियों को अपना मानना और उससे अपना संबंध मानना ही उनको आकर्षित करना है।

यहॉ बुद्धि का तात्पर्य 'मन' शब्द में और पांच कर्मेन्द्रियों तथा पांच प्राणों का अर्न्तभाव 'इन्द्रिय' शब्द में मान लेना चाहिए। उपयुक्त वर्णित पदों में ईश्वर का कहना है कि

---

1. "मन· षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृति स्थानि कर्षति।" श्रीमद् भगवद्गीता अध्याय-15, श्लोक 7, पृष्ठ स0- 214

मेरा अश जीव मेरे में स्थित रहता हुआ भी भूल से अपनी स्थिति, शरीर, इन्द्रियॉ, बुद्धि, मन, प्रकृति के अंश होने पर भी प्रकृति से अलग नहीं है, ऐसे ही जीव भी मेरे अश होकर मेरे से पृथक नहीं है और न कभी हो सकते हैं। परन्तु यह जीव मुझसे अलग होकर मेरे स्वरुप या मुझे भूल गये हैं।

यहा मन और पांच ज्ञानेन्द्रियों का नाम लेने का तात्पर्य यह है कि इन छहों से सम्बद्ध जोड़कर ही जीव बधता है। अत· साधक को चाहिए कि शरीर इन्द्रियॉ-मन-बुद्धि को संसार के अर्पण कर दें अर्थात् संसार की सेवा में लगा दें।

इस संसार में मनुष्य किस कारण को लेकर दुःखी होता है, वह है मनुष्य भूल से शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई आदि नाशवान वस्तुओं को सच मान लेता है। इससे भी नीची बात यह है कि इस सामग्री के भोग और सग्रह को लेकर वह अपने को बड़ा मानने लगता है, जबकि इन सभी को अपना मानते ही इनका गुलाम हो जाता है। चाहे उस विषय के सम्बद्ध में हम जानकारी रखे या न रखे, जो पदार्थ हमारे लिए महत्वपूर्ण होते हैं उनसे हम छोटे हो जाते हैं और वो पदार्थ बड़े हो जाते हैं। भगवान का दास होने पर भगवान कहते हैं-'मैं तो हूँ भगतन का दास, भगत मेरे मुकुटमणि'। परन्तु जिसके हम दास बन चुके हैं, वे धनादि (धन, विद्या) जड़ पदार्थ कभी नहीं कहते-'लोभी मेरे मुकुटमणि'। वे तो केवल हमें अपना दास ही बनाते हैं। वास्तव में भगवान को अपना जानकर उनकी शरण में हो जाने से ही मनुष्य बड़ा बनता है, और ऊँचा उठता है। इतना ही नहीं, भगवान ऐसे भक्त को अपने से ही बड़ा मान लेते हैं और कहते हैं-[1] हे द्विज! मैं भक्तों के पराधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं। भक्तजन मेरे को अत्यन्त प्यारे हैं। मेरे हृदय पर उनका पूर्ण अधिकार है। कोई भी सांसारिक व्यक्ति, पदार्थ क्या हमें इतनी बड़ाई दे सकता है।

यह जीव परमात्मा का अंश होते हुए भी प्रकृति के अंश शरीरादि को अपना मानकर स्वयं अपना अपमान करता है, और अपने को नीचे गिराता है। अगर मनुष्य इन शरीर, इन्द्रियॉ और मन आदि को सांसारिक पदार्थ का दास न माने तो वह भगवान का इष्ट हो सकता है।[2] जिन्होंने भगवान को प्राप्त कर लिया है, उनको भगवान अपना प्रिय कहते हैं।

---

1 अह भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयों भक्तैर्भक्तजनप्रियः।। (श्रीमद् भगवद्गीता 9/4/63) श्रीमद् भगवद्गीता साधक संजीवनी- स्वामी रामसुखदास, पृष्ठ स0- 951, गीता प्रेस, गोरखपुर।

2 सर्वगुह्यतम भूय· शृणु में परम वचः। इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।। (गीता 18/64)

(गीता-12वे अध्याय के 13वे से उन्नीसवें श्लोक तक) परन्तु जिन्होने भगवान को प्राप्त नहीं किया है, किन्तु भगवान को प्राप्त करना चाहते हैं, उन साधको को वे 'अत्यन्त प्रिय' कहते है।[1] ऐसे परम दयालु परमात्मा को जो साधको को 'अत्यन्त प्रिय' और सिद्ध भक्तों को केवल 'प्रिय' कहते है, मनुष्य अपना नहीं मानता-यह उसका कितना प्रमाद है।

ससार का एक छोटा सा अश शरीर है, और परमात्मा का अश स्वय (जीवात्मा) है। यहां पर हम यह भूल कर बैठते है कि परमात्मा का अश ससार के अंश के साथ मिलकर ससार और परमात्मा दोनो को अपने अनुकूल बनाना चाहते हैं। साधक का काम है इस भूल को मिटा देना। इसके लिए वह शरीर को तो ससार के अनुकूल बना देता है और स्वय परमात्मा के अनुकूल बन जाता है। तात्पर्य यह है कि शरीर को ससार पर छोड़ दे, जैसे उसकी इच्छा हो, वैसे रखे और अपने को परमात्मा पर छोड़ दे, जैसी परमात्मा की मर्जी हो और वैसे ही रखे। ससार की चीज ससार को दे दे और परमात्मा को परमात्मा की चीज दे दे। यह तो ईमानदारी है। इस ईमानदारी का नाम ही 'मुक्ति' है। जिसकी चीज है उसे उसी को न देना, और संसार की भी चीज ले लेना, परमात्मा की भी चीज ले लेना बेइमानी है। इसी बेइमानी का नाम ही 'बन्धन' है।

संसार की चीज संसार पर और परमात्मा की चीज परमात्मा पर छोड़कर निश्चित हो जाये। अपनी कोई भी कामना न रखे न जीने की और न ही मरने की। भगवान यदि ऐसा कर दे तो ठीक रहता है, भगवान वर्षा कर देते हैं तो ठीक रहता, गर्मी ज्यादा पड रही है, थोडी कम कर देते हैं तो अच्छा था, बाढ आ गयी, वर्षा कम कर देते तो और भी अच्छा रहता-इस तरह से मनुष्य परमात्मा को भी अच्छा और अपने अनुकूल बनाना चाहता है और ससार को भी। इस बात को छोडकर अपने-आपको सर्वथा ईश्वर को अर्पित कर दे और भगवन से कह दें हे नाथ! आप मेरे को पृथ्वी पर रखे या स्वर्ग में अथवा नरक में, बालक रखे या जवान रखे अथवा बूढा, रखे, अपमानित रखे या सम्मानित रखे, सुखी या दुःखी रखे, जैसी भी परिस्थिति में रखे, पर मैं आपको भूलूँगा नहीं।

मनुष्य जिस घर को अपना मानता है, जिस कुटुम्ब को अपना मानता है, जिन रुपयों को अपना मानता है, उन्हीं की चिन्ता उसको होती है। ससार में लाखों करोड़ों घर है,

---

1 "भक्तास्तेऽतीव मे प्रिया।" (गीता 12/20)

अरबों आदमी है, अनगिनत रुपये हैं, पर उनकी चिन्ता नहीं होती, क्योकि उनको वह अपना नहीं मानता। जिनको वह अपना नहीं मानता उससे तो मुक्त है ही। ज्यादातर तो मुक्ति हो ही चुकी है, थोड़ी सी ही मुक्ति शेष बाकी है।

अब यह विचार करना चाहिए कि जिन थोड़ी सी चीजों को हम अपना मानते हैं, वे क्या हमेशा रहने वाली है। चीजें तो रहेंगी नहीं, पर बन्धन (उनका सबध) रह जायेगा, जो जन्म जन्मांतरण रहेगा। इसलिए साधक को चाहिए कि वह या तो शरीर को संसार के समक्ष अर्पण कर दे, जो कर्मयोग है, चाहे अपने को भगवान के समक्ष अर्पण कर दें, जो भक्ति योग है। इन सभी में कोई भी साधन अपना लें, तीनों का फल तो एक ही होगा।

यहां पर भगवान ने जिसको अपना अंश कहा है उसी को सातवें अध्याय के पांचवे श्लोक में अपनी 'परा प्रकृति' कहा है।[1] इसलिए यहां पर जीवभूत (जीव बना हुआ) शब्द आया है-'जीवभूतः' 'जीवभूताय'। परा और अपरा भगवान की शक्तियां है। (गीता अध्याय सात का चौथा पॉचवा श्लोक) जब से परा की दृष्टि भगवान से हटकर अपरा की ओर चली गयी, तभी से परा जन्म मरण के चक्र में पड़ गया। इसी कारण यहॉ पर इसी बात को 'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि' प्रकृतिस्थानि कर्षति।।' और सांतवें अध्याय मे 'ययेदं धार्यते जगत्' पदों से कहा गया है।

यद्यपि अपरा भी भगवान की ही है, परन्तु उसका स्वभाव परिवर्तनशील है, इसीलिए भगवान ने अपने को अपरा से अतीत बताया है- 'यस्मात्क्षरमतीतोऽहम्' (गीता 15/18) परन्तु परा और भगवान एक स्वभाव वाले ही है यानि अपरिवर्तनशील है। इसलिए 'ममैवांश' पद में एव कहने का अर्थ है, जीव केवल मेरा (भगवान का) अश है, इसमें प्रकृति का जरा भी अंश नहीं है। जैसे शरीर में माता-पिता दोनों के अशों का मिश्रण होता है, ऐसे जीव में मेरा और प्रकृति के अंश का मिश्रण (संयोग) नहीं है, प्रत्युत यह केवल मेरा अंश है। अतः इसका सम्बन्ध सिर्फ मेरे साथ है, प्रकृति के साथ नहीं। प्रकृति से यह स्वयं सम्बन्ध जोड़ता है।

अपरा प्रकृति परमात्मा की है पर जीव ने उसे अपना मान लिया है और उससे सुख पाने लगा है, तभी वह बन्धन में पड़ गया। अपनी न होने के कारण न कोई वस्तु ठहरती है

---

1 अध्याय 7, 5वा श्लोक-गीता में (जीवभूता ....)

न ही सुख ठहरता है। जीव ब्रह्म का अश नहीं है, अपितु ईश्वर (सगुण) का अंश है- 'ईश्वर अस जीव अबिनासी' (मानस 7/117/1) कारण है कि ब्रह्म चिन्मय सत्तमात्र है, अत उसमे अश अशी भाव हो सकता ही नहीं। जीव और ब्रह्म एक ही है अर्थात् अनेक रुप से जो जीव है, वहीं एक रुप मे ब्रह्म है। शरीर के साथ सम्बन्धित होने से वह जीव है और शरीर के साथ सम्बन्ध न होने से वह ब्रह्म है। वास्तविकता यह है, जींव और ब्रह्म दोनो भगवान के अंश है।[1] इसलिए भगवान ने अपने को ब्रह्म की प्रतिष्ठा (आधार) वताया है- 'ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठाहम् (14/27) और ब्रह्म को अपने ही समग्र रुप का अग बताया है-'ते ब्रह्म तद्विदु. . ...' (7/27-30)

मन और इन्द्रिया जिसके अश है, उसी मे रहते है- 'प्रकृतिस्थानि'। इस तरह से जीव को यह समझना चाहिए कि मै भी जिसका अश हूँ, मुझे उसी मे निरन्तर रहना चाहिए, उसी के साथ संबंध जोडना चाहिए। यह सम्बद्ध स्वय ही बनाना पड़ेगा क्योकि जगत से भी जो सम्बद्ध है, वह स्वय ही है, परमात्मा से स्वयं ही विमुख हुआ है। जगत के सम्मुख (सबध जोडने) होने मे जगत कारण नहीं है और परमात्मा से विमुख होने (अलग होने) मे परमात्मा कारण नहीं है, दोनो ही मे मै स्वय कारण है। परमात्मा का अंश होने से जीव स्वतन्त्र है, इसलिए उसका सदुपयोग स्वय को ही करना है। 'उद्धरेदात्मनात्मानम्' (गीता 6/5)

प्रकृति के साथ मन और इन्द्रियो का नित्य और वास्तविक सम्बन्ध है, पर मन और इन्द्रियों का स्वयं (आत्मा) का अनित्य और माना हुआ सम्बन्ध है। अनित्य संबंध कभी भी स्थायी नहीं रहता, हमेशा बदलता और मिटता रहता है। स्वय का नित्य संवध परमात्मा के साथ है, जो कभी नहीं बदलना और न मिटता। परन्तु अनित्य सबध को स्वीकार कर लेने से उस नित्य सबंध से विमुखता हो जाती है, जिससे उसका अनुभव नहीं होता।

जीव भगवान का सनातन अंश है और ईश्वर के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ना अर्थात् उसको अपना मानना ही वास्तविक पुरुषार्थ है। शरीर से होने वाले पुरुषार्थ में तो क्रिया मुख्य है, जो केवल ससार के लिए ही होती है, क्योंकि शरीर संसार का अश है। परन्तु स्वयं

---

1 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्यस्थ च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।।' श्रीमद् भागवद्गीता' अध्याय-14/27 श्लोक, पृष्ट स0- 208

से होने वाले पुरुषार्थ में भाव मुख्य है। इसलिए बुराई- रहित होना, भगवान को अपना मानना ये स्वयं के पुरुषार्थ है। बुराई रहित होने से मनुष्य संसार के लिए उपयोगी हो जाता है। जब तक ईश्वर के साथ वह अपना सबंध नहीं जोड़ता, तब तक मनुष्य भगवान के लिए उपयोगी नहीं होता है।

यदि कोई मनुष्य इस भावना से मैं भगवत्प्रेमी हो जाऊ, मैं बुराई रहित हो जाऊ, मैं असग हो जाऊ तो वह पुरुषार्थी है। परन्तु इसके लिए पहले साधक को यह अनुभव करना चाहिए कि मैं बुराई-रहित हो सकता हूँ, असंग हो सकता हूँ, प्रेमी हो सकता हूँ। इन सभी के लिए साधक को यह जानना चाहिए कि संसार के नाते हम सब एक है, आत्मा के नाते भी हम सभी एक ही है, और परमात्मा के नाते भी हम सभी लोग एक है। इसलिए जैसे अपने शरीर के हित का भाव रहता है, ऐसे ही सम्पूर्ण शरीरों के हित का भाव रहना चाहिए। यदि हम सम्पूर्ण शरीरों के साथ अपने शरीर की एकता मान ले तो बुराई-रहित हो सकते हैं। सम्पूर्ण शरीर-संसार को छोड़कर हम भगवत्प्रेमी हो सकते हैं।

यहां पर हम सभी लोगों का संबध परमात्मा के साथ हैं-'ममैवाशो जीवलोके' इसलिए हम परमात्मा में ही स्थित है। परन्तु शरीर इन्द्रियॉ, मन-बुद्धि का सबध अपरा प्रकृति से है, इसलिए वे सभी प्रकृति में ही स्थित है-'प्रकृतिस्थानि'।[1] शरीर के साथ हमारा कभी मिलन नहीं हुआ, है भी नहीं और होगा भी नहीं, हो भी नहीं सकता और परमात्मा से अलग हम कभी हुए भी नहीं है भी नहीं, होंगे भी नहीं, हो सकते भी नहीं। हमारे से दूर कोई चीज है तो वह शरीर है और पास कोई चीज है तो परमात्मा है। यदि कामना, ममता, तादात्म्य की भावना के कारण मनुष्य को उलटा दिखता है, अर्थात् शरीर पास दिखता है और परमात्मा दूर।

शरीर से संबंध विच्छेद करने पर साधक को तीन बातें मानना अनिवार्य हो जाता है-'<u>शरीर मेरा नहीं है,</u> क्योंकि इस पर मेरा वश नहीं है।' दूसरा <u>'मेरे को कुछ नहीं चाहिए'</u> और तीसरी बात <u>'मेरे को अपने लिए कुछ नहीं करना है'</u>। जब तक साधक स्थूल' सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों से अपना संबंध मानता रहता है, तब तक स्थूल शरीर से होने

---

1 "विकराञ्च गुणाश्चैव विद्धि प्रकृति सम्भावान्"। श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय- 13, 19वॉं श्लोक पृष्ठ स0-192, गोविन्द भवन-कार्यालय, गीता प्रेस, गोरखपुर।

वाले 'कर्म' सूक्ष्म शरीर से होने वाले 'चिन्तन' और कारण शरीर से होने वाली 'स्थिरता' ये तीनो ही उसे बांधे रहते हैं। परन्तु तीनों शरीरों से जब संबध विच्छेद हो जाता है तो कर्म, चिन्तन, स्थिरता से असंग हो जाता है।

यदि भगवान से नित्य सबध मान लिया जाये तो साधक को यह मानना चाहिए कि 'ईश्वर मेरे है' 'मैं ईश्वर का हूँ', और सब कुछ प्रभु का है। परमेश्वर से जब नित्य संबंध हो जाता है तब भगवत्प्रेम की प्राप्ति हो जाती है। भगवत्प्रेम की प्राप्ति में ही मनुष्य जीवन की पूर्णता है।

मनुष्य में तीन प्रकार की इच्छाएं होती है-भोग की इच्छा, तत्व की इच्छा, प्रेम की इच्छा। भोग की इच्छा **'कामना'**, तत्व की इच्छा **'जिज्ञासा'**, प्रेम की इच्छा **'पिपासा'** (अभिलाषा) कहलाती है। भोग की कामना शरीर को लेकर, तत्व की जिज्ञासा स्वरुप को लेकर और प्रेम की अभिलाषा परमात्मा को लेकर होती है। शरीर को जो लोग अपना मानते हैं, वह भूल करते हैं, क्योंकि शरीर तो प्रकृति का अंश मात्र है। अतः शरीर को लेकर होने वाली भोग की इच्छा असत् होने के कारण अपनी नहीं है। परन्तु तत्व की और प्रेम की इच्छा अपनी है, भूल से नहीं है। इसलिए शरीर को निष्कामभावपूर्वक परिवार की, समाज की और संसार की सेवा में लगाने से अथवा तत्व की जिज्ञासा तेज होने से भूल मिट जाती है। जब भूल मिट जाती है तो भोग की इच्छा भी मिट जाती है। भोग की इच्छा मिटने से तत्व की जिज्ञासापूर्ण हो जाती है और साधक को स्वरुप में स्वाभाविक स्थिति का अनुभव हो जाता है अर्थात् उसे तत्व का ज्ञान हो जाता है, वह 'जीव-मुक्त' हो जाता है। फिर स्वरुप जिसका अंश होता है, उस परमात्मा के प्रेम की इच्छा जागृत होती है। मात्र जीव परमात्मा के अंश है, इसलिए मात्र जीवों की अंतिम इच्छा प्रेम की है। प्रेम की इच्छा सार्वभौम इच्छा है। प्रेम की प्राप्ति होने पर मानव जीवन (जन्म) पूर्ण हो जाता है, फिर कुछ शेष नहीं बचता है।

अब यहाँ भगवान अध्याय 15 में वर्णित करते हैं[1]– 'वायुर्गन्धानिवाशयात्'-जैसे वायु इत्र के फोहे से गन्ध ले जाती है, किन्तु वह गन्ध स्थायी रुप से वायु में नहीं रहती, क्योंकि वायु और गन्ध का नित्य संबंध नहीं है, उसी प्रकार इन्द्रियां, मन, बुद्धि, स्वभाव आदि को

---

1. 'शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वुर.। गृहीत्वैतानि सयति वायुर्गन्धानिवाशयात्।।' अध्याय-15, श्लोक 8, पृष्ठ स0- 215

अपना मानकर जीवात्मा उनको साथ लेकर दूसरी योनि मे जाती है। कहने का तात्पर्य है कि जैसे वायु तत्वत. गन्ध से निर्लिप्त है, ऐसे ही जीवात्मा तत्वतः मन, इन्द्रियॉ, शरीरादि में मैं-मेरेपन की मान्यता होने के कारण वह (जीवात्मा) इनका आकर्षण करता है।

जिस प्रकार से वायु आकाश का कार्य होते हुए भी पृथ्वी के अश गन्ध को साथ लिये घूमती है, ऐसे ही जीवात्मा परमात्मा का सनातन अंश है और वह प्रकृति के कार्य (प्रतिक्षण बदलने वाला) शरीर को साथ लिये भिन्न-भिन्न योनि में घूमता रहता है। जड़ होने के कारण वायु में यह विवेक नहीं है कि वह गन्ध को न ग्रहण करें, परन्तु जीवात्मा को तो यह विवेक मिला हुआ है। चाहे जब शरीर से सम्बद्ध बना सकता है और जब चाहे सम्बन्ध मिटा सकता है। ईश्वर ने संसार में केवल मनुष्य मात्र को ही यह स्वतन्त्रता दे रखी है चाहे वह किसी से सबध रखे या न रखे।

<u>ईश्वर ने यहा तीन शब्द दृष्टात के रुप मे दिये हैं</u>- (1) <u>वायु</u> (2) <u>गन्ध</u> (3) <u>आशय</u>। 'आशय' कहते हैं स्थान को, जैसे जलाशय (जल + आशय) अर्थात् जल का स्थान। यहां आशय नाम स्थूल शरीर का है, जिस तरह से गन्ध के स्थान इत्र के फोहे से वायु गन्ध ले जाती है और फोहा पीछे पड़ा रहता है, इसी प्रकार वायु रुप जीवात्मा गन्ध रुप सूक्ष्म और कारण शरीरी को साथ लेकर जाता है। तब गन्ध का आशय रुप स्थूल शरीर पीछे ही रह जाता है। यहॉ पर ईश्वर शब्द जीवात्मा का वाचक है। यहां पर जीवात्मा से तीन प्रकार की भूले हो गयी है-

(1) अपने को मन, बुद्धि, शरीरादि, जड़ पदार्थों का स्वामी मानता है, पर वास्तव में बन जाता है उसका दास।

(2) अपने को उन जड़ पदार्थों का स्वामी मान लेता है, जिस कारण अपने वास्तविक कारण परमात्मा को भूल जाता है जो उसका वास्तविक स्वामी है।

(3) जड़ पदार्थों से माने हुए संबंध का त्याग करने में स्वाधीन होने पर भी उसका त्याग नहीं करता।

परमात्मा ने जीवात्मा को शरीरादि सामग्री का सदुपयोग करने की स्वाधीनता दी है। उनका सदुपयोग करके अपना उद्धार करने के लिए ये वस्तुएं दी है, उनका स्वामी बनने के

लिए नहीं। परन्तु जीव से यहा बहुत बड़ी भूल हो जाती है। वह उस सामग्री का सदुपयोग नहीं, वरन् उनका मालिक बन बैठा है, पर वास्तविकता यह है कि वह वास्तव में उसका गुलाम बन बैठा है। उनका सदुपयोग करके अपना उद्धार करने के लिए ये वस्तुएं दी है, उनका स्वामी बनने के लिए नहीं। परन्तु जीव से यह बहुत बड़ी भूल होती है। यहा केवल वहम् होता है कि मैं इसका मालिक हूॅ। जड़ पदार्थों का मालिक बन जाने से एक तो उसे उन पदार्थों की 'कमी' का अनुभव होता है और दूसरा यह अपने को 'अनाथ' मान लेता है।

जिस मनुष्य को अधिकार प्यारा लगता है, वह परमात्मा को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि जो किसी व्यक्ति, वस्तु, पद आदि का स्वामी होता है, वह अपने स्वामी को भूल जाता है-[1] उदाहरणार्थ, जिस समय बालक केवल मॉ को अपना मानकर उसे ही चाहता है, उस समय वह मां के बिना रह ही नहीं सकता। किन्तु वही बालक जब बड़ा होकर गृहस्थ बन जाता है और अपने को स्त्री, पुत्र आदि का स्वामी मानने लगता है, तब उसी मॉ का पास रहना उसे नहीं अच्छा लगता। यह स्वामी बनने का परिणाम होता है। इसी प्रकार यह जीवात्मा भी शरीरादि जड़ पदार्थों का स्वामी वनकर (ईश्वर) वारतविक स्वामी परमात्मा को भूल जाता है उनसे विमुख हो जाता है। जब तक यह विमुखता रहती है तो वह (जीवात्मा) कष्ट पाता रहता है।

<u>जीव की दो शक्तियॉ हैं</u>- प्राणशक्ति, जिससे सासों का आवागमन होता है, इच्छा शक्ति, जिससे भोगों को पाने की इच्छा करता है। प्राण शक्ति की समाप्ति होने पर मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होता है। जड़ का संग करने से कुछ करने और पाने की इच्छा बनी रहती है। प्राणशक्ति के रहते हुए इच्छाशक्ति अर्थात कुछ करने और कुछ पाने की इच्छा मिट जाये, तो मनुष्य जीव मुक्त हो जाता है। प्राणशक्ति नष्ट हो जाये और इच्छाएं बनी रहें, तो दूसरा जन्म लेना ही पड़ता है। नया शरीर मिलने पर इच्छाशक्ति पूर्वजन्म (पहले की) की रही तो , प्राण शक्ति नयी मिल जाती है।

यहां पर 'गृहीत्वा' पद का तात्पर्य है जो अपने नहीं है, उनसे राग, प्रियता, ममता करना। जिन मन, इन्द्रियों के साथ अपनापन करके जीवात्मा उनको साथ लिए फिरता है, वे

---

1 श्रीमद् भगवद्गीता साधक संजीवनी-स्वामी राम सुख दास, गीता प्रेस, गोरखपुर।

मन, इन्द्रियॉ कभी नहीं कहती कि हम तुम्हारे है और तुम हमारे हो। इन सभी पर जीवात्मा का शासन नहीं चलता फिर भी इनके साथ अपनापन रखता है, जो कि भूल ही है। वास्तव में यह अपनेपन का सम्बन्ध ही बाधने वाला होता है।

वस्तु के विषय मे कहा जाता है कि वह हमे मिले या न मिले, बढ़िया हो या घटिया हो, काम आये या न आये, दूर हो या पास हो, यदि उस वस्तु से हमारा संबंध बना हुआ है, तो वह अपनी है।

अपनी ओर से छोड़े बिना शरीरादि में ममता का संबंध मरने पर भी नहीं छूटता। इसलिए मृत शरीर की हड्डियों को गगाजी में डालने से उस जीव की आगे गति होती है। इस माने हुए सबंध को छोड़ने मे हम सर्वथा स्वतन्त्र तथा सबल है। यदि शरीर के रहते हुए ही हम उससे अपनापन हटा दें, तो जीते जी मुक्त हो जाये।

जो अपना नहीं है, उसको अपना मानना और जो अपना है, उसको अपना न मानना यह बहुत बड़ा दोष है, जिसके कारण ही पारमार्थिक मार्ग में उन्नति नहीं होती।

इस श्लोक में आया 'एतानि' पद[1] 'मनः षष्ठानीइन्द्रयाणि' (पाच ज्ञानेन्द्रियां एवं मन) का वाचक है। यहां 'एतानि' पद को सत्रह तत्वों के समुदाय रुप सूक्ष्मशरीर एवं कारणशरीर (स्वभाव) का भी द्रोयतक मानना चाहिए। इन सबको ग्रहण करके जीवात्मा दूसरे शरीर में जाती है। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों का त्याग करके नये वस्त्र धारण करता है, ऐसे ही जीवात्मा पुराने शरीर को त्याग करके नया शरीर प्राप्त करती है।[2]

वास्तव में शुद्ध-चेतना-(आत्मा) का किसी शरीर को प्राप्त करना और उसका त्याग करके दूसरे शरीर में जाना हो नहीं सकता, क्योंकि आत्मा अचल और समान रुप से सर्वत्र व्याप्त है।[3] शरीरों का ग्रहण एवं त्याग परिछिन्न (एकदेशीय) तत्व के द्वारा ही होना सम्भव होता है, जबकि आत्मा कभी किसी भी देश कालादि में परिच्छिन्न नहीं हो सकता। परन्तु जब यह आत्मा प्रकृति के कार्य शरीरादि से तादात्म्य कर लेती है अर्थात् प्रकृतिस्थ हो जाता है,

---

1 'ममैवाशो जीवलोके जीवभूत सनातन । मन षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।'' (15/7)

2 वासासि जीर्वानियथा विहाय, नवानि गृह्नति नरीऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि सयाति नवानि देही।।

3 'अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिद ततम्। विनाशमण्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।। गीता (2/17)
नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि नैन दहति पावकः। न चैन क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत ।। गीता, अध्याय-2 श्लोक-22

तो (स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनो शरीरो में अपने को तथा अपने में तीनों शरीरों को धारण करने अर्थात् उनमें अपनापन करने से) वह प्रकृति के कार्य शरीरादि को ग्रहण-त्याग करने लगता है। तात्पर्य यह है कि शरीरो को 'मैं' और 'मेरा' मान लेने के कारण आत्मा सूक्ष्म शरीर के आने जाने को अपना आना-जाना मान लेती है। जब प्रकृति के कार्य शरीर से अपना तादात्म्य मिटा लेते है अर्थात् सूक्ष्म, स्थूल, और कारण शरीर से आत्मा का माना हुआ सबध नहीं रहता, तब ये शरीर अपने कारणभूत समष्टि तत्वों मे लीन हो जाते हैं। तात्पर्य है कि पुनर्जन्म का मूल कारण जीव का शरीर से माना हुआ तादात्म्य है।

अध्याय 15 के सातवें श्लोक मे 'कर्षति' पद और अध्याय पन्द्रह के आंठवे श्लोक 'ग्रहीत्वा' पद आया है। 'कर्षति' का अर्थ है अपनी तरफ खींचना और 'गृहीत्वा' का अर्थ है पकड़ना, अर्थात् तादात्म्य करना। वायु का दृष्टान्त देने का तात्पर्य है कि जीव वायु की तरह निर्लिप्त रहता है। शरीर से लिप्त होने पर भी वास्तव में निर्लिप्तता कभी मिटती नहीं।[1]

प्रत्येक भोग से स्वाभाविक उपरति होती है-यह सबका अनुभव है। योगों में प्रवृत्ति तो कृत्रिम होती है, पर निवृत्ति स्वाभाविक होती है। रुचि तो जीव करता है, पर अरुचि तो स्वत· होती है। जैसे तम्बाकू, पीने वाले धुआ भीतर खींचते हैं, परन्तु वह स्वत· बाहर निकलता है। मुह बंद करें तो नाक से निकल जाएगा। धुआ तो टिकता नहीं, पर आदत बिगड़ जाती है, व्यसन लग जाता है। ऐसे ही भोग तो टिकते नहीं, पर आदत बिगड़ जाती है। भोग तो स्वतः छूट जाता है, उनसे अरुचि स्वत होती है, पर आदत बिगड़ने से जीव उनको बार-बार पकड़ता रहता है, और 'ईश्वर' अर्थात् स्वतन्त्र होते हुए भी परवशता का अनुभव करता है। भोगों में लिप्त हुए भी वास्तव में इसकी निर्लिप्तता मिटती नहीं, पर इनकी तरफ यह ध्यान नहीं देता और इसको महत्व नहीं देता। शरीर से संबंध न होते हुए भी यह उससे संबंध मानकर सुख लेता है। संबंध तो अनित्य होता है, पर संबंध-विच्छेद नित्य होता है। कारण कि ससार की जाति का (जड़ तथा परिवर्तनशील) होने से शरीर विजातीय है। विजातीय वस्तु से संबंध होना ही नहीं है। परमात्मा का अश होने से जीव की परमात्मा के साथ सजातीयता है। अतः इसका स्वतः संबंध परमात्मा के साथ ही है। अगर जीव सन्तों की, भगवान की, शास्त्रों की वाणी पर विश्वास करके परमात्मा से संबंध जोड़ लें तो फिर इसको अनुभव होगा। परन्तु यह पदार्थों के संबंध को मुख्यता दे देता है। जब तक यह

---

1 अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्यय.। शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।। गीता, अध्याय 13, श्लोक-31।

भगवान के साथ सबध नहीं जोडता, तब तक भगवान् कोई भी सबध टिकने नहीं देता, तोडता ही रहता है। जीव कितना ही जोर लगा ले, वह ससार का सबध स्थायी रख सकता ही नहीं।[1]

यहा पर वर्णित अध्याय 15 मे, श्लोक 9 मे कहा गया है 'अधिष्ठाय् मनश्चायम्' मन मे अनेक प्रकार के (अच्छे बुरे) सकल्प विकल्प होते रहते हैं। इनसे 'स्वय' की स्थिति मे कोई अन्तर नहीं आता, क्योकि स्वय (चेतन तत्व, आत्मा) जड शरीर, इन्द्रियॉ, मन, बुद्धि से अत्यन्त परे और उनका आश्रय तथा प्रकाशक है। सकल्प विकल्प आते जाते है और 'स्वय' सदा ज्यो का त्यो रहता है। मन का सयोग होने पर ही सुनने, देखने, स्पर्श करने, स्वाद लेने तथा सूँघने का ज्ञान होता है। जीवात्मा को मन के बिना इन्द्रियों से सुख-दु ख नहीं मिल सकता। इसलिए यहा मन को अधिष्ठित करने की बात कही गयी है। तात्पर्य यह है कि जीवात्मा मन को अधिष्ठित करके अर्थात् उसका आश्रय लेकर ही इन्द्रियो के द्वारा विषयो का सेवन करता है। 'श्रोत्र चक्षु स्पर्शन च रसन घ्राणमेव च' श्रवणेन्द्रिय अर्थात् कानों में सुनने की शक्ति (मनुष्य अपने मन में निरन्तर कुछ न कुछ सोचता रहता है, जिसे संकल्प, विकल्प, मनोरथ या मनोराज्य कहते है। निद्रा के समय वहीं 'स्वप्न' होकर दिखने लगता है। मन पर बुद्धि का प्रभाव रहने के कारण हम मन मे आयी हुई प्रत्येक बात को प्रकट नहीं करते, परन्तु बुद्धि का परदा हटने पर मन में आयी प्रत्येक बात को कहना या उसके अनुसार आचरण करना 'पागलपन' कहलाता है। इस प्रकार मनोराज्य, स्वप्न तथा पागलपन (ये तीनो एक ही हैं) 'श्रोतम्' है। आज तक हमने अनेक प्रकार के अनुकूल (स्तुति, मान, आर्शीवाद, मधुर गान, वाद्य आदि) और प्रतिकूल (निन्दा, अपमान, श्राप, गाली आदि) शब्द सुने हैं, पर उनसे 'स्वय' में क्या फरक पड़ा?[2]

अध्याय-15 के श्लोक सख्या 7-8-9 में महत्वपूर्ण बातें कही गयी है। एक हैं 'ममैवाश.' दूसरी है जीव के लिंग शरीर की बात। 'ममैवांश' गीता के इस शब्द को टीकाकारों ने अत्यधिक महत्व दिया है। वैसे तो अश का विचार गीता में 15वें अध्याय के अतिरिक्त 11वें अध्याय के 42वें श्लोक में भी आया है। वहां 'विष्टभ्य अहम् इदम् कृत्स्नम्

---

1 'श्रोत्र चक्षु स्पर्शन च रसन घ्राणमेव च। अधिष्ठाय मनश्चाय विषयानुपसेवते।। "श्रीमद् भगवद्गीता" अध्याय-15 का श्लोक-9, गीता प्रेस, गोरखपुर।

2 श्रीमद् भगवद्गीता- साधक सजीवनी स्वामी रामसुख दास, अध्याय-15, पेज न0- 956, गीता प्रेस, गोरखपुर।

एकांशेन'- अपने एक अश से मैंने इस सम्पूर्ण जगत् को धारण किया। यही बात ऋग्वेद के पुरुष सूक्त (10.90.3) मे भी कही गयी है। वहा पर यह कहा गया- ''पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्याऽमृत दिवि'' अर्थात् उसके एक पाद से, एक अश से यह विश्व बना है, तीन पाद, तीन अश उसके द्युलोक मे है। इसका अभिप्राय यह है कि यह जो चराचर जगत् दिखायी देता है, वह तो उसका कुछ अश है, द्युलोक मे देखे तो यह सृष्टि न जाने कहा चली जाती है।

वेद ने कहा कि 'सृष्टि' ब्रह्म का एक पाद है, गीता ने कहा 'जीव' ब्रह्म का एक 'अश' है। 'अश' का स्पष्टीकरण करते हुए वेदान्त के समर्थक शकराचार्य का कहना है कि जिस प्रकार आकाश सर्वव्यापक है, परन्तु घडे का आकाश, घर के भीतर का आकाश-घटाकाश-मठाकाश उसके अश कहे जा सकते है, वैसे ही ब्रह्म का जीव अश है। इस देह मे जो ब्रह्म जीव रुप मे वर्तमान है, वह ब्रह्म का अश है- 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मेव नापर'। रामानुज 'ममैवाश.' की इससे भिन्न व्याख्या करते हैं। वे विशिष्ट द्वैत के समर्थक है। वे 'जीव' को परमात्मा का वास्तविक अर्थों मे 'अंश' मानते हैं। जीव परमात्मा का अश है, उससे भगवान मिलते है 'निवसिष्यसि मयि एव' मुक्त होने पर मुझ में ही निवास करेगा इसी कारणवश रामानुज ने बताया कि गीता में ऐसा कहा गया है। इसी के आधार पर भक्तिमार्ग आगे बढता है। श्री अरविन्द रामानुज की व्याख्या के अनुसार ही जीव को ब्रह्म का अश सही अर्थों में मानते हैं।

अध्याय 15 के 7, 8, 9वे श्लोकों मे तिलक के अनुसार जीव की तीन अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। सातवे श्लोक में बताया गया कि सूक्ष्म या लिग शरीर क्या है। लिग शरीर पाच इन्द्रियो तथा मन के संघात का नाम है। आठवें श्लोक में बताया गया कि लिंग शरीर इस स्थूल देह में प्रवेश करता है, और कैसे इससे बाहर निकलता है। जैसे वायु गन्ध को लेकर चलती है, वैसे लिंग शरीर, मन तथा इन्द्रियों को सूक्ष्म रुप में लेकर पुराने शरीर से निकल कर नये शरीर (जन्म) को धारण करता है। नवें श्लोक में कहा जब लिंग शरीर देह धारण कर लेता है, तब विषयो का उपभोग कैसे करता है। देह धारण कर लेने के बाद वह कान, आख, त्वचा, जीभ, नाक, मन का आश्रय लेकर विषयों का सेवन करता है।

किसी पौत्र के जन्म तथा पुत्र की मृत्यु का समाचार एक साथ मिला। दोनों समाचार सुनने से एक के 'जन्म' तथा दूसरे की 'मृत्यु' का जो ज्ञान हुआ, उस ज्ञान में कोई अन्तर नहीं आया। जब ज्ञान मे कोई अन्तर नहीं तो ज्ञाता में अन्तर कैसे आयेगा। अत· जन्म और मृत्यु का समाचार सुनने से अन्तःकरण में (माने हुए सम्बन्ध के कारण) जो असर होता है, उसकी तरफ दृष्टि न रखकर इस 'ज्ञान' पर ही दृष्टि रखनी चाहिए। इसी तरह अन्य इन्द्रियों के संबध में भी समझ लेना चाहिए।

नेत्रेन्द्रिय अर्थात् नेत्रों में देखने की शक्ति 'चक्षु·' है। आज तक हमने अनेक सुन्दर, असुन्दर, मनोहर, भयानक रूप या दृश्य देखे हैं, पर उनसे अपने 'स्वरूप' में क्या फरक पडा?

स्पर्शेन्द्रिय अर्थात त्वचा मे स्पर्श करने की शक्ति 'स्पर्शनम्' है। जीवन में हमारे को अनेक कोमल, कठोर, चिपचिपे, ठण्डे, गरम आदि स्पर्श प्राप्त हुए हैं, पर उनमें 'स्वयं' की स्थिति में क्या अन्तर आया?

रसेन्द्रिय अर्थात् जीभ में स्वाद लेने की शक्ति 'रसनम्' है। कड़ुआ, तीखा, मीठा, कसैला, खट्टा और नमकीन ये छः प्रकार के भोजन के रस है। आज तक हमने तरह-तरह के रस युक्त भोजन किये हैं। पर विचार करना चाहिए कि उनसे 'स्वयं' को क्या प्राप्त हुआ?

ध्राणेन्द्रिय अर्थात् नासिका में सूँघने की शक्ति 'घ्राणम्' है। जीवन में हमारी नासिका ने तरह-तरह की सुगन्ध और दुर्गंध ग्रहण की है, पर उनसे 'स्वयं' में क्या फरक पड़ा?

श्रोत का वाणी से, नेत्र का पैर से, त्वचा का हाथ से रसना का उपस्थ से, और घ्राण का गुदा से (पांचों ज्ञानेन्द्रियों का पाचों कर्मेन्द्रियों से) घनिष्ठ सबंध है। जैसे, जो जन्म से बहरा होता है, वह गूंगा भी होता है। पैर के तलवें में तेल की मालिश करने से नेत्रों पर तेल का असर पड़ता है। त्वचा के होने से ही हाथ स्पर्श का काम करते हैं। रसनेन्द्रिय के वश में होने से उपस्थेन्द्रिय भी वश में हो जाती है। घ्राण से गन्ध का ग्रहण तथा उससे सबंधित गुदा से गन्ध का त्याग होता है।

पांच महाभूतों में एक-एक महाभूत के सत्वगुण अंश से ज्ञानेन्द्रियाँ, रजोगुण अंश से कर्मेन्द्रियां और तमोगुण-अंश से शब्दादि पांचों विषय बने है। पांचों महाभूतों के मिले हुए

सत्वगुण अश से मन और बुद्धि, रजोगुण अश से प्राण और तमोगुण अश से शरीर बना है। 'विषयानुपसेवते'- जैसे व्यापारी किसी कारणवश एक जगह से दूकान उठाकर दूसरी जगह दूकान लगाता है, ऐसे ही जीवात्मा एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर मे जाता है और जैसे पहले शरीर में विषयो का रागपूर्वक सेवन करता था, ऐसे ही दूसरे शरीर मे जाने पर (वही स्वभाव होने से) विषयो का सेवन करने लगता है। इस प्रकार जीवात्मा बार-बार विषयों मे आसक्ति करने के कारण ऊँच-नीच योनियों मे भटकता रहता है।

भगवान ने यह शरीर (मनुष्य रुपी शरीर) अपना उद्धार करने के लिए दिया है, सुख-दु ख भोगने के लिए नहीं। जैसे ब्राह्मण को गाय दान करने पर हम उसको चारा-पानी तो दे सकते है, पर दी हुई गाय का दूध पीने का हमे हक नहीं है, ऐसे ही मिले हुए शरीर का सदुपयोग करना हमारा कर्तव्य है, पर इसे अपना मानकर सुख भोगने का हमे हक नहीं है।

विषय सेवन करने से परिणाम मे विषयों में राग-आसक्ति ही बढ़ती है, जो कि पुनर्जन्म तथा सम्पूर्ण दु:खो का कारण है। विषयो मे वस्तुत सुख है ही नहीं। केवल आरम्भ में भ्रमवश सुख प्रतीत होता है।[1] अगर विषयों मे सुख होता तो जिनके पास प्रचुर' भोग सामाग्री है, ऐसे बड़े-बडे धनी, योगी और पदाधिकारी तो सुखी हो ही जाते हैं पर वास्तव मे देखा जाये तो पता चलता है कि वे भी दु:खी, अशान्त ही है। कारण यह है कि योग पदार्थो मे सुख है ही नहीं, हुआ नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं। सुख लेने की इच्छा से जो-जो भोग भोगे गये, उन-उन भोगो से धैर्य नष्ट हुआ, ध्यान नष्ट हुआ, रोग पैदा हुए, चिन्ता हुई, व्यग्रता हुई, पश्चाताप हुआ, बेइज्जती हुई, बल गया, धन गया, शान्ति गयी ऐसे परिणाम विचारशील व्यक्ति के प्रत्यक्ष देखने में आता है।[2] इस वर्णित श्लोक का अर्थ है-'हमने भोगों को नहीं भोगा, भोगों ने ही हमें भोग लिया, हमने तप नहीं किया, हम ही तप्त हो गये, काल व्यतीत नहीं हुआ, हम ही व्यतीत हुए, तृष्णा जीर्ण नहीं हुई, हम ही जीर्ण

1 सहज कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्। सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृत्ता.।। गीता- अध्याय-18, श्लोक 48- पृष्ठ स0- 247।

2 भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तृप्तु वयमेव तप्ता । कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा·।। (भ तृहरिवैराग्यशतक) श्रीमद् भगवद्गीता' साधक सजीवनी-स्वामी रामसुखदा, पृष्ठ0 स0- 958, अध्याय-15, गीता प्रेस, गोरखपुर।

हो गये।’ जिस तरह से स्वप्न में जल पीने से प्यास नहीं मिटती, उसी प्रकार भोग पदार्थो से न तो शक्ति मिलती है और न जलन ही मिटती है। मनुष्य सोचता है कि इतना धन हो गया, इतना संग्रह हो जाये, इतनी (अमुक-अमुक) वस्तुएं प्राप्त हो जाये, तो शान्ति मिल जायेगी, किन्तु उतना हो जाने पर भी शान्ति नहीं मिलती, उल्टा वस्तुओं के मिलने पर उनकी लालसा और बढ़ ही जाती है।[1] धन आदि भोग-पदार्थों के मिलने पर भी ‘और मिल जाय और मिल जाये’- यह क्रम चलता ही रहता है। परन्तु संसार में जितना धन- धान्य है, जितनी सुन्दर स्त्रियॉ है, जितनी उत्तम वस्तुएं है, वे सब की सब एक साथ किसी एक व्यक्ति को मिल भी जायें, तो भी उनसे उसे तृप्ति नहीं हो सकती। इसका वर्णन आगे विषणु पुराण में किया गया है।[2] इसका कारण यह है कि जीव अविनाशी परमात्मा का अंश तथा चेतन है, और भोगपदार्थ नाशवान् प्रकृति का अंश है। चेतन की भूख जड पदार्थो के द्वारा कैसे मिट सकती है? भूख है पेट में और हलवा बाधा जाये पीठ पर, तो भूख कैसे मिट सकती है? प्यास लगने पर वढ़िया से बढ़ियां गरमागरम हलवा खाने पर भी प्यास नहीं मिट सकती। इसी प्रकार जीव को प्यास तो है चिन्मय परमात्मा की, पर वह उस प्यास को मिटाना चाहता है, जड़ पदार्थों के द्वारा जिससे तृप्ति होने की नहीं। तृप्ति तो दूर रही, ज्यों-ज्यों वह जड़ पदार्थों को अपनाता है, त्यों-त्यों उसकी भूख भी बढ़ती ही जाती है। यह उसकी कितनी बड़ी भूल है।

साधक को चाहिए कि वह ही यह दृढ़ विचार कर ले कि मेरे को भोग बुद्धि से विषयों का सेवन करना ही नहीं है। उसका यह पक्का निर्णय हो जाये कि सम्पूर्ण संसार मिलकर भी मेरे को तृप्त नहीं कर सकता। विषय सेवन न करने का दृढ़ विचार होने से इन्द्रियां निर्विषय हो जाती है, और इन्द्रियों के निर्विषय हो जाने से मन निर्विषय हो जाती है, और इन्द्रियों के निर्विषय हो जाने से मन निर्विकल्प हो जाता है। मन के निर्विकल्प हो जाने से बुद्धि स्वतः सम हो जाती है। बुद्धि के सम हो जाने से परमात्मा की प्राप्ति का स्वतः

---

1 अर्थ- भोगपदार्थो के उपभोग से कामना कभी शान्त नहीं होती, प्रत्युत जैसे थी की आहुति डालने पर आग और भडक उठती है, ऐसे ही भोगवासना भी भोगों के भोग से प्रबल होती है।
प्रस्तुत श्लोक मनु0 2/94, श्रीमद् भगवद् 9/19/14/ से लिया गया है।
न जातु काम कामनामुपभोगेन शाम्यति। (हविषा) हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवामिवर्धते।।

2 यत पृथिव्यां ब्रीहियवं हिरण्यं पशव स्त्रियः। एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात्तृष्णांपरित्यजेत्।।
(विष्णु पुराण 4/10/24 महा0, आदि 85/13)

अनुभव हो जाता है।[1] क्योकि परमात्मा तो सदा प्राप्त ही है। विषयों में प्रवृत्ति होने के कारण ही उनकी प्राप्ति का अनुभव नहीं हो पाता।

सुखभोग और संग्रह इन दो में जो आसक्त हो जाते हैं उनके लिए परमात्मा प्राप्ति तो दूर रही, वे परमात्मा की तरफ चलने का दृढ निश्चय भी नहीं कर पाते।[2]

गोस्वामी तुलसीदास जी रामचरितमानस[3] में लिखते है कि जिस प्रकार कामी स्त्री (भोग) और लोभी को धन (संग्रह) प्यारा लगता है। रघुनाथ का रुप और राम नाम मुझे भी निरन्तर प्यारा लगता है। तात्पर्य यह है कि जैसे कामी स्त्री के रूप में आकृष्ट होता है और ऐसे ही रघुनाथ के रुप मे निरन्तर मैं आकृष्ट रहता हूँ, और जैसे लोभी धन का सग्रह करता रहता है, ऐसे ही मैं राम नाम का जाप निरन्तर करता रहता हूँ। संसार का भोग और संग्रह निरन्तर प्रिय नहीं लगता। यह नियम है, पर भगवान का रुप और नाम निरन्तर प्रिय लगता है। अर्थात् विषयों का सेवन करने से स्वय में गौणता आ जाती है और शरीर संसार की मुख्यता हो जाती है इसलिए स्वयं भी जागृज रूप हो जाता है।[4]

गीता में अध्याय पन्द्रह के दसवें श्लोक[5] में बताया गया है कि 'उत्क्रामन्तम्' का तात्पर्य स्थूल शरीर को छोड़ते समय जीव सूक्ष्म और कारण शरीर को साथ लेकर प्रस्थान करता है। इसी क्रिया को यहा 'उत्क्रामन्तम्' पद से कहा गया है। जब तक मनुष्य के हृदय में धड़कन रहती है, तब तक जीव का प्रस्थान नहीं माना जाता। हृदय की धड़कन बद हो जाने के बाद भी जीव कुछ समय तक रह सकता है। वास्तव में अचल होने से शुद्ध चेतन तत्व का आवागमन नहीं होता, प्राणों का ही आवागमन होता है। परन्तु सूक्ष्म और कारण शरीर से सबंध रहने के कारण जीव का आवागमन कहा जाता है।

---

1 इहैव तैर्जित· सर्गो येषा साम्ये स्थित मन । निर्दोष हि सम ब्रह्म तस्माद् ब्रह्माणि ते स्थिता·।।
(श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-5 श्लोक- 19)

2. भोगैश्वर्यप्रसक्ताना तयापहृतचेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।। (गीता, अध्याय-2, श्लोक 44)

3 कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम। तिमि रघुनाथ निरतर प्रिय लागहु मोहि राम।।
गोस्वामी तुलसीदासजी - रामचरितमानस 7/130

4. त्रिभिर्गुणमयैर्भावैभि· सर्वमिद जगत्। मोहित नाभिजानाति मामेभ्य· परम व्ययम्।। गीता, अध्याय-7, श्लोक- 13

5 'उत्क्रामत्त स्थित वापि भुञ्जान वा गुणान्वितम्। विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुष·।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-15, श्लोक 10

आंठवे श्लोक मे ईश्वर बने जीवात्मा के विषय में आये 'उत्क्रामति' पद को यहा 'उत्क्रमन्तम्' पदसे कहा गया है।

इसी प्रकार 'स्थितं वा' का तात्पर्य है कि जिस प्रकार कैमरे पर वस्तु का जैसा प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसका वैसा ही चित्र अंकित हो जाता है। इसी प्रकार मृत्यु के समय अन्तःकरण मे जिस भाव का चिन्तन होता है, उसी प्रकार का सूक्ष्म शरीर बन जाता है। जैसे कैमरे पर पड़े प्रतिबिम्ब के अनुसार चित्र के तैयार होने में समय लगता है, ऐसे ही अन्तकालीन चिन्तन के अनुसार भावी स्थलू शरीर के बनने में (शरीर के अनुसार कम या अधिक) समय लगता है।

गीता के अध्याय 15 में, आठवें श्लोक में[1] जिसका 'यदवाप्रोति' पद से वर्णन हुआ है, उसी को यहा 'स्थितम्' पद से कहा गया है।

गीता के दसवें श्लोक में 'अपि भुञ्जान वा' का तात्पर्य यह है कि मनुष्य जब विषयों को भोगता है तब अपने को बड़ा सावधान मानता है, और विषयसेवन में सावधान रहता है। विषयी मनुष्य, शब्द, स्पर्श, रुप, रस, गन्ध- इनमें से एक-एक विषय को अच्छी तरह से जानता है। अपनी जानकारी से एक-एक विषय का भी बड़ी स्पष्टता से वर्णन करता है। इतनी सावधानी रखने पर भी वह 'मूढ़' (अज्ञानी) ही है, क्योंकि विषयों के प्रति यह सावधानी किसी काम की नहीं है, प्रत्युत मरने पर नरकों और नीच योनियों में ले जाने वाली है।

परमात्मा, जीवात्मा और ससार इन तीनों के विषय में शास्त्रों और दार्शनिकों के अनेक मतभेद हैं, परन्तु जीवात्मा संसार के संबंध से महान दुःख पाता है और परमात्मा के संबध से महान सुख पाता है। इसमें सभी शास्त्र और दार्शनिक एकमत है।

संसार एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता यह अकाट्य नियम है। संसार क्षणभंगुर है। यह बात कहते, सुनते और पढ़ते हुए भी मूढ़ मनुष्य संसार को स्थिर मानते हैं। भोग सामग्री, भोक्ता, और योगरुप क्रिया इन सबको स्थायी माने बिना भोग हो ही नहीं सकता। भोगी मनुष्य की बुद्धि इतनी मूढ़ हो जाती है कि वह 'इन भोगों से बढ़कर कुछ है ही नहीं'[2]

---

1 शरीर यदवाप्रोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः। गृहीत्वैतानि सयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-15, श्लोक-8

2 चिन्तामपरिमेया च प्रलयान्तामुपाश्रिता । कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिता ।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय 16, श्लोक 11

ऐसा दृढ निश्चय कर लेता है। इसलिए ऐसे मनुष्यों के ज्ञाननेत्र बद ही रहते हैं। वे मौत को निश्चित जानते हुए भी भोग भोगने के लिए (मरने वालों के लोक में रहते हुए भी) सदा जीते रहने की इच्छा रखते हैं।

गीता में दसवें श्लोक में 'अपि' का तात्पर्य है जीवात्मा जिस प्रकार स्थूल शरीर से निकलकर (सूक्ष्म और कारण शरीर सहित) जाता है, दूसरे शरीर को प्राप्त होता है, तथा विषयों का उपभोग करता है इन तीनों ही अवस्थाओं में गुणों से लिप्त दिखने पर भी वास्तव में वह स्वयं निर्लिप्त ही रहता है। वास्तविक स्वरुप में न 'उत्क्रमण' है, 'स्थिति' है और न 'भोलापन' ही है।

गीता में अध्याय 15 के श्लोक 9 में[1] 'विषयःनुपसेवते' पद को यहां 'भुञ्जानम्' पद से कहा गया है। इसी प्रकार 'गुणान्वितम्' पद का अर्थ है कि गुणों से सम्बन्ध मानते रहने के कारण ही जीवात्मा में उत्क्रमण, स्थिति, भोग-ये तीनों क्रियाएं प्रतीत होती है।

वास्तव में आत्मा का गुणों से संबंध नहीं है। भूलवश ये इनसे अपना संबंध मान बैठे है जिसके कारण इसे बार-बार ऊँचे और नीचे योनि में जाना पड़ता है। गुणों से संबंध जोड़कर जीवात्मा संसार से सुख चाहता है-यह केवल उसकी भूल ही है। सुख लेने के लिए शरीर भी अपना नहीं है, फिर अन्य की तो बात ही क्या है।

मनुष्य मानो किसी न किसी प्रकार से संसार में फंसना चाहता है। व्याख्यान देने वाला व्यक्ति श्रोताओं को अपना मानने लगता है। किसी का भाई-बहन न हो तो वह धर्म का भाई-बहन बना लेता है। किसी का पुत्र न हो तो वह दूसरे का बालक गोद ले लेता है। इस तरह नये-नये संबंध जोड़कर मनुष्य चाहता तो सुख है, पर वह केवल दुःख पाता है। इस बात को भगवान कहते हैं कि जीव स्वरुप से गुणातीत होते हुए भी गुणों (देश, काल, व्यक्ति, वस्तु) से संबंध जोड़कर उनसे बंध जाता है। गीता के अध्याय 15 के सांतवें, श्लोक[2] में आये 'प्रकृतिस्थानि' पद को यहां 'गुणान्वितम्' पद कहा गया है।

---

1. श्रोत्र चक्षु स्पर्शन च रसन घ्राणमेव च। अधिष्ठाय मनश्चाय विष्णयानुपसेवते।।
   श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-15, श्लोक 9
2 ममैवाशों जीवलोके जीवभूत. सनातनः। मन. षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृति स्थानि कर्षति।।
   श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-15, श्लोक-7

गीता मे अध्याय 15 मे यह कहा गया है कि जब तक मनुष्य का प्रकृति अथवा उसके कार्य गुणों से किन्चिन मात्र भी सबध रहता है, तब तक गुणों के आधीन होकर उसे कर्म करने के लिए बाध्य होना पडता है।[1] चेतन होकर गुणों के आधीन रहना अर्थात् जड़ की परतन्त्रता स्वीकार करना व्यभिचार-दोष है। प्रकृति अथवा गुणों से सर्वथा मुक्त होने पर जो स्वाधीनता का अनुभव होता है, उसमें भी साधक जब तक (अहम् की गन्ध रहने के कारण) रस लेता है, तब तक व्यभिचार दोष रहता है। रस न लेने से जब वह व्यभिचार दोष मिट जाता है, तब अपने प्रेमास्पद भगवान के प्रति स्वतः प्रियता जागृत होता है। फिर प्रेम ही प्रेम रह जाता है, जो उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता रहता है। इस प्रेम को प्राप्त करना ही जीव का अंतिम लक्ष्य है। इस प्रेम की प्राप्ति में ही पूर्णता है। भगवान भी भक्त को अपना अलौकिक प्रेम देकर राजी हो जाते हैं, और ऐसे प्रेम भक्त को योगियों में सर्वश्रेष्ठ योगी मान लेते हैं।[2] गुणातीत होने में तो (स्वय विवेक सहायक होने के कारण) अपने साधन का संबंध रहता है, पर गुणातीत होने के बाद प्रेम की प्राप्ति होने में भगवान की कृपा का संबध रहता है।

गीता के दसवें श्लोक में आये अुए 'विमूढ़ा नानुपश्यन्ति' का तात्पर्य है-जैसे भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य करने पर भी हम वही रहते हैं, ऐसे ही गुणों से युक्त होकर शरीर को छोडते, अन्य शरीर को प्राप्त होते और भोग भोगते समय भी 'स्वयं' (आत्मा) वही रहता है। तात्पर्य यह है कि परिवर्तन क्रियाओं में होता है, 'स्वयं' में नहीं। परन्तु जो भिन्न-भिन्न क्रियाओं के साथ मिलकर 'स्वयं' को भी भिन्न-भिन्न देखने लगता है।[3] ऐसे अज्ञानी (तत्व को न जानने वाले) मनुष्य के लिए यहां 'विमूढ़ा नानुपश्यन्ति' पद दिये गये है।

मूढ़ लोग भोग और सग्रह से इतने आसक्त रहते हैं कि शरीरादि पदार्थ नित्य रहने वाले नहीं है। यह बात सोचते ही नहीं। भोग भोगने का क्या परिणाम होगा उस ओर वे देखते ही नहीं। भगवान ने गीता के सत्रहवें अध्याय जहां सात्विक, राजस, तामस पुरुषों को प्रिय लगने वाले आहारों का वर्णन किया है, वहाँ सात्विक आहार के परिणाम का वर्णन पहले

---

1. न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। कार्यते ह्यवशःकर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-3, श्लोक-5
2 योगिनामपि सर्वेषा मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान्भजते यो मां से युक्ततमोमतः ।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-6, श्लोक-47
3 प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-3, श्लोक-27

किया, राजस आहार के परिणाम का वर्णन अत में किया और तामस आहार का वर्णन ही नहीं किया गया है।[1] इसका कारण यह है कि सात्विक मनुष्य कर्म करने से पहले उसके परिणाम (फल) पर दृष्टि रखता है, राजस मनुष्य पहले सहसा काम कर बैठता है, फिर परिणाम चाहे जैसा आये, परन्तु तामस मनुष्य तो परिणाम की तरफ दृष्टि ही नहीं डालता। इसी प्रकार यहा भी 'विमूढ़ा नानुपश्यन्ति' पद देकर भगवान मानो पर कहते हैं कि मोहग्रस्त मनुष्य तामस ही है, क्योंकि मोह तमोगुण का कार्य है। वे विषयों का सेवन करते समय परिणाम विचार ही नहीं करते। केवल भोग भोगने और संग्रह करने में ही लगे रहते हैं। ऐसे मनुष्यों का ज्ञान तमोगुण से ढका रहता है। इस कारण वे शरीर और आत्मा के भेद को नहीं जान सकते।

गीता मे श्लोक संख्या 10 में ये कहा गया है कि प्राणी पदार्थ, घटना, परिस्थिति कोई भी स्थिर नहीं है अर्थात् दृश्यमान निरन्तर अदर्शन में जा रहा है-ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होना ही ज्ञान रुप चक्षुओं से देखना है। परिवर्तन की ओर दृष्टि होने से अपरिवर्तनशील तत्व में स्थिति स्वतः होती है, क्योंकि नित्य परिवर्तनशील पदार्थ का अनुभव अपरिवर्तनशील तत्व को ही होता है।

यहां पर ऐसा नहीं समझना चाहिए कि ज्ञानी मनुष्य का ही स्थूल शरीर से निकलकर दूसरे शरीर को प्राप्त होना तथा भोग भोगना होता है। ज्ञानी मनुष्य का स्थूल शरीर तो छूटेगा ही, पर दूसरे शरीर को प्राप्त करना तथा राग बुद्धि से विषयों का सेवन करना उसके द्वारा नहीं होते।[2] अध्याय 2 के तेहरवें श्लोक में भगवान द्वारा वर्णित है कि जैसे जीवात्मा इस देह में बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीर की भी प्राप्ति होती है, परन्तु उस विषय में ज्ञानी पुरुष मोहित अथवा विकारों को नहीं प्राप्त होता। कारण यह है कि वह ज्ञानी मनुष्य ज्ञानरुप नेत्रों के द्वारा यह देखता है कि जन्म मृत्यु आदि सब क्रियाए या विकार परिवर्तनशील शरीर में ही है, अपरिवर्तनशील स्वरुप में नहीं। स्वरुप इन

---

1 आयु सत्वबलारोग्य सुख प्रीतिविवर्धना । रस्या. स्त्रिग्धा' स्थिरा हृद्या आहारा सात्विक प्रिया.।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-17, श्लोक-8
कद्वम्ललवणात्पुष्णतीक्ष्णरुक्षविदाहिन । आहार राजसस्येष्टा दु खशोकामयप्रदा ।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-17, श्लोक-9
यातायाम गतरस पूति पर्युषितं च यत्। उच्छिष्टमपि चामेध्य भोजन तामसप्रियम्।। गीता, अध्याय-17, श्लोक-10

2 देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमर यौवन जरा। तथा देहान्तरप्राप्तिधीर्रस्तत्र न मुह्यति।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-2, श्लोक-13

विकारो से सब समय निर्लिप्त रहता है। शरीर को अपना मानने तथा उससे सुख लेने की आशा रखने से ही विमूढ़ मनुष्यो को तादात्म्य के कारण ये विकार स्वय मे होते हैं। विमूढ मनुष्य आत्मा को गुणों से युक्त देखते है और ज्ञाननेत्रो वाले मनुष्य आत्मा को गुणो से रहित वास्तविक रुप से देखते है।

गुणों के साथ सबंध मानने से जीव 'गुणान्वित' हो जाता है। अगर संबंध न माने तो वह निर्गुण (तीनो गुणो से रहित) ही है-(अनादित्वान्निगुणत्वात्)[1] इसका अर्थ यह है कि गुणों के साथ सबंध होने से ही जन्म मरण होते हैं।[2] यद्यपि अपनी अवनति कोई नहीं चाहता, तथापि सुखासक्ति के कारण जीव को पता नहीं लगता कि मेरी उन्नति किसमें है। वह नाशवान पदार्थों के द्वारा अपनी उन्नति करना चाहता है, जिसका परिणाम महान अवनति होती है।

शरीर को छोडकर जाना, दूसरे शरीर मे स्थित होना और विषयो को भोगना तीनों क्रियाऍ अलग-अलग है, पर उनमे रहने वाला जीवात्मा एक है-यह बात प्रत्यक्ष होने के साथ ही साथ अविवेकी मनुष्य इसको नहीं जानता, अर्थात् अपने अनुभव की तरफ नहीं देखता, उसको महत्व नहीं देता। तीनो गुणों से मोहित रहने के कारण बेहोश रहता है।[3] जीवात्मा किसी भी अवस्था के साथ निरन्तर नहीं रहता यह सबका अनुभव है। इसकी निर्लिप्तता स्वतः सिद्ध है। अभी वर्णित श्लोक में भगवान ने पांच क्रियाएं बतायी है-सुनना, देखना, स्पर्श करना, स्वाद लेना, तथा सूॅघना और इस श्लोक में तीन क्रियाएं बतायी है। शरीर को छोड़ना, दूसरे शरीर में स्थित होना तथा विषयों का भोगना। इन आठों में कोई क्रिया निरन्तर नहीं रहती, पर स्वय का भाव निरन्तर रहता है। क्रियाएं तो आठ, पर इन सबमें स्वय एक ही रहता है। इसलिए इनके भाव और सबमें स्वयं एक ही रहता है। इसलिए इनके भाव और अभाव का, आरंभ, अन्त का ज्ञान सबको रहता है। जिसको आरंभ और अन्त का ज्ञान होता है, वह स्वयं नित्य होता है। शरीर का, पदार्थों का, हरेक भोग का संयोग और वियोग होता है। अनेक अवस्थाओं में स्वय एक रहता है और एक रहते हुए अनेक अवस्थाओं में जाता है। अगर स्वयं एक न रहता तो सब अवस्थाओं का अलग-अलग

---

1 अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमण्यय.। शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति च लिप्यते।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-13, श्लोक-31वॉं

2 पुरुष· प्रकृतिस्थोहि भुङ्क्ते प्रकृति जान्गुणान्। कारण गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।। (13/21)

3 त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभि· सर्वमिद जगत्। मोहित नाभिजानाति ममेभ्यः परमव्ययम्।। (7/13)

अनुभव कौन करता है? परन्तु ऐसी बात प्रत्यक्ष होते हुए भी विमूढ़ मनुष्य इस तरफ नहीं देखता, प्रत्युत ज्ञानी मनुष्य ही केवल देखता है।

अब यहां अध्याय 15 में वर्णित श्लोक 11 में भगवान कहते हैं कि[1] इस श्लोक मे 'यतन्तो योगिनश्चैन पश्यन्ति' में 'योगिन.' पद साख्य योगी साधकों का वाचक है, जिनका एकमात्र उद्‌देश्य परमात्म तत्व की प्राप्ति है। 'यतन्त.' पद साधनपरक (भीतरी लगन) है। जिस साधकों का एकमात्र उद्‌देश्य परमात्मतत्व को प्राप्त करना है, उनमें असंगत, निर्ममता, और निष्कामता स्वत· आ जाती है। उद्‌देश्य की पूर्ति के लिए अनन्यभाव से जो उत्कण्ठा, तत्परता, व्याकुलता, विरहयुक्त चिन्तन, प्रार्थना एवं विचार साधक के हृदय में प्रकट होते है, उन सभी को यहां 'यतन्त' पद के अन्तर्गत समझना चाहिए। जिसकी प्राप्ति का एकमात्र उद्‌देश्य बनाया और जिसकी विमुखता को यत्न के द्वारा दूर किया, उसी तत्व का योगिजन अपने आप में अनुभव करते हैं। परमात्मा के पूर्ण सम्मुख हो जाने के बाद योगी की परमात्मा तत्व में सदा सहज स्थिति रहती है। यही 'पश्यन्ति' पद का भाव है।

जो सांख्य योगी साधक सत्‌-असत्‌ के विचार द्वारा सत्‌ तत्व की प्राप्ति और असत्‌ संसार की निवृत्ति करना चाहते हैं, विवेक की सर्वथा जागृति होने पर वे अपने आप में स्थित परमात्मतत्व से देश काल की दूरी नहीं है। वह समान रुप से सर्वत्र एवं सदैव विद्यमान है। वही सब भूतों के हृदय में स्थित सबकी आत्मा है-'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थित·'[2] इसलिए योगी लोग अपने-आप में ही इस तत्व का अनुभव कर लेते हैं।

सत्ता (अस्तित्व या 'है' पन) दो प्रकार की होती है- (1) विकारी और (2) स्वतःसिद्ध। जो सत्ता उत्पन्न होने के बाद प्रतीत होती है, वह <u>'विकारी सत्ता'</u> कहलाती है और जो सत्ता कभी उत्पन्न नहीं होती, प्रत्युत सदा (अनादिकाल से) ज्यों की त्यों रहती है, वह <u>'स्वतःसिद्ध'</u> सत्ता कहलाती है। इस दृष्टि से संसार की और शरीर की सत्ता 'विकारी' और परमात्मा और आत्मा की सत्ता स्वतः सिद्ध है। विकारी सत्ता को स्वतः सिद्ध सत्ता में मिला देना भूल है। उत्पन्न हुई विकारी सत्ता से सम्बन्ध विच्छेद करके अनुत्पन्न स्वतः सिद्ध

---

1 'यतन्तो योगिनश्चैनः पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्। यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैन पश्यन्त्यचेतस·।।
श्रीमद्‌ भगवद्‌गीता, अध्याय-15, श्लोक-11 में

2 अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। अहमादिश्च मध्य च भूतानामन्त एव च ।।
श्रीमद्‌ भगवद्‌गीता, अध्याय-10, श्लोक-20

सत्ता में स्थित होना ही 'आत्मनि अवस्थितम्' पदो का भाव है। जीव-(चेतन-) ने भगवत्प्रदत्त विवेक का अनादर करके शरीर (जड़) को 'मै' और 'मेरा' मान लिया अर्थात् शरीर से अपना संबध मान लिया। जीव के बधन का कारण यह माना हुआ संबंध ही है। यह संबंध इतना दृढ़ है कि मरने पर भी छूटता नहीं और कच्चा इतना है कि जब चाहे, तब छोड़ा जा सकता है। किसी से अपना संबध जोड़ने अथवा तोड़ने में जीव सर्वथा स्वतन्त्र है। इसी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करके जीव शरीरादि विजातीय पदार्थों से अपना सबंध मान लेता है।

अपने विवेक (शरीर से अपनी भिन्नता का ज्ञान) को महत्व न देने से विवेक दब जाता है। विवेक के दबाने पर शरीर (जड़ तत्व) की प्रधानता हो जाती है और वह सत्य प्रतीत होने लगता है। सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदि से जैसे-जैसे विवेक विकसित होता है, वैसे-वैसे शरीर से माना हुआ संबंध छूटता चला जाता है। विवेक जागृत् होने पर परमात्मा (चिन्मय तत्व) से अपने वास्तविक सम्बन्ध का उसमें अपनी स्वाभाविक स्थिति का अनुभव हो जाता है। यही 'आत्मनि अवस्थितम्' पदों का भाव है।

विकारी सत्ता (संसार) के संबध से अहंता ('मैं' पन) की उत्पत्ति होती है। यह अहंता दो प्रकार से मानी गयी है- (1) श्रवण से जैसे, दूसरों से सुनकर 'मैं अमुक नामवाला हूँ' आदि अहंता मान लेते हैं (2) क्रिया से मानना, जैसे व्याख्यान देना, शिक्षा देना, चिकित्सा करना आदि क्रियाओं से 'मैं वक्ता हूँ, मैं शिक्षक हूँ, मैं चिकित्सक हूँ' आदि अहंता मान लेते हैं। ये दोनों प्रकार की अहंता सदा रहने वाली नहीं है, जबकि 'है' रुप स्वत. सिद्ध रहने वाली है। 'मैं'- रुप में मानी हुई अहंता का त्याग होने पर 'हूँ'- रुप विकारी सत्ता का भी स्वतः त्याग हो जाता है और योगी को 'है'- रुप स्वतः सिद्ध सत्ता में अपनी स्थिति का अनुभव हो जाता है। यही अपने-आप में तत्व का अनुभव करना है।

देश काल आदि की अपेक्षा से कहे जाने वाले 'मैं', 'तू', 'यह' और 'वह'- इन चारों के मूल में 'है' के रुप में एक ही परमात्मतत्व समान रुप से विद्यमान है, जो इन चारों का प्रकाशक और आधार है। 'मैं', 'तू', 'यह' और 'वह' ये चारों निरन्तर परिवर्तनशील है और 'है' नित्य अपरिवर्तनशील है। इनमें 'तू है', 'यह है', और 'वह है'- ऐसा तो कहा जाता है, पर 'मैं है' ऐसा न कहकर 'मैं हूँ' कहा जाता है। कारण यह है कि 'मैं हूँ' में 'हूँ' 'मैं'-पन के कारण आया है। जब तक 'मैं-पन है, तभी तक 'है' के रुप में एकदेशीयता या

परिच्छिन्नता है। 'मै पन के मिटने पर एक 'है' ही शेष रह जाता है। जिस प्रकार समुद्र और लहरे दोनो एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते, उसी प्रकार 'है' और 'हूँ, दोनो एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। परन्तु जैसे जल तत्व मे समुद्र और लहरे ये दोनो ही नहीं है। (वास्तव मे एक ही जल तत्व है) ऐसे ही परमात्मतत्व 'है' मे 'हूँ' और 'है' ये दोनो ही नहीं है। ऐसा अनुभव करना ही अपने आप (स्वय) मे स्थित तत्व का अनुभव करना है।[1] यहा मै-पन के कारण ही परमात्मा का अपने आप में अनुभव नहीं होता। इसलिए परमात्मा को अपने आप से भिन्न मे देखने के कारण उससे दूरी या वियोग का अनुभव करना पड़ता है। अपने आप से भिन्न जितने पदार्थ है, उनसे वियोग होना अवश्यभावी है। परन्तु अपने आप मे परमात्मा का अनुभव करने वाले को उससे अपनी दूरी या वियोग का अनुभव नहीं करना पडता।

ससार बदलने वाला है। ससार का अश होने के कारण 'मै' भी बदलने वाला है, जैसे-मै बालक हूँ, मैं युवा हूँ, मै वृद्ध हूँ, मै रोगी हूँ, मैं निरोगी हूँ, इत्यादि। संसार की तरह 'मै' भी उत्पन्न और नष्ट होने वाला हूँ। जैसे ससार नहीं है, ऐसे ही मै भी नहीं हूँ।[2] 'है' सदा है और 'नहीं' है। 'है' दीखने में नहीं आता, पर 'नहीं' दिखने मे आता है, क्योकि जिसके द्वारा हम 'नहीं' को देखते है, वे मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि भी 'नहीं' के अश है। त्रिपुटी मे देखना सजातीयता में देखना अर्थात् त्रिपुटी से होने वाले (कारण साक्षेप) ज्ञान में सजातीयता का होना आवश्यक है। अत 'नहीं' के द्वारा 'नहीं' को ही देखा जा सकता है, 'है' को नहीं। 'है' का ज्ञान त्रिपुटी से रहित (कारण निरपेक्षा) है।

'नहीं' की स्वतन्त्र सत्ता न होने पर भी, 'है' की सत्ता से ही उसकी सत्ता दिखती है। 'है' ही 'नहीं' का प्रकाशक और आधार है। जिस प्रकार नेत्र से संसार को देखने पर नेत्र नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि जिससे देखते हैं वह नेत्र है। इसी प्रकार जो सबको जानने वाला है, उस परमात्मा को कैसे और किसके द्वारा जाना जा सकता है 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'। (वृहदारण्यक0 2/4/4)? जो 'है' से प्रकाशित होता है, वह (नहीं) है को कैसे

1 तमात्मस्थंयेऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषा सुख शाश्वत नेतरेषाम्।। (कठोपनिषद् 2/2/13, श्वेताश्वतर0 6/12)
अर्थ- अपने में स्थित (आत्मस्थ) परमात्मा को जो ज्ञानी मनुष्य निरन्त देखते रहे हैं, उनको ही सदा रहने वाला सुख प्राप्त होता, दूसरे को नहीं ।

2 है सो सुन्दर है सदा, नहि सो सुन्दर नाहि। नहि सो परगट देखिये, है सो दीखे नाहि।।

प्रकाशित कर सकता है? अपने आप मे स्थित तत्व ('है) का अनुभव अपने आप ('है') से ही हो सकता है, इन्द्रिया, मन, बुद्धि, आदि ('नहीं') मे बिल्कुल नहीं। अपने-आप से होने वाला ज्ञान स्वाधीन और दूसरों (मन, बुद्धि आदि) से होने वाला ज्ञान पराधीन होता है। अपने आप मे स्थित तत्व का अनुभव करने के लिए किसी दूसरे की सहायता लेने की जरूरत नहीं है।

कानो से सुनने, मन से मनन करने, बुद्धि से विचार करने आदि उपायो से कोई तत्व नहीं जान सकता।[1] कारण यह है कि इन्द्रियां, मन, बुद्धि, देश, काल, वस्तु आदि मे सभी प्रकृति के कार्य है। प्रकृति के कार्य से उस तत्व को कैसे जाना जा सकता है, जो प्रकृति से सर्वथा अतीत है? अत· प्रकृति के कार्य का त्याग (सम्बन्ध विच्छेद) करने पर ही तत्व की प्राप्ति होती है, और वह अपने आप में ही होती है।

यहां पर साधक से सबसे बड़ी गलती यह होती है कि वह जिस रीति से संसार को जानता है, उसी रीति से परमात्मा को भी जानता है, या जानना चाहता है। परन्तु संसार और परमात्मा दोनों को जानने की रीति एक दूसरे से विरूद्ध है। संसार को इन्द्रियां, मन, बुद्धि आदि रीति के द्वारा जाना जाता है, क्योंकि उसकी जानकारी करण सापेक्ष है, परन्तु परमात्मा को इन्द्रियॉ, मन, बुद्धि आदि के द्वारा नहीं जाना जा सकता, क्योंकि इसकी जानकारी करण निरपेक्ष है। जड़ता के आश्रय से चिन्मयता से स्थिति का अनुभव हो ही नहीं सकता। जडता (स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर) का आश्रय लेकर जो परमात्म तत्व का अनुभव करना चाहते हैं, वे पुरुष समाधि लगाकर भी परमात्म तत्व का अनुभव नहीं कर पाते, क्योकि समाधि भी कारण शरीर पर आश्रित रहती है।[2]

---

1 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेघया न बहुना श्रुतेन।' (कठ0 1/2/23, मुण्डक0 3/2/3)
यह परमात्मा न तो प्रवचन से, न बुद्धि से, और न बहुत सुनने से ही प्राप्त हो सकता है।
'नैव वाचा न मनसा प्राप्तु शक्यो न चक्षुषा' (कठ0 2/3/12)
यह परमात्मा न वाणी से, न मन से, न नेत्रों से ही प्राप्त किये जा सकते हैं।

2 यहा पर स्थूल शरीर से 'क्रिया' सूक्ष्म शरीर से 'चिन्तन' तथा कारण शरीर से 'समाधि' होती है। कारण शरीर तथा उससे होने वाली समाधि जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था की अपेक्षा विशिष्ट होने पर भी सूक्ष्म रुप से हमेशा क्रियाशील रहती है। इस कारण शरीर से भी अतीत होने पर एकमात्र तत्व शेष रह जाता है। यही क्रिया और अक्रिया दोनों से अतीत, सदा अखण्ड रहने वाली 'स्वरुप की समाधि' है। कारण शरीर से होने वाली समाधि में तो व्युत्थान होता है, पर 'स्वरुप की समाधि' अर्थात स्वत. सिद्ध स्वरुप का बोध होने पर समाधि तथा व्युत्थान दोनों ही नहीं होते। इसको 'निर्बीज समाधि' भी कहते हैं, क्योंकि इसमें ससार का सबंध (बीज) सर्वथा नष्ट हो जाता है। इसको 'सहजावस्था' भी कहते हैं। परन्तु वास्तव में यह अवस्था नहीं है, प्रत्युत अवस्था से अतीत है। अवस्थातीत कोई अवस्था नहीं होती।

जो परमात्मा को अपना तथा अपने को परमात्मा जानता है, वह ज्ञानरुपी नेत्र वाले योगी लोगों के शरीर, इन्द्रियां, मन, बुद्धि आदि से अपने को अलग करके अपने आप में स्थित परमात्म तत्व का अनुभव कर लेता है। परन्तु जो शरीर को अपना और अपने को शरीर का मानता है, वे विमूढ और अकृतात्मा पुरुष शरीर, इन्द्रियॉ, मन, बुद्धि आदि के द्वारा यत्न करने पर भी अपने आप में स्थित परमात्म तत्व का अनुभव नहीं कर पाते।

श्रीमद् भगवद्गीता में अध्याय पन्द्रह में वर्णित ग्याहरवें श्लोक में[1] 'आत्मनि अवस्थितम्' पदों में भगवान ने अपने को सम्पूर्ण प्राणियों की आत्मा में स्थित (सर्वव्यापी) बताया है। इसका अनुभव करने के लिए साधक को ये चार बातें दृढ़तापूर्वक माननी चाहिए।-

(1) परमात्मा यहा है। (2) परमात्मा अभी है।

(3) परमात्मा अपने में है (4) परमात्मा अपने है।

परमात्मा सब जगह (सर्वव्यापी) होने से यहां भी है, सब समय (तीनों कालों में) होने से अभी भी है; सब में होने से अपने में है, और सबके होने से अपने भी है। इस दृष्टि से परमात्मा यहां होने से उनको प्राप्त करने के लिए दूसरी जगह जाने की आवश्यकता नहीं, अभी होने से उनकी प्राप्ति के लिए भविष्य की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है, अपने में होने से उन्हें बाहर ढूढ़ने की भी आवश्यकता नहीं; और अपने होने से उनके सिवाय किसी को भी अपने समझने की जरुरत नहीं है। अपने होने से वे स्वाभाविक ही अत्यन्त प्रिय लगेंगे। उपर्युक्त बातें साधक के लिए महत्वपूर्ण एवं अत्यन्त लाभदायक है। साधक को ये चारों बातें दृढ़ता से मान लेनी चाहिए। समस्त साधनों का यह सार साधन है। इसमें किसी योग्यता, अभ्यास, गुण, आदि की भी जरुरत नहीं है। ये बातें स्वतः सिद्ध एवं वास्तविक है, इसलिए इसको मानने के लिए सभी योग्य है, सभी पात्र है, सभी समर्थ है। शर्त केवल यही है कि वे एकमात्र परमात्मा को ही चाहते हो।

'यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः'- जिन्होंने अपना अन्तःकरण शुद्ध नहीं किया, उन पुरुषों को यहॉ 'अकृतात्मानः' कहा गया है। सत् असत् के ज्ञान (विवेक) को

---

1 यतन्तो योगिनश्चैन पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्। यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैन पश्यन्त्यचेतसः।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-15, श्लोक-11
साधक सजीवनी (परिशिष्टसहित)- स्वामी श्रीराम सुखदास, गीता प्रेस, गोरखपुर।

महत्व न देने के कारण ऐसे पुरुषों को 'अचेतस.' कहा गया है। जिनके अन्तःकरण में ससार के व्यक्ति, पदार्थ आदि का महत्व बना हुआ है और जो शरीरादि को अपना मानते हुए उनसे सुख भोग की आशा रखते हैं, ऐसे सभी पुरुष 'अकृतात्मान.' और 'अचेतसः' है। ऐसे पुरुष तत्व की प्राप्ति तो चाहते हैं, पर वे शरीर, मन, बुद्धि आदि जड़ पदार्थों की सहायता से नहीं, सबंध विच्छेद से मिलते हैं।

पन्द्रहवें अध्याय के ग्यारहवें श्लोक में 'यतन्तः' पद दो बाद आया है। कहने का भाव यह है कि यत्न करने में समानता होने पर भी एक (ज्ञानी) पुरुष तो तत्व का अनुभव कर लेता है, दूसरा (मूढ़) नहीं कर पाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर, इन्द्रियां, मन, बुद्धि के द्वारा किया गया यत्न तत्व प्राप्ति में सहायक होने पर भी अन्तःकरण (जड़ता) के साथ सम्बंध बने रहने के कारण और अन्तःकरण में सांसारिक पदार्थों का महत्व रहने के कारण (यत्न करने पर) तत्व को प्राप्त नहीं किया जा सकता। जिनकी दृष्टि असत् (सांसारिक भोग और संग्रह) पर ही जमी हुई है, ऐसे पुरुष सत् (तत्व) को कैसे देख सकते हैं। अकृतात्मा और अचेतस पुरुष करने में तो ध्यान, स्वाध्याय, जप आदि सब कुछ करते है, पर अन्तःकरण में जड़ता (सांसारिक भोग और संग्रह) का महत्व रहने के कारण उन्हें तत्व का अनुभव नहीं होता। यद्यपि ऐसे पुरुषों के द्वारा किया गया यत्न भी निष्फल नहीं होता। वर्तमान में तत्व का अनुभव जड़ता का सर्वथा त्याग होने पर ही हो सकता है।

जिसका आश्रय लिया जाय, उसका त्याग नहीं हो सकता ऐसा नियम है। अतः मन, बुद्धि, शरीर आदि जड़ पदार्थों का आश्रय लेकर साधक जड़ता का त्याग नहीं कर सकता। इसके सिवाय मन, बुद्धि आदि जड़ पदार्थों को लेकन साधन करने वाले में सूक्ष्म अहंकार बना रहता है, जो जड़ता का त्याग होने पर ही निवृत्त होता है। जड़ता का त्याग करने का सुगम उपाय है- एकमात्र भगवान का आश्रय लेना अर्थात् "मैं भगवान का हूँ' भगवान मेरे है" इस वास्तविकता को स्वीकार कर लेना, इस पर अटल विश्वास कर लेना। इसके लिए यत्न और अभ्यास की भी जरुरत नहीं। वास्तविक बात को दृढ़तापूर्वक स्वीकार मात्र कर लेने की जरुरत है।

कहने का अर्थ यह है कि सदा न भोग साथ रहता है, न संग्रह साथ रहता है- यह विवेक मनुष्य में स्वतः है। परन्तु जो मनुष्य शास्त्र पढ़ते हुए, सत्संग करते हुए, साधन

करते हुए भी अपने विवेक की तरफ ध्यान नहीं देते और भोग, सग्रह से अलगाव का अनुभव नहीं करते, वे मनुष्य 'अकृतात्मा' है। ऐसे मनुष्यो को[1] गीता मे 'अकृतबुद्धि' और 'दुर्मति' कहा गया है। यद्यपि परमात्मा की प्राप्ति कठिन नहीं है, तथापि भीतर मे राग, आसक्ति, सुख बुद्धि पडी रहने मे वे साधन करते हुए भी परमात्मा को नहीं जानते। कारण कि भोग और सग्रह मे रुचि रखने वालो का विवेक ठहरता नहीं।

इस पन्द्रहवें अध्याय के दसवें श्लोक में जिसे 'विमूढा' कहा, उसी को ग्यारहवे श्लोक मे 'अचेतस.' कहां, गुणों से मोहित होने के कारण वे न तो विषयो के विभाग को जानते हैं और न स्वय के विभाग को ही जानते हैं, अर्थात् भोगों का संयोग वियोग अलग है और स्वयं भी अलग है यह नहीं जानते।

यहा पर भगवान हमे यह बताना चाहते है कि मेरा अश जीवात्मा बिल्कुल अलग है और जिस सामग्री (शरीरादि पदार्थ और क्रिया) को वह भूल से अपनी मानता है, वह बिल्कुल अलग है- 'प्रकृति स्थानि'। सूर्य ओर अमावस्या की रात्रि की तरह दोनों का विभाग ही अलग-अलग है। उनका परस्पर सयोग लेना सभव नहीं है। जो उपर्युक्त परस्पर सयोग लेना सभव नहीं है। जो उपर्युक्त जड़ चेतन दोनों को सर्वथा अलग-अलग देखता है, वही ज्ञानी और योगी है। परन्तु जो दोनों को मिला हुआ देखता है, वह अज्ञानी और भोगी है।[2]

---

1 तत्रैव सति कर्तारमात्मान केवल तु य । पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-18, श्लोक-16

2 'श्रीमद् भगवद्गीता साधक सजीवनी' परिशिष्ट सहित, हिन्दी टीका- स्वामी रामसुखदास, गीता प्रेस, गोरखपुर।

चतुर्थ अध्याय

मानव नियति के रूप में भक्तिमार्ग

चतुर्थ अध्याय

मानव नियति के रुप में भक्तिमार्ग

श्रीमद् भगवद्गीता में भक्तिमार्ग को अत्यधिक महत्व दिया गया है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो भक्त मुझको स्मरण करके अपने आप को मेरे प्रति समर्पित कर देते हैं वह सदैव सुखी रहते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि भगवद्गीता में भक्ति मार्ग को भगवान श्रीकृष्ण मनुष्य की भलाई के निमित्त श्रेष्ठ मार्ग मानते हैं। भक्ति का मार्ग मनुष्य की उचित क्रियाशीलता के भावना प्रधान पक्ष की ओर इंगित करता है। **'भक्ति' ज्ञान एवं कर्म दोनों से भिन्न भावनामयी आसक्ति का नाम है।**[1] इसके द्वारा हम अपनी भावनात्मक सम्भावनाओं को दैवी सम्भावना को अर्पित करते हैं। भावना मनुष्यों के अन्दर एक जीते-जागते सम्बन्ध की अभिव्यक्ति है और यही धार्मिक भक्ति की शक्ति से क्षमता प्राप्त करके सहज, प्रवृत्ति के रुप में दिखलायी पड़ती है। जो मानव को ईश्वर के साथ एक बन्धन से जोड़ती है। यदि हम प्रेम न करें, न पूजा ही करे, तब हम एक प्रकार से अपने ही अहंकार रुपी कारागार में अपने को बंद कर लेते हैं। यही मार्ग सम्यक रुप में नियमित हो जाने पर हमें सर्वोपरि ब्रह्म के दर्शन की ओर ले जाता है।

भक्ति मार्ग सभी मनुष्यों के लिए है। चाहें वो दुर्बल हो, चाहे निम्न जाति का हो, चाहे अशिक्षित हो, चाहे अज्ञानी हो। भक्ति का मार्ग सभी के लिए समान रुप से खुला है और यह मार्ग सर्वाधिक सरल है। प्रेम का त्याग इतना कठिन नहीं है जैसा कि इच्छा शक्ति को दैवी प्रयोजन के लिए साधन का कार्य है या तपस्या की साधना तथा कष्ट साध्य चिन्तन का प्रयास है। यह उतना ही लाभदायक है जितना कि अन्य कोई दूसरा उपाय हो सकता है, लेकिन कभी-कभी यह कहा जाता है कि यह सभी उपायों से अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह अपना फल स्वयं देता है जबकि अन्य उपाय किसी अन्य उद्देश्य की सिद्धि के लिए केवल साधन मात्र है।[2] भक्ति मार्ग की उत्पत्ति का पता इतिहास के गर्भ में छिपा है। उपनिषदों की उपासना विधि और भागवतों के भक्तिपरक मार्ग में गीता के रचयिता को भी

---

1 शणिह्यसूत्र - 1:4-5 और 7

2 डॉ0 राधाकृष्णनन्- "भारतीय दर्शन" राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली-6, अध्याय-4, पेज न0- 515

अपने प्रभाव में ले लिया। उसे उपनिषदों के धार्मिक स्तर से सम्बद्ध विचारों की व्यवस्था को विकसित करने के लिए काफी मेहनत करनी पड़ी, क्योकि उपनिषदे उक्त विचारों पूर्व स्वतन्त्रता के साथ और असंदिग्ध भाषा मे व्यक्त करने में समर्थ नहीं रही।

गीता में परमतत्व उन व्यक्तियों के लिए जो सूक्ष्म दृष्टि रखते है, ज्ञान स्वरुप है, और गौरवशालियों का गौरव है।[1] देवताओं एवं मनुष्यों में सबसे पहले ऋषियों ने प्रधान तथा उस मृत्यु से भी महान है जो सब का सधार करती है।[2] यह मानते हुए कि अव्यक्त परम तत्व का ध्यान हमें लक्ष्य प्राप्ति की ओर अग्रसर करता है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह एक कठोर प्रक्रिया है।[3] सीमित शक्ति वाले मनुष्य को यह कोई आधार नहीं देता जहां से कि यहां तक पहुँचा जा सके। उस प्रेम में जो हम किसी पदार्थ के प्रति अनुभव करते है। एक पृथकत्व का भाव रहता है। प्रेम चाहे कितना ही निकटतम् संयुक्त करे, प्रेम करने वाला और जिसके प्रति प्रेम किया जाये, वह एक दूसरे से भिन्न रहते ही है, चाहे विचार में हो, हमें द्वैत के भाव में ही सन्तोष करना होता है। किन्तु एकेश्वरवाद को जो द्वैतवाद से ऊपर है निम्न स्तर पर उतरा हुआ कहना ठीक नहीं होगा। सर्वोच्च ब्रह्म के प्रति भक्ति एक शरीरधारी ईश्वर को मानने से ही संभव है। जो एक मूर्तिमान व्यक्ति है और आनंद एवं सौन्दर्य से परिपूर्ण है। हम अपने मनों की छाया या आभास से प्रेम नहीं कर सकते। मूर्त रुप ही सहचारिभाव अथवा मैत्री या परस्पर के भाव उपलक्षित करता है। व्यक्तिगत सहायक ही व्यक्तिगत आवश्यकता की पूर्ति में सहायक हो सकता है। इस तरह ऐसा ईश्वर जिसके अन्दर प्रेम पूर्ण हृदय का प्रवेश हुआ है, वह ईश्वर नहीं है, जो रक्त की होली में आनंद लेता हो, और न ऐसा ही ईश्वर है जो अमूर्त रुप से गंभीर नींद में सोता रहता हो, जबकि दुःख के भार से आक्रान्त हृदय सहायता के लिए पुकारते रहते हैं। वह प्रेम स्वरुप है।[4] ऐसे मनुष्य के लिए जो अपना सब कुछ ईश्वर को अर्पित कर दता है एवं उसके चरणों में अपने सिर को झुका देता है उसके लिए ईश्वर का द्वार सदैव खुला हुआ मिलता है। ईश्वर की वाणी यह कहती है ''यह मेरा प्रतिज्ञात वचन है कि वह जो मुझसे प्रेम करता है वह कभी

1. शाण्डिल्य सूत्र- 7:10
2. शाण्डिल्य सूत्र 10 : 20-25, 3, 4
3. शाडिल्य सूत्र 12 : 5
4. ''शरणागत वत्सल·।''

नष्ट नहीं होगा।''[1] प्रत्युपकार का जो कठोर नियम है केवल उसी के अनुसार ईश्वर का इस जगत के साथ संबध हो ऐसा नहीं है। भक्ति के द्वारा कर्मों के फल का निवारण भी किया जा सकता है, यह कर्म नियम का अतिक्रमण नहीं है, क्योंकि उक्त नियम के ही अनुसार भक्ति रुप कर्म का भी पुरस्कार मिलना चाहिए। भगवान श्रीकृष्ण यह कहते है- ''यदि पापी मनुष्य भी अनन्यभाव और पूर्ण प्रेम के साथ मेरी भक्ति करता है तो वह भी धर्मात्मा ही है। क्योंकि वह एक निष्ठावान् इच्छा को लेकर ईश्वर की शरण में आया है और इसीलिए वह एक धार्मिक आत्मा सम्पन्न व्यक्ति है। भगवान स्वय किसी के पुण्य पाप को नहीं ग्रहण करते''[2] तो भी उसने इस जगत की ऐसी व्यवस्था कर दी है कि कोई भी कर्म बिना फल दिये नहीं रहता अर्थात् भगवान सब यज्ञों एवं तपस्याओं से प्रसन्न होता है। इसी तरह प्रकट रुप में परस्पर विरोधी मतों का समन्वय किया गया है। जैसे 'मुझे न कोई अप्रिय है एवं न प्रिय है'' तथा ''मेरे भक्त मुझे प्रिय है''[3] भगवान सदैव मनुष्य ध्यान में रखते हैं अर्थात् प्रत्येक क्षण में उसको नहीं भूलते हैं।

भगवान के प्रति प्रेम या भक्ति के स्वरूप का भाषा के माध्यम से वर्णन नहीं किया जा सकता, अर्थात् यह अवर्णनीय है ''जैसे एक गूगा व्यक्ति अपने स्वाद को भाषा के द्वारा अभिव्यक्त नहीं कर सकता।[4] इस भावनापूर्ण आसक्ति की अनिवार्य विशेषताओं का वर्णन किया जा सकता है। उपासना या पूजा ऐसे ही तत्व की हो सकती है जिसको परम रुप में पूर्णतया समझा जा सके चूँकि मनुष्य का प्रयोजन भी पूर्णता प्राप्त करना है। इसलिए ऐसी ही एक उच्चतम् सत्ता का विचार करना होगा। उससे न्यून को स्वीकार करने से प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। नारद अपने सूत्रों में मानवीय प्रेम की उपमा देता है।[5] जिसमें सीमित शक्ति वाला जीवात्मा भी अपने को ऊँचा उठाता है और एक आदर्श तक पहुँच जाता है। प्रायः यह आदर्श ही स्वयं अपने वास्तविक स्वरुप को अभिव्यक्त करता है। भक्ति का विषय सर्वोच्च सत्ता है जिसे **'पुरुषोत्तम'** कहते हैं वह आत्माओं को प्रकाशित करता है। एवं जगत को

---

1. शरणागतवत्सल । 9.31
2. शरणागत वत्सल. 9.5 :15
3 शरणागत वत्सल· 9.29, 12 14-20, 16·16
4. नारदसूत्र 51:52
5. नारदसूत्र 51:52

जीवन दान देता है उन भिन्न तत्वो को जो भिन्न स्तर पर परम सत्ता के रुप मे प्रतीत होते हैं ईश्वर नहीं समझ लेना चाहिए और न ही वह यज्ञों का अधिष्ठाता है। जिस प्रकार मीमांसाको ने कल्पना की है एवं न ही भ्रमवश ऐसी प्राकृतिक शक्तियो को जिन्हें मनुष्य अपने मन मे परमात्मा के प्रति मूर्तिवान प्रतिनिधि मान बैठा है, ईश्वर मानना चाहिए। वह साख्य का 'पुरुष' भी नहीं है। गीता का ईश्वर यह सब है किन्तु इससे अधिक भी है।[1] किस प्रकार से ईश्वर प्रत्येक मनुष्य के अदर रहता है गीता इस बात पर बल देती है। यदि सर्वोपरि सत्ता मानवीय चेतना के लिए नितान्त विदेशीय होती तो वह पूजा का विषय नहीं हो सकती। यदि वह मनुष्य के साथ नितान्त तादात्म्य रखती है तो भी पूजा संभव नहीं है, वह मनुष्य के साथ अंशत· समान है और अंशत· भिन्न भी है। वह द्विव्य शक्ति वाला ईश्वर है। जिसका प्रकृति या लक्ष्मी के साथ साहचर्य है। जिसके हाथों में वाछर्नाय वस्तुओं का कोष है उसके साथ संयोग हो जाने की प्रत्याशा एक प्रसंनता की झलक है। "तू अपने मन को मेरे अन्दर लगा मेरे ही अन्दर तेरी बुद्धि को भी लगना चाहिए। इसके उपरात तो निश्चित ही अकेला मेरे साथ निवास करेगा।"[2] जितना भी प्रेम है इसी सर्वश्रेष्ठ प्रेम की एक अपूर्व अभिव्यक्ति मात्र है। हम जो दूसरे पदार्थों से प्रेम करते हैं। वह उनके अन्दर जो सनातन का अश है उसके कारण ही करते हैं। एक भक्त के अन्दर नितान्त नम्रता की भावना होनी चाहिए अर्थात् भक्त को नम्र होना चाहिए। आदर्श के आगे वह यह अनुभव करता है कि वह कुछ भी नहीं है और इस प्रकार के अपनी आत्मा के नितान्त पराभाव को अनुभव कर लेना ही नितान्त धार्मिक भक्ति के पूर्व की अनिवार्य आवश्यकता भगवान विनम्र एवं दीन मनुष्य से प्रेम करता है।[3] जीवात्मा अपने को भगवान् से भिन्न होकर सर्वथा अनुपयुक्त अनुभव करता है, उसकी भक्ति यह प्रदर्शित करती है कि या तो ईश्वर के प्रति प्रेम है या ईश्वर के बिछड़ने का कारण दुःख है। अपने उपास्य देव के महत्व का सही-सही ज्ञान प्राप्त कर लेने पर मनुष्य के अन्दर ऐसी भावना के अतिरिक्त और कोई भावना नहीं उत्पन्न हो सकती कि वह स्वयं कुछ नहीं है। केवल निष्प्रयोज्य है। भक्त अपने को भगवान की दया के ऊपर छोड़ देता है। ईश्वर के ऊपर नितान्त निर्भरता ही एक मार्ग है। "अपने मन को मेरे

1. नारद सूत्र 8 4
2 नारद सूत्र 12 · 8
3 नारद सूत्र 27, दैन्यप्रियत्वम्।

अन्दर लीन कर दो, मेरे भक्त बनो, मेरे आगे झुक जाओ, हर हालत में तुम्हें मेरे पास आना ही है। तुम मेरे प्रिय मित्र हो, इसलिए मैं तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ। सब धर्मों को छोडकर केवल मेरा ही आश्रय ग्रहण करो। सोच मत करो, मैं तुम्हे सब पापो से छुड़ा दूॅगा।"[1] ईश्वर का आग्रह है कि भक्ति अनन्यमनस्क होकर की जानी चाहिए और वह हमें निश्चय दिलाता है वह हमारे ज्ञान को गुणों के कारण उसमें जितनी भी त्रुटिया होगी, उन्हें दृष्टि से ओझल करके अपने अनन्त प्रकाश एव विश्व कल्याण की पवित्रता के रुप में परिवर्तित कर देगा। आगे चलकर आदर्श की भक्ति करने के लिए लगातार इच्छा प्रकट की गयी है। भक्त को "केवल अपने उपास्य देव के ऊपर ही दृष्टि रखनी चाहिए, केवल उसी के संबध में ही भाषण करें एवं उसी का चिन्तन करें।"[2]

भक्त जो कर्म करता है वह केवल ईश्वर के गौरव के लिए ही करता है। उसका कर्म निःस्वार्थ होता है। क्योंकि उसमें फल प्राप्ति की आकांक्षा नहीं होती, यह सर्वातीत परब्रह्म के प्रति नितान्त आत्मत्याग है।[3] जब भक्त आदर्श के हाथों में अपने को पूर्ण रुप से समर्पित कर देता है तो उस समय मनोवेग की निरुद्देश्य घनता नष्ट हो जाती है। यह एक प्रकार से ऐसा आत्मसमर्पण है। जिसमें भावना का स्थान जीवन ले लेता है। उस अवस्था में मन में ईश्वर ही मुख्य लालसा के रुप में रह जाता है। भक्त अपने उद्देश्य तक पहुँच जाता है और अमरत्व तथा आत्मसन्तोष की प्राप्ति कर लेता है। इसके बाद भक्त न तो किसी वस्तु की इच्छा करता है न दुःख करता है वह सुख शान्ति से आपूर्ण हो जाता है एवं आत्मा में ही लवलीन होता है।[4] गीता के अनुसार सच्ची भक्ति ईश्वर में विश्वास, उससे प्रेम, उसके प्रति श्रद्धा एवं उसी के अन्दर प्रवेश का नाम है। यह स्वयं ही अपना पुरस्कार।[5] सच्ची भक्ति के लिए सर्वप्रथम हमको श्रद्धा एवं विश्वास की आवश्यकता पड़ती है। उच्चतम् सत्ता

---

1. सर्वगुह्यतमं भूय शृणु मे परम बच.। इष्टोऽसि में दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।।
मन्मना भवमद्भक्तो मद्याजी मा नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्य ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेक शरण व्रज। अह त्वा सर्वपापेभ्योमोक्षयिष्यामि मा शुच ।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय 18, श्लोक- 64, 65, 66
2. "नारद सूत्र" 55
3. शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः। सन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-9, श्लोक 28
4. "नारद सूत्र" 4-7, मत्तः स्तब्ध आत्मारामः।
5. डॉ0 राधाकृष्णनन् "भारतीय दर्शन" राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, अध्याय-9, पृष्ठ सं0- 518

के प्रति पहले तो यह विचार बनाना पड़ता ही है क्योंकि जब तक आगे चलकर स्वय वह परब्रह्म भक्त के हृदय में अपनी अभिव्यक्ति न करें, तब तक यह धारणा ही भक्ति का आधार है।[1]

भक्ति में **श्रद्धा** एवं **विश्वास** एक महत्वपूर्ण तत्व है, इसीलिए देवताओं के लिए भी गीता में स्थान प्राप्त है, क्योंकि मनुष्य उसके अन्दर विश्वास रखते हैं। इस प्रकार के विचार रखने से मनुष्यों के स्वभाव एवं मानसिक विचारों में नाना प्रकार के भेद पाये जाते हैं, विचारों तथा पूजा की विधि में मनुष्य को स्वतन्त्रता दी गयी है। एकदम न होने से कुछ भी प्रेम होना अच्छा है, क्योंकि यदि हमारे अन्दर प्रेम न हो तो हम अपने अन्दर सीमित रहते हैं। वह अनन्त ब्रह्म विविध रूपों में अपने को मनुष्य के सामने प्रस्तुत करता है। निम्नश्रेणी के देवता उसी एकमात्र सर्वश्रेष्ठ यथार्थ सत्ता के पक्ष है। गीता दिव्य श्रेणी के अवतारों को पुरुषोत्तम की अपेक्षा निम्न श्रेणी का बताती है, ब्रह्मा, विष्णु और शिव यदि इन्हें सर्वोपरि सत्ता के नाम सृष्टा, धारणकर्ता तथा विनाशकर्ता के रुप में न समझा जाये तो ये देवता भी पुरुषोत्तम से नीचे है।[2] वैदिक देवताओं की पूजा गीता को मान्य है।[3] गीता ऐसे व्यक्तियों को जो क्षुद्र देवताओं की पूजा करते हैं, उनके ऊपर तरस खाकर, उक्त प्रकार की पूजा के लिए भी छूट देती है। यदि पूजा भक्ति के साथ की जाये तो वह हृदय को पवित्र करती है तथा मन को उच्चतम चेतना के लिए तैयार करती है।[4]

यहाँ कहा जा सकता है कि दार्शनिक दृष्टिकोण से सहिष्णुता की प्रवृत्ति को इस प्रकार वर्णित किया जा सकता है, परन्तु यह पूर्ण प्रतिपादन नहीं है। मनुष्य के जैसे विचार रहते हैं वैसा ही वह हो जाता है। जिस किसी पदार्थ में उसकी श्रद्धा या भक्ति होगी, उसे वह वैसा ही प्राप्त हो जायेगा। इस जगत् के अन्दर एक प्रकार की उद्देश्यपूर्ण नैतिक व्यवस्था पायी जाती है, जहां मनुष्य जिस प्रकार की इच्छा करता है या जिस पदार्थ की इच्छा करता है, वह उसे मिल जाता है। जो देवताओं के पास पहुँचने का व्रत लेता है उन्हें देवता

1. "नारदसूत्र", 4.40
2. "नारदसूत्र", 11 37
3. "नारदसूत्र", 9:23
4. "नारदसूत्र", 7:21-23

मिल जाते हैं और जो पितरों के पास पहुँचने का व्रत लेते हैं, पितरों को प्राप्त कर लेते हैं।[1] "पूजा करने वाले जिस किसी स्वरुप की पूजा श्रद्धा भक्ति के साथ करते हैं, मैं उसी स्वरुप के प्रति उसकी भक्ति को स्थिर कर देता हूँ। उसी श्रद्धा को धारण करके वह उक्त देवता की पूजा करने का प्रयत्न करता है और उसी से उसे उन उपयोगी वस्तुओं की प्राप्ति होती है जो वस्तुतः मेरे ही द्वारा दी गयी है।"[2] जैसा कि **रामानुज ने कहा है** कि 'ब्रह्म से लेकर एक क्षुद्र पौधे तक जितना भी जीवित जगत् है, जन्म और मृत्यु के आधीन है और उसका कारण कर्म है इसलिए वह ध्यान में सहायक नहीं हो सकता।' केवल सत्य स्वरुप भगवान् ही, जिसे **पुरुषोत्तम** कहते हैं, भक्ति का विषय बन सकता है। निम्न श्रेणी के पूजा के साधन उस मार्ग तक पहुंचने के लिए केवल मार्ग बना सकते हैं। इसका वर्णन करते हुए अध्याय दस में कहा गया है कि हमें अपना ध्यान विशेष विशेष पदार्थों तथा ऐसे पुरुषों में स्थिर करना चाहिए जिनके अन्दर असाधारण शक्ति और विभूति दिखायी देती है। इसे **'प्रतीक उपासना'** कहते हैं। ग्यारहवें अध्याय में समस्त विश्व को ही ईश्वर का स्वरुप बताया गया है। बारहवें अध्याय में अधिष्ठाता के रुप में ईश्वर का वर्णन है। केवल सर्वोच्च सत्ता ही हमें मोक्ष दिला सकती है। दूसरे भक्त सान्त लक्ष्य तक पहुँचते हैं। केवल सर्वोपरि ब्रह्म के भक्त ही अनन्त आनंद को प्राप्त कर सकते हैं।[3]

भक्ति के विविध प्रकार है: ईश्वर की शक्ति, ज्ञान तथा साधुता का चिन्तन, भक्तिपूर्ण हृदय से निरन्तर उसका स्मरण, अन्यायन्य व्यक्तियों के साथ उसके गुणों के विषय में सम्भाषण, अपने साथियों के साथ उसके स्तुतिपरक गीतों का गायन और समस्त कर्मों को ईश्वर की सेवा के भाव से करना।[4] इसके लिए कोई निश्चित नियमों का विधान नहीं बनाया जा सकता। इन विविध प्रकार की गतियों के द्वारा मानवीय आत्मा दैवीय शक्ति के समीप पहुंचती है। अनेक प्रकार के प्रतीकों और साधनाओं का आविष्कार किया गया है, जिससे कि मन प्रशिक्षित होकर ईश्वर की ओर मुड़ सके। ईश्वर के प्रति परम भक्ति तब तक संभव

---

1. "नारदसूत्र"- 7:21-23
2. "नारदसूत्र"- 9:25, 17:3
3. "गीता पर, माध्वाचार्य की टीका, 7.21 ।
   "अन्तो ब्रह्मादिभक्तत्रना मद्भक्तानामनन्तता.."
4 "नारदसूत्र", 16-18

नहीं है जब तक कि हम इन्द्रियों के विषयों की लालसा को नहीं त्याग देते। इस प्रकार कभी-कभी योग को अपनाना होता है।[1] प्रेरणा पूजा के किसी भी प्रकार को अंगीकार कर सकती है, अर्थात् ब्रह्म पूजा से लेकर समय-समय पर हमें जीवन के अन्य धन्धो से अपने आप को मुक्त करने के लिये स्मरण कराना। गीता का आदेश है कि कभी-कभी और सब विषयों को छोड़कर केवल ईश्वर ही के विषय में विचार करना चाहिए। यह एक निषेधात्मक प्रकार है।[2] इसका यह भी आदेश है कि हम समस्त विश्व को ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्त रुप माने।[3] प्रकृति तथा आत्मा दोनों में समान रूप से ईश्वर की व्यापकता का अनुभव करके हमें अपने आचरण को इस प्रकार ढालना चाहिए, कि जिससे यह प्रतीत हो सके कि मनुष्य के अन्दर दैवीय शक्ति का निवास हो सके। सर्वश्रेष्ठ भक्ति और पूर्ण रूपेण आत्म समर्पण अथवा भक्ति एक ही तथ्य के भिन्न-भिन्न रूप हैं। गीता में यह कहा गया है कि एक ही मार्ग द्वारा ईश्वर तक पहुँचा जा सकता है और उसकी पूजा की जा सकती है। इसी सहिष्णुता के भाव ने हिन्दू धर्म को भिन्न-भिन्न प्रकार की पूजा और अनुभव का संश्लेषण बना दिया है और एक ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दिया है कि अनेक पन्थों तथा सम्प्रदायों में एकता स्थापित किये हुये है। यह विचार की एक ऐसी पद्धति है अथवा एक ऐसी धार्मिक संस्कृति है जिसका आधार है यह सिद्धान्त की एक ही सत्य के अनेक पक्ष हैं।

भक्तों के चार प्रकार तथा विनोबा का स्पष्टीकरण

गीता में भक्तों के चार प्रकार बताये हैं आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी। इन सभी की व्याख्या विनोबा ने अपने ढंग से की है। मुख्यतः भक्ति के तीन प्रकार है-सकाम भक्ति, निष्काम भक्ति, पूर्ण भक्ति इनमें निष्काम भक्ति एकांगी है, पूर्ण भक्ति सर्वाङ्गी है। निष्काम भक्ति करने वालों के तीन भेद- अति, जिज्ञासु, अर्थार्थी है। इस प्रकार भक्ति के पांच प्रकार हो गये। (1) सकाम भक्ति (2) आर्त की भक्ति (3) जिज्ञासु की भक्ति (4) अर्थार्थी की भक्ति (5) पूर्णभक्ति या ज्ञानी की भक्ति।

---

1 "नारद सूत्र" 47-49

2 नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत। स्थितोऽस्मि गतसन्देह· करिष्ये वचन तव।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-18, श्लोक- 73

3 गीता, अध्याय 6 से 11 ।

सकाम भक्ति- कुछ इच्छा रखकर भगवान के पास जाने को 'सकाम भक्ति' कहते हैं। मा अपने बच्चे की पीठ ठोककर शाबासी देती है, तो बालक की इच्छा होती है और मा का काम करे।

आर्त की भक्ति- सकाम भक्ति का उल्टा 'निष्काम भक्ति।' 'निष्काम भक्ति' के तीन प्रकार आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी है। आर्त भक्ति क्या है? दया प्रार्थी, भगवान के लिए रोने वाला । वह इस बात के लिए सदैव उत्सुक, व्याकुल, अधीन रहता है कि कब भगवान के प्रेम रस का पान करें।

जिज्ञासु की भक्ति- जिज्ञासु भक्त के पास अदम्य जिज्ञासा होती है। वह प्रत्येक वस्तु के गुण धर्म की खोज करता है। इस प्रकार के भक्तों में कोई गौरीशकर पर बार-बार चढ़ेंगे और मरेंगे। मनुष्य जैसे नदी सुख के द्वारा अन्त में समुद्र को पा जाता है, उसी तरह जिज्ञासु भी अन्त में परमेश्वर तक पहुॅच जाता है।

अर्थार्थी की भक्ति- अर्थार्थी का अर्थ है प्रत्येक बात में अर्थ देखने वाला। अर्थ का मतलब पैसा नहीं, अपितु हित कल्याण है। वह देखेगा कि मैं जो लिखता, कहता, करता हॅू, उससे संसार का कल्याण होगा या नहीं। **जो 'प्रेम' की दृष्टि से समस्त क्रियाओं को देखता है वह आर्त है, जो 'ज्ञान' की दृष्टि से देखता है वह 'जिज्ञासु' है। जो 'कल्याण' की दृष्टि से देखता है अर्थार्थी है।** एक हृदय के द्वारा दूसरा बुद्धि के द्वारा तीसरा कर्म के द्वारा ईश्वर के पास पहुॅच जाता है- ये तीन प्रकार के भक्त है।

पूर्ण भक्ति या ज्ञानी की भक्ति

ज्ञानी की भक्ति तथा जिज्ञासु ज्ञान पाने का मार्ग पर है, ज्ञानी ज्ञान पा चुका है। ज्ञानी भक्तपूर्ण है। उससे जो कुछ दिखायी देता है वह परमेश्वर का रुप है। कुरुप-सुरुप, रूप-रंक, स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी सर्वत्र परमात्मा के ही पावन दर्शन है। ऐसे भक्त को चींटी से लेकर चंद सूर्य तक सर्वत्र एक ही परमात्मा दिखता है। एक ही परमात्मा सर्वत्र व्याप्त होता है। यही देखने का अभ्यास ज्ञानी भक्त किया करते है। ऐसा करते हुए ज्ञानी भक्त एक दिन परमेश्वर में मिल जाता है।

गीता ने सब प्रकार के भक्तो को श्रेष्ठ माना परन्तु ज्ञानी की भक्ति को सर्वश्रेष्ठ अध्याय 7 के 17 वे श्लोक मे माना। इसका तात्पर्य है भक्ति तो सब प्रकार की श्रेष्ठ है, परन्तु जहॉ 'ज्ञान' तथा 'भक्ति' दोनो का समन्वय है, वह सर्वश्रेष्ठ है।

भक्ति की उच्चतम पूर्णता मे निश्चयात्मकता मिल जाती है यह अनुभव स्वरूप से स्वत प्रमाण है। इसका प्रमाण यह स्वय ही है-"स्वय प्रमाणम्।" इस सम्बन्ध में तार्किक विवाद अधिक उपयोगी नहीं है। सच्चे भक्तगण ईश्वर के सबध मे निरर्थक वाद-विवाद नहीं करते।[1] यह उच्चतम प्रकार की भक्ति है जिससे और किसी विपय की ओर सक्रमण नहीं होता। भक्ति ही है जो निरन्तर है और निर्हेतुक है।[2] इस ससार मे ऐसे व्यक्ति बहुत कम है जो ईश्वर की सेवा बिना किसी प्रयोजन के करने की इच्छा रखते है। गीता के अन्दर उन भावना प्रधान धर्मों की निर्बलता नहीं पाई जाती जो प्रेम की वेदी पर ज्ञान और इच्छा का भी बलिदान कर देते हैं। यू तो भगवान को अपने सभी भक्त प्रिय हैं लेकिन ज्ञानी सबसे अधिक प्रिय है।[3] अन्य तीन श्रेणियों के भक्त, अर्थात् आतुर, जिज्ञासु और स्वार्थवश भक्ति करने वालो के उद्देश्य तुच्छ होते हैं और जब उनकी इच्छा की पूर्ति हो जाती है तो वे ईश्वर के प्रति प्रेम रखना छोड़ देते है किन्तु ज्ञानी पुरूष उसकी उपासना सदा ही आत्मा के पवित्र भाव से करते हैं।[4] उस अवस्था में भक्ति अथवा ईश्वर के प्रति प्रगाढ प्रेम एक प्रकार की ऐसी ज्वाला बन जाती है जो अपनी ऊष्णता से व्यक्ति की समस्त मर्यादाओं को समाप्त कर देती है, और फिर सत्य के प्रकाश का दर्शन होता है। इस अध्यात्मिक सत्य के सयम के अभाव मे गीता धर्म भी केवल भावनामय ही रह जाता है और भक्ति भी स्वयं केवल एक भावना मात्र रह जाती है।

जो एक मौन प्रार्थना में आरम्भ होती है और अपने प्रिय का साक्षात दर्शन करती है और अन्त मे जाकर असीम सुख की प्राप्ति करती है जिसमें उपासक भगवान के साथ लीन हो जाते हैं। वह ईश्वर की एकता रूपी शक्ति को इस विश्व के अन्दर व्याप्त जान लेता है। "वासुदेवः सर्वमितिः"। वह जीवन के एकाकीपन और इस जगत की असारता से बचकर

1. नारदसूत्र, 58 और 75
2 भगवद्गीता, 7·17-18, 8 14-22 भगवद्
3. भगवद्गीता, 7 17
4 भगवद्गीता, 18:5

जहा कि वह केवल एक व्यक्ति था, ऐसे स्थान पर पहुँचता है जहा वह प्रधान आत्मा का साधन बन जाता है।[1] महान से महान व्यक्ति भी उसकी केवल आंशिक अभिव्यक्ति मात्र है। प्रत्येक व्यक्ति का यथार्थ स्वरूप देशकाल से नियन्त्रित शाश्वत आत्मा की ही अभिव्यक्ति है। ज्ञान और भक्ति परस्पर एक दूसरे के ऊपर निर्भर हो जाते हैं।[2] सच्ची भक्ति निःस्वार्थ भावना और आचरण के द्वारा प्रकट होती है। भक्त का अपना व्यक्तित्व उस प्रेम के अन्दर छिप जाता है जो सर्वग्राही तथा सबका कल्याणकारी है और जो अपनी भक्ति के बदले तो कुछ नहीं चाहता। यह उस दैवीय प्रेम के समान है जिसने इस जगत को वर्तमान रूप में रचा, इसको धारण करता है और इसे ऊँचा उठाता है। भक्त स्वयं कुछ नहीं करता, किन्तु दैवीय भावना, जो उसके अन्दर है, वह दैवीय स्वतन्त्रता के साथ कर्म कराती है। सच्चे भक्त के आचरण मे नितान्त आत्म समर्पण तथा सब कर्मों को भगवान को समर्पण करने का विशेष लक्षण पाया जाता है। इस प्रकार से भक्त के अन्दर उच्चतम् दार्शनिक तत्व तथा पूर्ण मनुष्य की शक्ति का समावेश पाया जाता है। तिलक के विष्णु पुराण मे एक श्लोक लिया है और उसमें कहा है "ऐसे व्यक्ति जो अपने कर्तव्य कर्मों का त्याग करके केवल कृष्ण नाम का जप करते बैठे रहते हैं वे वास्तव में ईश्वर के शत्रु तथा पापी है, क्योंकि यहां तक कि स्वयं भगवान ने भी इस जगत में धर्म की स्थापना के लिए जन्म लिया था।"

भगवद्गीता में अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से पूछा कि आप (सगुण साकार) की उपासना करने वाले और अव्यक्त अक्षर (निर्गुण निराकार) की उपासना करने वाले इन दोनो में किसको श्रेष्ठ मानते हैं? इसके जवाब में भगवान अपनी उपासना करने वालों को श्रेष्ठ बताया और कहा कि अव्यक्त अक्षर की उपासना करने वाले भी मेरे को ही प्राप्त होते हैं। लेकिन देहाभिमान रहने के कारण उनको उपासना में अधिक कठिनाई होती है। इस प्रकार कहकर भगवान ने सगुण साकार उपासना का विस्तृत रुप से वर्णन किया। 'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्र मित्याभिधीयते'[3] अर्थात् मनुष्य 'यह पशु है या पक्षी है या वृक्ष है' इत्यादि भौतिक चीजो को इदंता से अर्थात् 'यह' रूप से कहता है और इस शरीर को कभी 'मैं'

---

1 भगवद्गीता, अध्याय 18 : श्लोक 46, 7·19, 8·7

2 नारद सूत्र, 28-29

3 इद शरीर कौन्तेय क्षेत्रामित्याभिधीयते। एतद्यो वेत्ति त प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।। श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय 13, श्लोक 1

और कभी 'मेरा' कहता है। परन्तु वास्तव मे अपना कहलाने वाला शरीर भी इदता से कहलाने वाला ही है। चाहे स्थूल शरीर हो, चाहे सूक्ष्म शरीर हो, चाहे कारण शरीर हो, पर वे हैं सभी इदता से कहलाने वाले ही। जो पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश-इन पच तत्वो से बना है अर्थात् जो माता-पिता के सयोग से पैदा होता है उसे स्थूल शरीर कहते हैं। इसको 'अन्नमयकोश' भी कहते हैं, क्योंकि यह अन्न के विकार से ही पैदा होता है और उसी से जीवित रहता है। इसलिए यह अजमय, अन्नस्वरुप ही है। इन्द्रियों के विषय होने से यह शरीर इदम् 'यह' कहा जाता है। सूक्ष्म शरीर 17 तत्वों से मिलकर बना होता है जिनमें पाच ज्ञानेन्द्रिया, पांच कमेन्द्रियां, पांच प्राण, मन, एव बुद्धि होते हैं। इन सतह तत्वों में से प्राणों की प्रधानता को लेकर यह सूक्ष्म शरीर 'प्राणमयकोशे मन की प्रधानता को लेकर यह 'मनोमयकोश' एवं बुद्धि की प्रधानता को लेकर 'जिज्ञानमयकोश' कहलाता है। इस प्रकार यह सूक्ष्म शरीर भी अन्तःकरण का विषय होने से इदमं कहा जाता है।

अज्ञान को कारण शरीर भी कहा जाता है। मानव को बुद्धि तक का तो ज्ञान होता है, पर उससे आगे का ज्ञान नहीं होता है इसीलिए इसे अज्ञान कहते हैं। यह अज्ञान सम्पूर्ण शरीरों का कारण होने से कारण शरीर कहलाता है- 'अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणम्'[1] इस कारण शरीर को स्वभाव आदत और प्रकृति भी कहते हैं तथा इसी को हम **'आनंदमयकोश'** भी कहते हैं। जागृत अवस्था में स्थूल शरीर प्रधान होता है और उसमें सूक्ष्म तथा कारण शरीर भी साथ में रहता है। स्वप्नावस्था में सूक्ष्म शरीर प्रधान होता है और उसमें कारण शरीर भी साथ में रहता है। सुषुक्तिअवस्था में स्थूल शरीर का ज्ञान नहीं रहता जो कि 'अन्नमयकोश' है और सूक्ष्य शरीर का भी ज्ञान नहीं रहता, जो कि प्राणमय, मनोमय, एवं विज्ञानमय कोश है अर्थात् बुद्धि अविद्या में लीन हो जाती है। अतः सुसुक्तिअवस्था कारण शरीर की होती है। जागृत और स्वप्नावस्था में सुख दुःख का अनुभव होता है। लेकिन सुसुक्ति अवस्था में दुःख का अनुभव न होकर सुख रहता है। इसलिए कारण शरीर को 'आनदमयकोश' कहते हैं। कारण शरीर भी स्वय का विषय शरीर होने से स्वयं के द्वारा जानने में, आने वाला होने से इदमं कहा जाता है। उपर्युक्त तीनों शरीरों को शरीर कहने का

1. अध्यात्म0, उत्तर0 5/9

अर्थ यह है कि यह प्रत्येक क्षण में नष्ट होते रहते हैं।[1] इनको कोश कहने का अर्थ यह है कि जैसे चमडे से बनी हुई थैली में तलवार रखने से उसकी सज्ञा 'म्यान' हो जाती है, इसी प्रकार जीवात्मा के द्वारा इन तीनों शरीरों को अपना मानने से अपने को इन तीनों शरीरों की संज्ञा 'कोश' हो जाती है। इस शरीर को क्षेत्र कहने का यह तात्पर्य है कि यह प्रत्येक क्षण में नष्ट होता रहता है और प्रत्येक क्षण में बदलता रहता है।[2] यह इतनी जल्दी बदलता है कि इसको कोई दुबरा नहीं देख सकता, क्योंकि वह तो बदल गया।

शरीर को क्षेत्र कहने का दूसरा भाव खेत से है। जैसे खेत में कई प्रकार के बीज डालकर खेती की जाती है इसी प्रकार मनुष्य शरीर में अहता ममता करके जीव विभिन्न प्रकार का कर्म करता है। उन कर्मो के सस्कार अन्तःकरण में पड़ते है। वे संस्कार जव फल के रूप में व्यक्त होते है तब दूसरा (देवता, पशु, पक्षी, कीट पतंग इत्यादि) शरीर मिलता है। जिस तरह खेत में जैसा बीज बोया जाता है उसी प्रकार का अनाज पैदा होता है। ठीक इसी प्रकार इस शरीर में जिस प्रकार कर्म किये जाते हैं उन कर्मो के अनुसार ही दूसरे शरीर, परिस्थिति इत्यादि मिलते हैं। अर्थात् इस शरीर में किये गये कर्मो के अनुसार ही जीव बार-बार जन्म मरण रुप फल भोगता है। इसी कारण इसको क्षेत्र कहा गया है। अपने वास्तविक स्वरुप से अलग दिखायी देना वाला यह शरीर प्राकृत पदार्थों से, क्रियाओं से वर्ण आश्रम इत्यादि से 'इदम्' (दृश्य) ही है। यह तो 'इदम्' पर जीव ने अज्ञानता से इसको 'अहम्' मान लिया। स्वयं परमात्मा का अश चेतन, सबसे महान है। परन्तु जब वह जड़ पदार्थों से अपनी महत्ता मानने लगता है जैसे, 'मै विद्वान हूँ' 'मैं अमीर हूँ' इत्यादि। तब वास्तव में वह अपनी ही महत्ता को कम करता है। इतना ही नहीं, अपनी महान वह बैइज्जती भी करता है; क्योंकि अगर धन, विद्या, आदि से वह अपने को कहा मानता है तो धनविद्या आदि ही बड़े हुए। उसका अपना कोई महत्त्व नहीं रहा। वास्तविक रुप में देखा जाये तो स्वयं का ही है। नाशवान और जड़ धन आदि पदार्थों का नहीं, क्योंकि जब स्वयं उन पदार्थों को स्वीकार करता है तभी वह महत्वशाली दिखायी पड़ते हैं इसीलिए भगवान 'इदम् शरीरम् क्षेत्रं' पदों से शरीर आदि पदार्थों को अपने से भिन्न इदंता से कहने के लिए

1 'शृ हिसायाम्' धातु से 'शरीर' शब्द बनता है।
2. 'क्षि क्षये' धातु से 'क्षेत्र' शब्द बनता है।

कह रहे हैं। जीवात्मा इस शरीर को जानता है। अर्थात् यह शरीर मेरा है, इन्द्रियां मेरी है, मन मेरा है, बुद्धि मेरी है, प्राण मेरे है- ऐसा मानता है। यह जीवात्मा इस शरीर को कभी 'मैं' कह देता है और कभी 'यह' कह देता है। अर्थात 'मैं शरीर हूॅ'- ऐसा भी मान लेता है और 'यह शरीर मेरा है'- इस प्रकार भी मान लेता है।

यह नियम है कि जहा से बन्धन होता है; वही बन्धन खोलने पर छुटकारा मिलता है। अतः मनुष्य शरीर से बन्धनयुक्त होता है और मनुष्य शरीर के द्वारा ही बन्धन से मुक्ति मिल सकती है। यदि मनुष्य का अपने शरीर के साथ किसी भी तरह का अहंता ममता रुप सम्बन्ध न रहे तो वह मात्र संसार से मुक्त ही है। अतः भगवान् शरीर के साथ माने हुए अहंता ममता रुप सम्बन्ध का विच्छेद करने के लिए शरीर को 'क्षेत्र' बताकर उसको पृथकता से देखने के लिए कह रहे हैं, जो कि वास्तव में पृथक ही है। शरीर को पृथकता से देखना केवल अपना कल्याण चाहने वाले साधकों के लिए ही नहीं। बल्कि मनुष्य मात्र के लिए परम आवश्यक है। कारण यह है कि अपना उद्धार करने का अधिकार और अवसर मनुष्य शरीर में ही है, इसीलिए गीता का उपदेश प्रारम्भ करते हुए भगवान सबसे पहले शरीर एवं पृथकता के बारे में बताते हैं।

भगवद्गीता के अध्याय 13, श्लोक 2 में[1] बताया गया है कि सम्पूर्ण क्षेत्रों में 'मैं हूॅ', ऐसा जो अहमं भाव है, उसमें 'मैं' तो क्षेत्र है और 'हूॅ', मैं पन का ज्ञाता 'क्षेत्रज्ञ' है। 'मैं' का सम्बन्ध होने से ही 'हूॅ' है। अगर 'मैं' का सम्बन्ध न रहे तो 'हूॅ' नहीं रहेगा। प्रत्युत 'हैं' रहेगा। इसका कारण यह है कि 'है' ही 'मैं' के साथ सम्बन्ध होने से 'हूॅ' कहा जाता है। अतः वास्तव में क्षेत्रज्ञ (हूॅ) की परमात्मा- (है) के साथ एकता है। इसी बात को भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं सम्पूर्ण क्षेत्रों में मेरे को ही क्षेत्रज्ञ समझो।

मनुष्य किसी विषय को जानता है, तो वह जानने में आने वाला विषय 'ज्ञेय' कहलाता है। उस ज्ञेय को वह किसी करण के द्वारा ही जानता है। करण दो तरह का होता है- 1) बहिकरण (2) अन्त·करण। मनुष्य विषयों को वहिःकरण जैसे स्त्रोत, नेत्र इत्यादि से जानता है और बहिःकरण को अन्त.करण को मन, बुद्धि इत्यादि से जानता है। उस

1 क्षेत्रज्ञ चापि मा विद्धि सर्वक्षेत्रोषु भारत। क्षेत्रक्षेत्रर्ज्ञयोर्ज्ञान यत्तज्ज्ञान मत मम।।
गीता, अध्याय 13, श्लोक 2

अन्त:करण की चार वृत्तियां हैं- (1) मन (2) बुद्धि (3) चित्त (4) अहंकार। इन चारों में अहकार सबसे सूक्ष्म है, जो कि एक देशीय है। यह अहकार भी जिससे देखा जाना जाता है वह जानने वाला प्रकाश स्वरुप क्षेत्रज्ञ है। उस अहम् भाव के भी ज्ञाता क्षेत्रज्ञ को साक्षात मेरा स्वरुप समझो। यहां पर 'विद्धि' कहने का तात्पर्य यह है कि हे अर्जुन! जैसे तू अपने को शरीर में मानता है और शरीर को अपना मानता है, ऐसे ही तू अपने मेरे में जान, और मेरे में अपने में मान। इसका कारण यह है कि तुमने शरीर के साथ जो एकता मान रखी है उसको छोड़ने के लिए मेरे साथ एकता माननी बहुत जरुरी है। ऐसे यहां भगवान ने क्षेत्रज्ञ की अपने साथ एकता बतायी है। ऐसे ही गीता में अन्य स्थल पर भी एकता बतायी है। जैसे भगवान ने शरीरी (क्षेत्रज्ञ) के लिए कहा है कि जिससे यह सम्पूर्ण ससार व्याप्त है, उसको तुम अविनाशी समझो[1] और भगवान श्रीकृष्ण कहते है मेरे से यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है।[2] यहां पर भगवान ने अंश की अपने अंशी के साथ एकता बतायी है और शरीर संसार की प्रकृति के साथ भी एकता बतायी है।[3] अर्थात् शरीर तो प्रकृति का अंश है, इसलिए तुम इससे सर्वथा विमुख हो जाओ और तुम मेरे अश हो, इसलिए तुम मेरे सम्मुख हो जाओ शरीर की संसार के साथ स्वाभाविक रुप से एकता है, लेकिन यह जीव शरीर को ससार से पृथक मानकर उसके साथ ही अपनी एकता मान लेता है, परमात्मा शरीर के साथ एकता मानने से यह अपने को परमात्मा से पृथक मानता है। शरीर को ससार से पृथक मानना और अपने को परमात्मा से पृथक मानना यह दोनों ही गलत धारणायें है। इसलिए भगवान यहा आज्ञा देते हैं कि क्षेत्रज्ञ मेरे साथ एक है। इस प्रकार समझो। तात्पर्य यह है कि तुमने जहां शरीर के साथ अपनी एकता मान रखी है वही मेरे साथ अपनी एकता मान लो। जो कि वास्तव में है। भगवान एक विलक्षण भाव की ओर 'अपि' पद से कराते हैं। जो कि शास्त्रों में परमात्मा के जिस सर्वव्यापक स्वरुप का वर्णन हुआ है, वह तो मैं हूँ ही, इसके साथ ही सम्पूर्ण क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ रुप से अलग-अलग मैं ही दिखलायी पड़ता हूँ। अतः क्षेत्रज्ञ रुप से परमात्मा ही है। ऐसा जानकर साधक मेरे साथ अभिन्नता का अनुभव करें। स्वयं

---

1 अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिद ततम्। विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-2, श्लोक 17

2 मया ततमिद सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाह तेषवस्थितः।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-9, श्लोक 4

3 मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।। गीता, अध्याय-9, श्लोक 34

संसार से भिन्न और परमात्मा से अभिन्न है। इसलिए यह नियम है कि ससार का ज्ञान तभी होता है, जब उसे सर्वथा भिन्न समझा जा सके। अर्थात् संसार से राग-रहित होकर ही संसार के वास्तविक स्वरुप को जाना जा सकता है। परन्तु परमात्मा का ज्ञान उससे अभिन्न होने से होता है। अतः परमात्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कराने के लिए भगवान क्षेत्रज्ञ के साथ अपनी अभिन्नता बता रहे हैं। इस अभिन्नता को यथार्थ रूप से जानने पर परमात्मा का वास्तविक रूप का ज्ञान हो जाता है। क्षेत्र की सम्पूर्ण ससार के साथ एकता है और क्षेत्र (जीवात्मा) की मेरे साथ एकता। ऐसा जो क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का ज्ञान है वही मेरे मत में यथार्थ **'ज्ञान'** है।

संसार में अनेक भाषाओं का अनेक विद्याओं का, अनेक लिपियों, अनेक कलाओं का, तीनों लोकों और चौदह भुवनों का जो ज्ञान है, वह वास्तविक ज्ञान नहीं है। इसका कारण यह है कि वह ज्ञान सासांरिक व्यवहार में काम में आने वाला होते हुए भी संसार में फंसाने वाला होने से अज्ञान ही है। वास्तविक ज्ञान तो वही है, जिससे स्वयं का शरीर से सम्बन्ध विच्छेद हो जाये। संसार में जन्म न हो। संसार की परतन्त्रता न हो। भगवान श्रीकृष्ण इसी ज्ञान को यथार्थ ज्ञान मानते हैं।

भगवद्गीता के अध्याय 13 के श्लोक 3[1] में भगवान ने कर्म क्षेत्र और कर्म क्षेत्र के ज्ञाता की स्वाभाविक स्थितियों का वर्णन किया है। मनुष्य को यह जानना होता है कि शरीर किस प्रकार बना हुआ है, यह शरीर किन पदार्थों से बनता है, यह शरीर किसके नियन्त्रण में कार्य करता है, इस शरीर में किस प्रकार के परिवर्तन होते हैं। यह परिवर्तन कहां से आते हैं। वे कारण कौन से है, आत्मा का परम् लक्ष्य क्या है तथा आत्मा का वास्तविक स्वरुप क्या है। मनुष्य को आत्मा तथा परमात्मा उनके विभिन्न प्रभावों, उनकी शक्तियों इत्यादि के अन्तर का भी ज्ञान होना चाहिए। यदि मनुष्य भगवान द्वारा बताये गये उपदेश को आत्मसात कर ले तो यह बातें स्वतः स्पष्ट हो जायेगी। लेकिन उसे यह ध्यान रखना होगा कि प्रत्येक शरीर में रहने वाली परमात्मा को जीव का स्वरुप न मान लिया जाये। ऐसा हो

---

1 तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत। स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन में शृणु।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय 13, श्लोक 3

तो सक्षम पुरुष एव अक्षम् पुरुष को एक समान बताना है।[1] इसके अलावा इस श्लोक मे भगवान ने क्षेत्र के विषय मे चार बाते सुनने की आज्ञा दी है। लेकिन क्षेत्रज्ञ् के बारे मे केवल दो बातें स्वरूप एव प्रभाव ही सुनने की आज्ञा दी है। इससे यह शका हो सकती है कि क्षेत्र का प्रभाव क्यो नहीं कहा गया और साथ ही क्षेत्रज्ञ के स्वभाव विकार और जिससे जो पैदा हुआ इन विषयों पर भी क्यो नहीं कहा गया। इस प्रश्न का समाधान यह है कि एक क्षण भी एक रूप मे स्थिर न रहने वाले क्षेत्र का प्रभाव हो ही क्या सकता है। सांसारिक पुरुष के अन्त करण मे धनादि जडपदार्थों का महत्व रहता है। इसीलिए उसको जगत मे क्षेत्र का प्रभाव दिखायी पडता है। लेकिन वास्तव मे क्षेत्र का कोई प्रभाव नहीं होता। इसलिए उसके प्रभाव का कोई वर्णन नहीं किया गया है।

क्षेत्रज्ञ का स्वरूप, उत्पत्ति विनाश रहित है। इसलिए उसका स्वभाव भी उत्पत्ति, विनाश रहित है। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण ने उसके स्वभाव का अलग से वर्णन न करके उसके स्वरूप के अन्तर्गत ही किया है। क्षेत्र के साथ अपना सम्वन्ध मानने के कारण ही क्षेत्रज्ञ में इच्छा द्वेषादि विकारो की प्रतीति होती है। नहीं तो क्षेत्रज्ञ् सर्वथा निर्विकार ही है। इसलिए निर्विकार क्षेत्रज्ञ् के विकारो का वर्णन असभव है। क्षेत्रज्ञ अद्वितीय, अनादि और नित्य है। अतः इसके विषय में कौन किससे उत्पन्न हुआ यह प्रश्न ही नहीं बनता।

भगवद्गीता के अध्याय 13, के चौथे श्लोक[2] में कहा गया है कि विभिन्न वैदिक ग्रन्थों में विभिन्न ऋषियो ने कार्यकलापो के क्षेत्र तथा उन कार्यकलापों के ज्ञाता के ज्ञान का वर्णन किया गया है। अर्थात् भगवान श्रीकृष्ण इस ज्ञान की व्याख्या करने में सर्वोच्च प्रमाण है फिर भी विद्वान तथा प्रामाणिक लोग सदैव पूर्ववर्ती आचार्यो का साक्ष्य प्रस्तुत करते है। भगवान श्रीकृष्ण आत्मा तथा परमात्मा की द्वैतता तथा अद्वैतता सम्बन्धी इस अतीव विवाद को विषय की व्याख्या वेदान्त नामक शास्त्र का उल्लेख करते हुए कहते हैं। वही प्रमाण माना जाता है। सबसे पहले वे कहते है कि यह विभिन्न ऋषियों के मतानुसार है। जहां तक ऋषियों का सम्बन्ध है श्रीकृष्ण के अतिरिक्त व्यास जी महान महर्षि और वेदान्तसूत्र में द्वैत की स्पष्ट व्याख्या की गयी है।

---

1 श्री श्रीमद् ए सी. भक्ति वेदान्त स्वामी प्रभुपाद 'गीतोपनिषद भगवद्गीता यथारुप' पेज न. 521

2 ऋषिभिर्बनुधा गीतं छन्दोभिविर्विधैः पृथक्। ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुम्दिर्विनिश्चतै।। श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-13, श्लोक 4

भगवद्गीता के अध्याय 13 के पॉचवे श्लोक[1] में कहा गया है कि अव्यक्त नाम मूल प्रकृति का है। मूल प्रकृति समष्टि बुद्धि का कारण होने से और स्वय किसी का भी कार्य न होने से केवल प्रकृति ही है। बुद्धि से अंहकार पैदा होता। इसलिए यह प्रकृति है और मूल प्रकृति का कार्य होने से यह विकृति है। तात्पर्य यह है कि यह बुद्धि प्रकृति एवं विकृति दोनो हैं। पंचमहाभूत, अहंकार, बुद्धि अव्यक्त तीनों गुणों के अप्रकट अवस्था दस इन्द्रिया, मन तथा पांच इन्द्रिय विषय, इच्छा द्वेष, सुख-दु.ख, संघात जीवन के लक्षण तथा धैर्य इन सव को संक्षिप्त रूप में कार्य का क्षेत्र ओर उसकी अन्तःक्रियाएं कहा जाता है। महर्षियों वैदिक सूत्रों तथा वेदान्त सूत्र के प्रामाणिक कथनों के आधार पर इस संसार को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है।

सर्वप्रथम पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश ये पाच महाभूत है। फिर अंहकार, बुद्धि तथा तीनों गुणों की अव्यक्त अवस्था थी। इसके पश्चात् पांच ज्ञानेन्द्रियां है नेत्र, कान, जीभ और त्वचा पांच कमेन्द्रियां वाणी, पैर, हाथ, गुदा, लिग है। तब इन इन्द्रियों के ऊपर मन होता हे। जो भीतर रहने के कारण अन्तःइन्द्रियां कहा जा सकता है। फिर इन्द्रियों के पांच विषय होते हैं गन्ध, स्वाद, रूप, स्पर्श, ध्वनि। इस प्रकार इन 24 तत्वों का समूह कार्य क्षेत्र कहा जाता है। यदि कोई इन 24 विषयों का विश्लेषण करें तो उसे कार्य क्षेत्र का ज्ञान हो जायेगा। फिर इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख नामक अन्त.क्रियाएं है। जो स्थूल देह के पांच महाभूतों की अभिव्यक्तियां है। चेतना एवं धैर्य के द्वारा जीवन के लक्षण सूक्ष्म शरीर अर्थात् मन, अहंकार, बुद्धि की प्राकृय है। यह सूक्ष्म तत्व भी कार्य क्षेत्र में सम्मिलित है।

पांच महाभूत-अहंकार की स्थूल अभिव्यक्ति है। जो अहंकार की मूल अवस्था को बताते है। जिसको तामस बुद्धि कहा जाता है। यह प्रकृति के तीनों गुणों की अप्रकट अवस्था को इंगित करता है। प्रकृति के अव्यक्त गुणों को प्रधान कहा जाता है। जो मनुष्य इन 24 तत्वों को उनके विकारों समेत जानना चाहता है उसे दर्शन का अध्ययन करना चाहिए। शरीर इन सभी तत्वों के मात्र अभिव्यक्ति है। शरीर में छः प्रकार के परिवर्तन होते हैं। वह क्षीण होता है और अन्त में समाप्त हो जाता है। इसलिए क्षेत्र अस्थायी भौतिक वस्तु है। लेकिन क्षेत्र का ज्ञाता क्षेत्रज्ञ इससे भिन्न रहता है।[2]

---

1. महाभूतान्यहकारों बुद्धिव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैक च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।। श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-13, श्लोक 5
2 इच्छा द्वेषं· सुंख दुःख संघातश्चेतना घृषिः। एतत्क्षेत्रं सभासेन सविकारमुदहृतम्।। श्रीमद्-अध्याय-13, श्लोक-6।

भगवद्गीता के अध्याय 12, श्लोक।[1] बताया गया है कि भगवान ने पूर्ण श्रद्धा रखने वाले साधक भक्तो का एकमात्र उद्देश्य भगवद्प्राप्ति होता है। अत प्रत्येक (पारमार्थिक -भगवद् सम्बन्धि जप, ध्यान आदि या व्यावहारिक शारीरिक और आजीविका सम्बन्धी) क्रिया में उनका सम्बन्ध निरन्तर भगवान से बना रहता है। भक्तों से एक बड़ी भूल यह होती है कि वह पारमार्थिक क्रियाओ को करते हुए अपना सम्बन्ध क्रियाओं से मानता है लेकिन व्यावहारिक क्रियाओं को करते समय अपना सम्बन्ध जगत (संसार) से मानता है। इस मूल का सबसे महत्वपूर्ण कारण यह है कि विभिन्न कालों में उसका उद्देश्य बदलता रहता है। जब तक बुद्धि में धन प्राप्ति सम्मान प्राप्ति, कुटुम्ब पालन आदि उद्देश्य बने रहते हैं तव तक भक्त का सम्बन्ध भगवान से नहीं होता। यदि वह अपने जीवन की एकमात्र उद्देश्य भगवान को प्राप्ति करना न जान ले तब तक उसको भगवद् प्राप्ति नहीं होती। भगवद् प्राप्ति का उद्देश्य हो जाने पर भगवान का जप, स्मरण करते समय उसका सम्बन्ध भगवान से है किन्तु व्यावहारिक क्रियाओं को करते समय भी उसको भगवान को लगातार स्मरण करते रहना चाहिए।

यदि क्रिया के प्रारंभ में और अन्त में साधक को भगवद्स्मृति है तो क्रिया करते समय भी उसकी लगातार सम्बन्धात्मक भगवद्स्मृति रहती है। ऐसा मानना चाहिए जिस प्रकार बहिखाता में जोड़ लगाते समय व्यापारी की स्मृति इतनी तल्लीन होती है कि मैं कौन हूॅ और जोड़ क्यों लगा रहा हूॅ इसका भी ज्ञान नहीं रहता। उस समय केवल व्यापारी का ध्यान जोड़ के अंकों की ओर रहता है। जोड़ प्रारंभ करने के पूर्व व्यापारी के मन में एक विचार रहता है कि मैं व्यापारी हूॅ तथा अमुक कार्य के लिए जोड़ लगा रहा हूॅ और जोड़ लगाना समाप्त करते ही फिर उसमें उसी भाव की स्फुरणा हो जाती है कि मै अमुक व्यापारी हूँ और अमुक कार्य कर रहा हूँ। इसलिए जिस समय व्यापारी ध्यानपूर्वक जोड़ लगा रहा है उस समय भी मैं अमुख व्यापारी हूॅ। और अमुख कार्य कर रहा हूँ। इस भाव की विस्मृति देखते हुए भी वस्तुतः इसको विस्मृति नहीं मानते। इसी तरह यदि कर्तव्य कर्म के प्रारंभ में और अन्त में भक्त का यह भाव कि मैं भगवान का ही हूॅ और भगवान के लिए ही कर्तव्य कर्म कर रहा

---

1. एव सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमण्यक्तं तेषां के योग वित्तमा.।। श्रीमद्भगवतद्गीता, अध्याय-12, श्लोक।

हूं। इस भाव में उसे थोडी भी शंका नहीं है तो वह अपने कर्तव्य करने में तल्लीनता पूर्वक लग जाता है। उस समय उसमें ईश्वर की विस्मृति दिखायी पड़ती हुई भी वस्तुत' विस्मृति नहीं मानी जाती। मनुष्य को उन सभी सगुण-साकार स्वरूपों को ग्रहण कर लेना चाहिए। जिनको भगवान भक्तों के इच्छानुसार समय-समय पर धारण करते है। तथा जो स्वरूप भगवान ने भिन्न-भिन्न अवतारों में धारण किये है तथा भगवान का जो स्वरूप द्विव्यधाम में विराजमान है जिसे भक्तगण अपनी मान्यतानुसार अनेक रूपों एव नामों से अभिव्यक्त करते हैं। इस श्लोक में 'पर्युपासते' पद का तात्पर्य है कि 'पारितः उपासते' अर्थात् अच्छी तरह उपासना करने से है जैसे पवित्रता स्त्री कभी अपने पति की सेवा में अपने शरीर को अर्पण करके, कभी पति की अनुपस्थिति में पति का चिन्तन करके, कभी पति के सम्बन्ध से सास-ससुर आदि की सेवा करके, और कभी पति के लिए रसोई बनाना आदि घर के कार्य करके सर्वदा पति की ही उपासना करती है, ऐसे ही साधक भक्त भी कभी भगवान में तल्लीन होकर, कभी भगवान् का स्मरण चिन्तन करके, कभी सांसारिक जीवों को भगवान का ही मानकर उनकी सेवा करके कभी भगवान की आज्ञानुसार सांसारिक कर्मो को करके सदा सर्वदा भगवान की उपासना मे लगा रहता। ऐसी उपासना अच्छी तरह से की गयी उपासना है। ऐसे उपासक के हृदय में उत्पन्न एवं नष्ट होने वाले पदार्थों का थोड़ा भी महत्व नहीं रहता। यहां पर 'ये' पद निर्गुण निराकार की उपासना करने वाले साधकों का वाचक है। अर्जुन ने श्लोक के पूर्वाद्ध में जिस श्रेणी के सगुण साकार उपासकों के लिए 'ये' पद का प्रयोग किया है। उसी श्रेणी के निर्गुण - निराकार उपासकों के लिए 'ये' पद का प्रयोग किया गया है। 'अक्षरम्' पद अविनाशी सच्चिदानन्दधन का वाचक है। जो किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है उसको अवयक्त कहा जाता है 'अपि' पद से ऐसा मालूम पड़ता है कि यहां साकार उपासकों की तुलना उसी निराकार उपासकों से की है जो निराकार उपासकों को श्रेष्ठ मानकर उसकी उपासना करते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि साकार एवं निराकार उपासकों में सर्वश्रेष्ठ कौन है? इस प्रश्न का उत्तर भगवान श्रीकृष्ण देते हुए कहते हैं साधकों को साकार एव निराकार स्वरूप में एकता का बोध होना चाहिए। उनके हृदय में दोनों स्वरूपों को प्राप्त कराने वाली साधनों का

साड्गोपाड्ग रहस्य प्रकट होता है।[1] सिद्धभक्तो और ज्ञानियो[2] के आदर्श लक्षणो से वे परिचित हो और ससार से सम्बध विच्छेद की महत्ता उनके समक्ष मे आ जाये। इसी उद्देश्यो को सिद्ध करने मे भगवान की विशेष रुचि दिखायी देती है। अर्थात् भगवान् के हृदय मे जीवो के लिए जो परम् कल्याणकारी, अत्यन्त गोपनीय और उत्तम से भी अधिक उत्तम भाव थे उनका प्रकट करवाने का श्रेय अर्जुन के इस प्रश्न को ही जाता है।

भगवद्गीता के अध्याय 12 श्लोक 2[3] मे यह बताया गया है कि मन वही पर लगता है जहा प्रेम होता है। जिसमे प्रेम होता है। उसका चिन्तन स्वत· होता है। भगवान मेरे है और भगवान का मै हूँ। यही स्वय का भगवान मे लगना है। स्वय का दृढ़ उद्देश्य भगवद्प्राप्ति होने पर भी मन बुद्धि स्वत· भगवान में लगते है। इसके विपरीत स्वयं का उद्देश्य भगवद् प्राप्ति न हो तो मनबुद्धि को भगवान मे लगाने का प्रयत्न करने पर भी वे पूरी तरह भगवान में नहीं लगते। परन्तु जब स्वय ही अपने आप को भगवान का मान लो तब तो मन-बुद्धि भगवान मे लीन हो जाते है। स्वय कर्त्ता है और मन-बुद्धि कारण है करण कर्त्ता के ही आश्रित रहते है। जब कर्ता भगवान का हो जाये तो मन बुद्धि रूप कारण अपने आप भगवान में लग जाते हैं। भक्त से यह भूल होती है कि वह खुद भगवान में न लगकर अपनी मन बुद्धि को भगवान मे लगाने का अभ्यास करता है। स्वयं भगवान में लगे विना मन-बुद्धि को भगवान मे लगाना कठिन है। इसीलिए भक्तो को सबसे अधिक यह शिकायत रहती है कि हमारे मन-बुद्धि भगवान मे नहीं लगते। मन बुद्धि एकाग्र होने से तो सिद्धि हो सकती है पर कल्याण स्वयं के भगवान में लगने से ही होगा।

---

1 अद्वेष्टा सर्वभूताना मैत्र करुण एव च। निर्ममों निरहकार समुद खसुख क्षमी।।13।
सन्तुष्ट सतत योगी यतात्मा दृढनिश्चय। मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्त स मे प्रिय।।14।
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च य। हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो य स च में प्रिय।।15।
अनपेक्ष शुचिर्दक्षउदासीनो गतव्यक्थ। सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भगक्त स मे प्रिय।।16।।
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति प काड्क्षति। शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्य स में प्रिय।।17।।
सम सत्रौ च मित्रे च तथा मानपभानयो। शीतोष्णसुखद खेपु सम सड्गविवर्जित।।18।।
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सतुष्टो येन केनचित्। अनिकेत स्थिरमति र्भक्तिमान्मे प्रियो नर।।19।।
श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-12

2 प्रकाशं च प्रवृत्ति च मोहमेव च पाण्डव। न द्वेष्टि सप्रवृत्तानि न वृित्तानि काड्क्षति।।22।।
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते। गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेड्गते।।23।।
समुद ससुख स्वस्थ समलोष्टाश्मकाञ्चन। तुल्यप्रियाप्रियो धीरम्तुल्यनिन्दात्मसस्तुति।।24।।
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यों मित्रारिपक्षयो·। सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीत म उच्यते।।25।।
श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय 14 श्लोक 22, 23, 24, 25

3. मय्यावेश्य मनो ये मा नित्ययुक्ता उपासते। श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मता·।।
श्रीमद्भगवदगीता, अध्याय-12, श्लोक-2

उपासना का तात्पर्य है कि अपने आप भगवान के प्रति समर्पित करना कि मैं भगवान का ही हूॅ और भगवान् ही मेरे हैं। अपने आप को भगवान के प्रति सर्मर्पित करने से नाम, जप, चिन्तन, ध्यान, सेवा, पूजा इत्यादि तथा शस्त्रविहित क्रिया मात्र स्वत· भगवान के लिए ही है। शरीर प्रकृति और जीवन का अश है। प्रकृति का कार्य शरीर, इन्द्रिया, मन, बुद्धि और अहम् से तादात्म्य ममता और कामना न करके केवल भगवान को ही अपना मानने वाला यह कह सकता है कि मैं भगवान का हूँ, भगवान मेरे है ऐसा मानने वाला भगवान से कोई नया सबध नहीं मानता है। चेतन एवं नित्य होने के कारण जीव का परमात्मा से सबंध अपने आप लेकिन उस नित्य सिद्ध वास्तविक सवंध को भूलकर जीव ने अपना संबंध प्रकृति एवं उसके कार्य से मान लिया। जो अवास्तविक है अतः जब तक प्रकृति से माना हुआ सम्बन्ध है तव तक भगवान से अपना सबंध मानने की जरुरत है। प्रकृति से माना हुआ संबंध टूटते ही भगवान से अपना वास्तविक एव नित्य संवध प्रकट हो जाता है। उसकी स्मृति प्राप्त हो जाती है।[1]

प्रकृति के सम्मुख होने के कारण अर्थात् उससे सुख भोग करते रहने का जीव शरीर से 'मैं' पन का संबंध जोड़ लेता है। अर्थात् मैं शरीर हूॅ ऐसा मान लेता है। इस तरह शरीर से माने संबंध के कारण वह वर्णाश्रम, जाति, नाम, व्यवसाय, बालकपन, जवानी इत्यादि अवस्थाओं को बिना स्मृति किये हुए ही उसको अपना ही मानता है। अर्थात् उसको अपने से अलग नहीं मानता है।

जीव की विजातीय शरीर और संसार के साथ संबंध की मान्यता इतनी मजबूत रहती है, कि बिना याद किये वो सदा याद रहती है। अगर वह अपने सजातीय (चेतन एवं नित्य) ईश्वर के साथ अपने वास्तविक सम्बन्ध को पहचान ले तो किसी भी अवस्था में परमात्मा को नहीं भूल सकता। फिर सोते जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते, प्रत्येक समय प्रत्येक अवस्था में भगवान का स्मरण, चिन्तन अपने आप होने लगता है।

जिस भक्त का लक्ष्य सांसारिक भोगों का संग्रह करना और उनका सुख लेना नहीं है। बल्कि एकमात्र परमात्मा को प्राप्त करना ही है। उसके द्वारा भगवान से अपने सबंध की

---

1. नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत। स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचन तव।। गीता, अध्याय-18, श्लोक-73

पहचान प्रारम्भ हो गयी इस प्रकार मान लेना चाहिए इस सम्बन्ध में पूर्ण रूप से पहचान के बाद भक्त में मन, बुद्धि, इन्द्रिया, शरीर इत्यादि के द्वारा सासारिक भोग एव उनका संग्रह करने की इच्छा बिल्कुल नहीं रहती। वास्तव में एकमात्र भगवान का होते हुए जीव जितने अंश में प्रकृति से सुख भोग प्राप्त करना चाहता है। उतने ही अशों में उसने इस भगवद् सम्बन्ध को दृढ़तापूर्वक नहीं पकड़ा। उतने अशों में ही उसका प्रकृति के साथ सम्बन्ध है। इसलिए साधक को चाहिए कि वह प्रकृति से विमुख होकर अपने आपको केवल भगवान का ही माने। उनके आगे समर्पित हो जाये। साधक की श्रद्धा वही होती है जिसको वह सर्वश्रेष्ठ मानता है। श्रद्धा होने पर अर्थात् बुद्धि लगने पर वह अपने द्वारा निश्चित किये हुए सिद्धान्त के अनुसार स्वाभाविक जीवन बनाए और अपने सिद्धान्त से कभी नहीं हटेगा। जहां पर प्रेम होता है वहाँ पर मन लगता है। जहॉ पर श्रद्धा होती है वहॉ बुद्धि लगती है। प्रेम में प्रेमास्पद सड्ग की तथा श्रद्धा में आज्ञापालन मुख्य रूप से रहती है। एकमात्र ईश्वर में प्रेम होने से भक्त को भगवान के साथ नित्य निरन्तर सम्बन्ध का अनुभव होता है। कभी वियोग का अनुभव होता ही नहीं। इसीलिए भगवान के अनुसार ऐसे भक्त वास्तव में उत्तम, योगवेत्ता है। यहाँ पर 'ते में युक्ततमा मताः' बहुवचनान पद से जो कहा गया है, यही बात छटे अध्याय के 47 वें श्लोक[1] में 'स में युक्ततमो मतः।' एकवचनान्त पद से कही जा चुकी है।[2]

श्रीमद् भगवद्गीता के अध्याय 12, के श्लोक 3 और 4 में[3] भगवान श्रीकृष्ण ने यह बताया है कि <u>परमात्मा को तत्व से समझने के लिए दो प्रकार विशेषण दिये जाते हैं- (1) निषेधात्मक और (2) विध्यात्मक</u> परमात्मा के अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, अचिन्त्य, अचल अव्यय, असीम, अपार, अविनाशी आदि विशेषण 'निषेधात्मक' है और सर्वव्यापी, कूटस्थ, ध्रुव, सत्, चित्त, आनंद आदि विशेषण 'विध्यात्मक' है। परमात्मा के निषेधात्मक विशेषणों का अर्थ प्रकृति से परमात्मा की 'असङ्गता' बतलाना है एवं विध्यात्मक विशेषणों का तात्पर्य

---

1 योगिनामपि सर्वेषा मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान्भजते यो मा स मे युक्ततमो मत ।।
श्रीमद्भगवदगीता, अध्याय-6, श्लोक-47।

2 ग्यारहवें अध्याय के चौव्वनदे श्लोक में भगवान कह चुके है कि अनन्य भक्ति के द्वारा साधक मुझे प्रत्यक्ष देख सकता है, तत्व से जान सकता है और मुझे प्राप्त हो सकता है, परन्तु अठारहवें अध्याय के पचपनवे श्लोक में भगवान ने निर्गुण उपासकों के लिए अपने को तत्व से जानने और प्राप्त करने की बात कही है। दर्शन देने की बात नहीं कही है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है सगुण उपासकों को भगवान के दर्शन भी होते हैं यही उनकी विशेषता है।

3 ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्त पर्युपासते। सर्वत्रगमचिन्त्य च कूटस्थमचल ध्रुवम्।।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः। ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-12, श्लोक 3, 4

परमात्मा की स्वतन्त्र 'सत्ता' बताना है। परमात्मा सांसारिक प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो से परे (सहज निवृत्त) और दोनों को समान रुप से प्रकाशित करने वाला है। ऐसे निरपेक्ष परमात्म तत्व का लक्ष्य कराने के लिए और बुद्धि को परमात्मा के पास ले जाने के लिए भिन्न-भिन्न विशेषणों से परमात्मा का वर्णन (लक्ष्य) किया गया हे।

गीता में परमात्मा और जीवात्मा के स्वरुप का वर्णन समान रुप से मिलता है। परमात्मा के लिए यहॉ जिस प्रकार के विशेषण दिये गये हैं, वही विशेषण गीता में जीवात्मा के लिये भी दिये गये है, जैसे दूसरे अध्याय के चौबीसवें-पचीसवें श्लोक में[1] 'सर्वगतः', 'अचलः', 'अव्यक्तः', 'अचिन्त्यः' आदि, पन्द्रहवें अध्याय के सोलहवें श्लोक में[2] 'कूटस्थ' एव 'अक्षरः' विशेषण जीवात्मा के लिये आये हैं। इसी प्रकार सातवें अध्याय के पचीसवें श्लोक में[3] 'अव्ययम्' विशेषण परमात्मा के लिये और चौदहवें अध्याय के पाचवे श्लोक में 'अव्ययम्' विशेषण जीवात्मा के लिये आया है।

संसार में व्यापक रूप से भी परमात्मा ओर जीवात्मा को समान बताया गया है। जैसे-आठवें अध्याय के बाइसवें तथा अटाहरवें अध्याय के छियालीसवें श्लोक में[4] 'येन सर्वमिदं ततम्' पदों से और नवें अध्याय के चौथे श्लोक में 'मया ततमिदं सर्वम्' पदों से परमात्मा को सम्पूर्ण जगत में व्याप्त बताया गया है। इसी प्रकार दूसरे अध्याय के सत्रहवें श्लोक में 'येन सर्वमिदं ततम्' पदों से जीवात्मा को भी सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त बताया गया है। जिस प्रकार नेत्रों की दृष्टि आपस में टकराती नहीं है अथवा व्यापक होने पर भी शब्द परस्पर नहीं टकराते। ऐसे ही (द्वैत मत के अनुसार) सम्पूर्ण जगत में समान रुप से व्याप्त

---

1 अच्छेद्यो ऽयमदाह्यो ऽयमक्लेद्यो ऽशोष्य एव च। नित्य सर्वगति· स्थाणुरचलो ऽय सनातन·।।
अव्यक्तो ऽयमचिन्त्यो ऽयमविकार्यो ऽयमुच्यते। तस्मादेव विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।।
गीता, अध्याय-2, श्लोक 24 और 25

2 द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरच्क्षाक्षर एव च। क्षर. सर्वाणि भूतानि कूटस्थो ऽक्षर उच्चते।।
श्रीमद् अध्याय-15, श्लोक 16

3 नाह प्रकाश सर्वस्य योगमायासमावृत । मूढो ऽय नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।।
श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-8, श्लोक 25

4 पुरुष स पर पार्थ भक्त्या लम्यस्त्वनन्यया। यस्यान्त· स्थानि भूतानियेन सर्वमिद ततम्।। 8/22।।
यत प्रवृत्तिर्भूतानायेन सर्वमिद ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानव ।। 18/46।।
श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय- 8 और 18, श्लोक 22 और 46
मया ततामिद सर्व जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेश्ववस्थितः।।
श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-9, श्लोक स0 4
अविनाशि तु तद्विद्धियेन सर्वमिद ततम्। विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।। श्रीमद्0, अध्याय-2, श्लोक 17

होने पर भी निरवयव होने से परमात्मा और जीवात्मा की सर्वव्यापकता आपस मे नहीं टकराती।

'सर्वभूतहिते रता.'- कर्मयोग के साधन में आसक्ति, ममता, कामना और स्वार्थ के त्याग की मुख्यता है। मनुष्य जब शरीर, धन, सम्पत्ति आदि पदार्थों को 'अपना' और 'अपने लिए' न मानकर उनको दूसरों की सेवा में लगाता है, तब उसकी आसक्ति, ममता, कामना एवं स्वार्थभाव का त्याग स्वत. हो जाता है। जिसका उद्‌देश्य प्राणिमात्र की सेवा करना है, वह अपने शरीर और पदार्थों को (दीन दुःखी, अभावगस्त) प्राणियों की सेवा में लगायेगा ही। शरीर को दूसरों की सेवा में लगाने से अहंता और पदार्थो को दूसरों की सेवा में लगाने से 'ममता' नष्ट होती है। साधक का तो पहले से ही यह लक्ष्य होता है कि जो पदार्थ सेवा में लग रहे हैं, सेव्य के ही हैं। अतः कर्मयोग के साधन में सम्पूर्ण प्राणियों के हित में रत रहना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए 'सर्वभूतहिते रताः' पद का प्रयोग कर्मयोग का आचरण करने वाले के संबंध में करना ही अधिक युक्तिसंगत है। कहने का अभिप्राय है कि कर्मों से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद करने के लिए कर्मयोग की प्रणाली को अपनाने की आवश्यकता ज्ञानयोग में भी है।

यहां पर एक बात ध्यान देने की है कि शरीर, पदार्थ और क्रिया से जो सेवा की जाती है, वह सीमित ही होती है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ और क्रियाएं मिलकर भी सीमित ही है। परन्तु सेवा में प्राणिमात्र के हित का भाव असीम होने से सेवा भी असीम हो जाती है। अतः पदार्थों को अपने साथ रहने पर भी (उनमें आसक्ति, ममता आदि न करके) उनको सम्पूर्ण प्राणी का मानकर उनकी सेवा करना, क्योंकि वह समष्टि के पदार्थ है। ऐसे असीम भाव होने पर जड़ता से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद हो जाने के कारण साधक को असीम तत्व (परमात्मा) की प्राप्ति हो जाती है। कारण यह है कि पदार्थों को व्यक्तिगत (अपना) मानने से ही मनुष्यों में परिछिन्नता (एकदेशीयता) तथा विषमता होती है और पदार्थों को व्यक्तिगत न मानकर सम्पूर्ण प्राणियों के हित का भाव रखने से परिछिन्नता तथा विषमता मिट जाती है। इसके विपरीत साधारण मनुष्य का ममता वाले प्राणियों के साथ तथा उसकी सेवा करने का सीमित भाव रहने से वह चाहे अपना सर्वस्व उसकी सेवा में क्यों न लगा दे तो भी पदार्थों में तथा जिनकी सेवा करे, उसमें आसक्ति, ममता आदि रहने से (सीमित भाव के कारण)

उसे असीम परमात्म तत्व की प्राप्ति के लिए मनुष्य के हित में रति अर्थात प्रीति रूप असीम भाव का होना आवश्यक है। यहां 'सर्वभूतहिते रता·' यह उसी भाव को व्यक्त करते हैं।

ज्ञानयोगी के लिए सम्बन्ध विच्छेद करना जड़ता द्वारा संभव है, परन्तु जब तक उन लोगों के हृदय में नाशवान पदार्थों का आदर है, तब तक पदार्थों को मायामय समझकर, उनको त्याग देना संभव नहीं है। परन्तु कर्म योगी पदार्थों को दूसरों की सेवा में लगाकर उनका त्याग ज्ञानयोगी की अपेक्षा सुगमतापूर्वक कर सकता है। ज्ञानयोगी में तीव्र वैराग्य होने से ही पदार्थों का त्याग हो सकता है। परन्तु कर्मयोगी थोड़े से वैराग्य में ही पदार्थों का त्याग कर सकता है। प्राणियों के हित में पदार्थो का सदुपयोग करने से जड़ता से सुगमतापूर्वक सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। ईश्वर ने यहा 'सर्वभूतहितेरता' पद देकर यही बताया कि प्राणिमात्र के हित में रत रहने से पदार्थो के प्रति आदर बुद्धि रहते हुए भी जड़ता से संबंध विच्छेद सुगमतापूर्वक हो जायेगा। प्राणिमात्र का हित करने के लिए कर्मयोग ही सुगम उपाय है।

निर्गुण उपासकों की साधना के अन्तर्गत अनेक भेद होते हुए भी मुख्य दो भेद हैं- (1) जड चेतन और चर-अचर के रुप में जो कुछ प्रतीत होता है, वह सब आत्मा या ब्रह्म है और (2) जो कुछ दृश्य वर्ग प्रतीत होता है, वह अनित्य, क्षणभंगुर और असत् है- इस प्रकार संसार का बोध कराने पर जो तत्व शेष रह जाता है, वह आत्मा या ब्रह्म है।

पहली साधना में, **'सब कुछ ब्रह्म है'** इतना सीख लेने मात्र से ज्ञाननिष्ठा सिद्ध नहीं होती। जब तक अन्तःकरण में राग अर्थात् काम कोधादि विकार है, तब तक ज्ञान निष्ठा का सिद्ध होना बहुत ही कठिन है। जैसे राग मिटाने के लिए कर्मयोगी के लिए सभी प्राणियों के हित में रति होना आवश्यक है, ऐसे ही निर्गुण उपासना करने वाले साधकों के लिए भी प्राणिमात्र के हित में रति होना आवश्यक है। तभी राग मिटाकर ज्ञाननिष्ठा सिद्ध हो सकती है। इसी बात का लक्ष्य कराने के लिए यहां 'सर्वभूतहिते रताः' पद आये हैं।

दूसरी साधना में, जो साधक संसार से उदासीन रहकर एकान्त में ही तत्व चिन्तन करते रहते हैं, उनके लिये कर्मों का स्वरुप से त्याग सहायक होता है, परन्तु केवल कर्मों का स्वरुप से त्याग सहायक तो होता है, परन्तु केवल कर्मों का स्वरुप से त्याग कर देने मात्र से

ही सिद्धि प्राप्त नहीं होती।[1] प्रत्युत सिद्धि प्राप्त करने के लिए भोगों से वैराग्य और शरीर इन्द्रिया मन बुद्धि में अपनेपन के त्याग की अत्यन्त आवश्यकता है। इसलिए वैराग्य और निर्ममता के लिए 'सर्वभूत हिते रता·' होना आवश्यक है। ज्ञानयोग का साधक प्राय· समाज से दूर, असङ्ग रहता है। अत· उसमें व्यक्तित्व रह जाता है, जिसे दूर करने के लिए ससार मात्र के हित का भाव रहना अत्यन्त आवश्यक है।

वास्तव में असंगता शरीर से ही होनी चाहिए। समाज से अङ्गता होने पर अहभाव दृढ़ होता है, अर्थात् मिटता नहीं। जब तक साधक अपने को शरीर से स्पष्टतः अलग अनुभव नहीं कर लेता, तब तक संसार से अलग रहने मात्र से उसका लक्ष्य सिद्ध नहीं होता। क्योंकि शरीर भी संसार का ही अंश है और शरीर में तादात्म्य और ममता का न रहना ही उससे वस्तुत· अलग होना है। तादात्म्य और ममता मिटाने के लिए साधक को प्राणिमात्र के हित मे लगना आवश्यक है।

यहां यह संभव नहीं है कि साधक सर्वदा एकान्त में ही रहे, क्योंकि शरीर निर्वाह में उसे व्यवहार क्षेत्र में आना ही पड़ता है और वैराग्य में कमी होने पर उसके व्यवहार में अभिमान के कारण कठोरता आने की सम्भावना रहती है और कठोरता आने पर उसके व्यक्तित्व (अहं भाव) का नाश नहीं होती। अतः उसे तत्व की प्राप्ति में कठिनता होती है। व्यवहार में कहीं कठोरता न आ जाये, इसके लिए भी जरुरी यह है कि साधक सभी प्राणियों के हित में रत रहे। ऐसे ज्ञान योग के साधकों द्वारा सेवा कार्य का विस्तार चाहे न भी हो। परन्तु ईश्वर कहते हैं कि वह भी (सभी प्राणियों के हित में रति होने के कारण) मेरे को प्राप्त कर लेगा।

सगुणोपासक तथा निर्गुणोपासक - दोनों ही प्रकार के साधकों के लिए सम्पूर्ण प्राणियों के हित का भाव रखना जरुरी है। सम्पूर्ण प्राणियों के हित से अलग अपना हित मानने से-'अहम्' अर्थात् व्यक्तित्व बना रहता है, जो साधक के लिए आगे चलकर बाधक है। वास्तव में कल्याण 'अहम्' के मिटने पर ही होता है। अपने लिये किये जाने वाले साधन से 'अहम्' बना रहता है, इसलिये 'अहम्' को पूर्णतया मिटाने के लिए साधक को प्रत्येक क्रिया (खाना, पीना, सोना आदि

---

1. न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते। न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।। श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-3, श्लोक 4

एव जप, ध्यान, पाठ, स्वाध्याय आदि भी) ससार मात्र के हित के लिए भी करना चाहिए। ससार के कल्याण में ही अपना भी कल्याण है। भगवान की मात्र शक्ति परहित में लग रही है। अतः जो सबके हित मे लगेगा, भगवान की शक्ति उसके साथ हो जायेगी।

केवल दूसरों के लिए वस्तुओ को देना और शरीर से सेवा कर देना ही सेवा नहीं है, प्रत्युत अपने लिये कुछ भी न चाहकर दूसरे का हित कैसे हो, उसको सुख कैसे मिले इस भाव से कर्म करना ही सेवा है। अपने को सेवक कहलाने का भाव भी मन में नहीं रहना चाहिए। सेवा तभी हो सकती है, जब सेवक जिसकी सेवा करता है, उसे अपने से अभिन्न (अपने शरीर की तरह) मानता है और बदले में उससे कुछ लेना नहीं चाहता।

जैसे मनुष्य बिना किसी को उपदेश दिये अपने शरीर की सेवा स्वतः ही बड़ी सावधानी से करता है और सेवा करने का अभिमान भी नहीं करता, ऐसे ही सर्वत्र भगवद्बुद्धि होने से भक्त की स्वतः सबके हित में रति रहती है।[1] उनके द्वारा प्राणीमात्र का कल्याण होता है, अतः ऐसे जीवन्मुक्त महापुरुषों को आदर्श मानकर साधक को चाहिए कि सर्वत्र आत्मबुद्धि करके ससार के किसी भी प्राणी को किञ्चितमात्र भी दुःख न पहुँचा कर उनके हित में सदा तत्परता से स्वाभाविक ही रत रहे।

'सर्वत्र समबुद्धय'- इस पद का भाव यह है कि निर्गुण निराकार ब्रह्म के उपासकों की दृष्टि सम्पूर्ण प्राणी पदार्थों में परिपूर्ण परमात्मा पर ही रहने के कारण विषम नहीं होती, क्योंकि परमात्मा सम है।[2] यहां पर ईश्वर ने ज्ञाननिष्ठा वाले उपासकों के लिये इस पद का प्रयोग करके एक विशेष भाव प्रकट करते हैं कि ज्ञानमार्गियों के लिए एकान्त में रहकर तत्व का चिन्तन करना ही एकमात्र साधन नहीं है, क्योंकि 'समबुद्धय·' पद की सार्थकता विशेष रूप से व्यवहार काल में ही होती है। दूसरी बात, संसार से हटकर शरीर को निर्जन स्थान में ले जाना ही सर्वथा एकान्त सेवन नहीं है; क्योंकि शरीर भी तो संसार का ही एक अंग है। शरीर और संसार को अलग-अलग देखना विषम बुद्धि है। अतः शरीर और संसार को एक देखने पर ही समबुद्धि हो सकती है। वास्तविक एकान्त की सिद्धि तो परमात्म तत्व के

---

1 आत्मापम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुख वा यदि वा दु·ख स योगी परमो मत ।।
श्रीमद्0, अध्याय-6, श्लोक स. 32

2. इहैव तैर्जित· सर्गो येषां साम्येस्थितं मनः। निर्दोष हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिता·।।श्रीमद्0, अध्याय-5, श्लोक 19

अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थों अर्थात् शरीर और ससार की सत्ता का अभाव होने से ही होता है। साधन करने के लिये एकान्त भी उपयोगी है, परन्तु सर्वथा एकान्त भी उपयोगी है, परन्तु सर्वथा एकान्त सेवी साधक के लिये व्यवहार काल में भूल होना सभव है। शरीर में अपनापन न होना ही वास्तविक एकान्त है। इसलिए साधक को चाहिए कि वास्तविक एकान्त को लक्ष्य में रखकर अर्थात् शरीर, इन्द्रियॉ, मन और बुद्धि से अपनी अहंता ममता हटाकर सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्म मे अभिन्न भाव से स्थित रहे। ऐसे ही साधक ही वास्तव मे समबुद्धि है।

मानव नियति रूप में भक्ति मार्ग

गीता के टीकाकारों ने इसका वर्णन करते हुए कहा है कि शंकराचार्य आदि अद्वैतवेदान्तियों ने गीता को 'ज्ञान योग' रामानुजाचार्य आदि विशिष्ट द्वैतवादी तथा माध्वाचार्य आदि द्वैतवादी ने गीता को 'भक्तियोग' का ग्रन्थ माना। तिलक आदि कर्मवादी गीता को कर्मयोग का ग्रन्थ मानते है। इन सभी टीकाकारों ने गीता में अपने मत के विरूद्ध जो बातें देखी वहां पर अपनी दृष्टि से इनका समाधान खोजने का प्रयत्न करते हैं। वास्तविक रूप से तो गीता में इन तीनों भागों (ज्ञान, भक्ति, कर्म) का प्रतिपादन किया गया है। अध्याय 6 में 12 तक गीता में भक्तियोग पर विशेष महत्व दिया गया है।

छठवें अध्याय में हम देखते हैं कि ध्यान योग पर अधिक महत्व दिया गया है। ध्यान योग- चतुर्थ अध्याय के 17वें श्लोक में कर्म, विकर्म, अकर्म इन तीन शब्दों का वर्णन हुआ है। आचार्य विनोबा ने विकर्म का अपना अलग अर्थ बताया है। उनका कहना है कि कर्म को इस प्रकार करो, ताकि वह 'अकर्म' हो जाये। 'कर्म' योगमार्ग है और 'अकर्म' सांख्यमार्ग है। कर्म का अकर्म हो जाना ही सांख्य का योग के साथ समन्वय है। परन्तु 'कर्म' की परिणति 'अकर्म' में कैसे होती है? ठीक उसी प्रकार जिस तरह से बच्चा जब घुटने चलने लगता है, तब खड़े होकर चलना उसे 'कर्म' मालूम पड़ता है परन्तु चलते-चलते वह चलने लगता है, परन्तु उसे मालूम नहीं होता कि वह चल रहा है, उसका कर्म, अकर्म हो जाता है।

बच्चे का तथा माता का 'कर्म', 'अकर्म' कैसे हो गया? माता अपने बच्चे के लिए कई रातें जागती है। एक रात जगना ही मनुष्य को तोड़ देता है, मां बच्चे के लिए इतना कैसे जाग जाती है? माता के लिए रात में जगाना कर्म अकर्म हो जाता है। जब कर्म में मन

का सहयोग होता है, तब वह अकर्म हो जाता है। 'गीता' में भी 'कर्म योग' का अर्थ भी तो कर्म के फल को छोड़कर कर्म को अकर्म बना देना ही है। कर्म में मन की शक्ति भर देना उसमे प्राण का सचार कर देना ही विकर्म है। विशेष कर्म होने के कारण इसे 'विकर्म' कहते हैं। कर्म का सहायक विकर्म होता है। जो हमेशा अनिवार्य है। छठें अध्याय में इसी विकर्म के प्रकार बताये गये हैं। कर्म की साधना किन-किन विकर्मों से होती है? ये विकर्म है-ध्यान, भक्ति, आत्मा अनात्मा का विवेक आदि। ध्यान से कर्म में शक्ति भरती है। भक्ति से कर्म मे तीव्रता आती है।

गीता के छठें अध्याय में कर्म में प्राण डालने वाले विकर्म का अर्थात् ध्यान योग का वर्णन है।

ध्यान योग के साधन

कर्मयोग का भगवान ने जो अर्थ दिया है उसका अभिप्राय है-फल की आसक्ति छोड़ना (6-1) 'फल की आसक्ति' छोड़ दी तो 'कर्म', 'अकर्म' हो गया, और साख्य योग का भेद भी नहीं रहा। 'कर्मयोग' भी यही चाहता है, परन्तु फल की आसक्ति छोड़ देना, इतना आसान नहीं हैं?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि इसका उपाय है **'इन्द्रिय निग्रह'** (6-4)। जब तक इन्द्रियां विषयों का संकल्प लेती रहेगी, तब तक आसक्ति नहीं छूटेगी। क्योंकि इन विषयों का रस हमें हर समय फल को पाने के लिए लालायित करता रहेगा। इसलिए इन्द्रियों पर आश्रित न रहकर, अपने आप पर भरोसा करके तू खड़ा हो जा, अपना असली बन्धु (मित्र) तो स्वयं आप तू है। यह सोंचकर अपने उद्धार के लिए साधना की सहायता लें।

<u>गीता में साधना के लिए पांच महत्वपूर्ण बातें बतायी गयी हैं-</u>

(क) चित्त की एकाग्रता
(ख) जीवन में संयम
(ग) समदृष्टि
(घ) श्री अरविन्द द्वारा सम दृष्टि का अर्थ
(ङ) अभ्यास, वैराग्य, श्रद्धा।

समबुद्धि

गीता मे समदृष्टि पर विशेष बल दिया गया है। भक्ति योग नामक छटे अध्याय मे भी समदृष्टि को 'ध्यान योग' का महत्वपूर्ण साधन माना गया होगा, तो अनासक्ति होगी। समदृष्टि का वर्णन करते हुए (5-18) गीता में कहा- ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता में पडित समदृष्टि से देखते हैं। (5-19) में भी कहा जिनका मन 'सम-भाव' में स्थित है- 'येषां साम्ये स्थितं मनः'- उन्होंने इसी संसार में विजय पा ली है 'इहैव तैर्जितः सर्गः'। छटे अध्याय के 29, 30 श्लोक में कहा है कि जो आत्मा को सब प्राणियों में और सब प्राणियों को आत्मा में देखता है, वह सम-दर्शन है, समदर्शी है, जो मुझे सब में देखता है और सबको मुझमें देखता है, उससे में ओझल नहीं होता, वह मुझसे ओझल नहीं होता। छठे अध्याय के 32वें श्लोक में कहा है- जो व्यक्ति सब को अपने समान देखता है; वह परम श्रेष्ठ योगी है। इसी श्लोक में कहा गया है कि सुख-दुःख दोनों में जो समान स्थिति में रहता है। वह 'समदृष्टि' है, (5-20) में भी कहा है कि प्रिय को प्राप्त कर हर्ष न करें, अप्रिय को प्राप्त कर उद्विग्न न हो, (2-56) में यही बात कही गयी है। तो फिर 'अनासक्ति' की साधक इस 'समदृष्टि' का क्या अर्थ है जो बुद्धि योग द्वारा प्राप्त होती है?

'समदृष्टि' का दार्शनिक अर्थ

'समदृष्टि' का अर्थ यह है कि हमें दूसरों को अपने समान समझना। किसी को ऊँचा नीचा नहीं समझना चाहिए। ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते, चांडाल को जैसी पीड़ा होती है वैसी ही मुझे भी। भूख का दुःख सभी को समान होता है। जब मनुष्य दूसरे को अपने समान समझता है, सबको अपने में और अपने को सभी में समझता है तब वह भेद दृष्टि से न देखकर सम दृष्टि से देखता है। तब वह स्वार्थवश नहीं वरन् पदार्थ दृष्टि से सोचता है। सारी आसक्ति की जड़ स्वार्थ है। अगर मान ले हर प्राणी में भगवान है, तब दार्शनिक दृष्टि से भेदभाव को बनाया नहीं जा सकता। एक ही सूत्र जब सब मनकों को पिरो रहा है। तब माला के मन के एक ही से मनके हैं। दूसरों का सुख-दुःख मेरा सुख-दुःख है और मेरा सुख-दु ख दूसरों का सुख-दुःख है। उस मनुष्य के लिए मनुष्य की सेवा ही अपनी सेवा है।

समदृष्टि का आध्यात्मिक अर्थ

श्री अरविन्द का कहना है कि 'समदृष्टि' का जो यह दार्शनिक अर्थ है वह गीता की पूरी भावना को व्यक्त नहीं करता। इस अर्थ में तो सभी समदृष्टि शब्द का प्रयोग करते हैं। ऐसा कौन नहीं कहता कि हमे मब के साथ सम-भाव रखना चाहिए? गीता 'समदृष्टि' शब्द का जब प्रयोग करती है तब वह इस शब्द का दार्शनिक अर्थ तो होता ही है इस अर्थ से ऊँचा एक ओर अर्थ हैं वह है समदृष्टि का आध्यात्मिक अर्थ।

श्री अरविन्द द्वारा समदृष्टि का अर्थ

श्री अरविन्द का कहना है कि संसार में प्रत्यक्ष रूप से दो तत्व पाये जाते हैं। एक ओर विषमता, अशान्ति, उद्वेग है और दूसरी ओर समता, शान्ति, प्रसाद है। संसार की यह विषमता, अशान्ति, उद्वेग हमें परेशान करते हैं, जो प्रकृति के धर्म है आत्मा के धर्म नहीं; समता, शान्ति, प्रसाद भी हममें वर्तमान रहते हैं, ये आत्मा के धर्म है, प्रकृति के धर्म नहीं। सारे झगड़े की जड़ यह है कि प्रकृति ये धर्म आत्मा अपनाये बैठा है। साधना का अर्थ है कि आत्मा अपने को प्रकृति से अलग कर ले। जब आत्मा अपने को प्रकृति से अलग कर लेगी, तो आत्मा का जो अपना स्वभाव है, वह प्रकट हो जायेगा। आत्मा का धर्म, स्वभाव है-समत्व, शान्ति, प्रसाद विषमता आत्मा का धर्म नहीं है, प्रकृति का धर्म है। आत्मा में विषमता किसी को बड़ा समझना, किसी को छोटा यह तभी तक होता है जब तक आत्मा अपने को प्रकृति से अलग नहीं कर लेती।

तो क्या आत्मा अपने को प्रकृति से अलग कर सकता है? श्री अरविन्द कहते हैं कि अपने को प्रकृति से अलग करने की प्रक्रिया हमारे जीवन में सदा चलती रहती है। उदाहरणार्थ, हम आंखे खोले देख रहे हैं, इतने में तार आ गया कि हमारे घर में चोरी हो गयी। हम आंखे खोल कर बैठे है, परन्तु मन कहीं और लगा रहता है। ऐसा क्यों होता है? ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि मन ने इन्द्रियों को अपने से अलग कर लिया है। ऐसे ही आत्मा अपने को मन से बुद्धि से अलग कर लिया है। श्री अरविन्द का कहना है कि आत्मा का गुण समत्व ही है, आत्मा में विषमता, उद्वेग है ही नहीं। ये आत्मा के गुण नहीं है, बल्कि प्रकृति के गुण है। सिर्फ इस अव्यक्त स्थिति को व्यक्त करने की आवश्यकता है।

यहा एक प्रश्न उठता है कि क्या समत्व आत्मा का स्वाभाविक गुण है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री अरविन्द कहते हैं कि 'समत्व आत्मा का स्वाभाविक गुण है'- इसका प्रमाण यह है कि सुख मे तो हमें सुख मिलता है, दु:ख में भी हमें ऐसा लगता है कि इस दु:ख के पीछे कोई सत्ता बैठी है जिसे सुख की अनुभूति हो रही है। योद्धा को युद्ध में जो घाव लगते हैं। उनमें उसे कोई शारीरिक सुख नहीं मिलता, न पराजित होने पर उसे कोई मानसिक संतोष ही होता है, परन्तु युद्ध में उसे पूरा आनंद ही मिलता है, चाहे वह युद्ध उसे पराजित करें या जख्मी करें, या विजयी बना दें। वह पराजय और जख्म की संभावना को और विजय की आशा को युद्ध के ताने-बाने के तौर पर स्वीकार करता है और उसके अन्दर रहने वाला आनद पराजय तथा विजय एवं जख्मी होने या न होने दोनों अवस्थाओं के पीछे से झाकता है। प्रायः घावों के रहते और पीड़ा के होते हुए भी युद्ध में अपने करतबों की स्मृति सुख देती है, हार में भी जबर्दस्त शत्रु का सामना करने के कारण योद्धा को हर्ष और गर्व होता है, अगर वह हीन कोटि का योद्धा है तो उसे द्वेष और प्रतिशोध की भावनाओं से भी एक प्रकार का क्रूर सुख मिलता है। सुख में तो आत्मा सुख का अनुभव करती ही है, दु:ख के पीछे भी सुख की झलक दिखाई पडती है। इससे स्पष्ट है कि 'समत्व' आत्मा का स्वाभाविक गुण है, उसका धर्म है, उसे केवल व्यक्त मात्र करना है, प्रकट मात्र करना है।

इस पर श्री अरविन्द का कहना है कि जब किसी क्रिया द्वारा हम प्रकृति के विक्षोभों में से बाहर निकल आयेंगे। अथवा प्रकृति से अपने को अलग कर लेंगे, तब हममें समता का भाव नहीं आयेगा। यह बात हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए कि अन्त में हमें प्रकृति के सत्व, रज्, तम इन तीन गुणों से अलग हो जाना है तभी हमें आत्मतत्व का स्वरुप प्रकट होगा, प्रकृति के इन तीन गुणों से परे पहुँचने के लिए आरंभ में हमें इन तीन गुणों में से एक का आश्रय लेकर चलना होगा। इसके लिए समत्व का यह आरंभ तामस, राजस और सात्विक हो सकता है। इन तीनों में से निकलने के बाद ही आत्मा शुद्ध हो जाती है।

समत्व का तामस आरंभ

श्री अरविन्द का कहना है कि मनुष्य के स्वभाव में तामसी समता का होना आवश्यक है। जब मनुष्य आलस का अनुभव करें, एक प्रकार की मंद संज्ञाहीनता के कारण जीवन के सुखों के प्रति अनिच्छा हो गयी हो, सुखों का अधिक भोग करके मनुष्य थक गया

हो। जगत से अब जाना हर वस्तु के प्रति अनिच्छा, अरुचि हो गयी. जब इस प्रकार की अवस्था उत्पन्न हो जाये, तो समझो कि तामसी समता उत्पन्न हो गयी। तब मनुष्य सुख-दु ख, ऊँच-नीच का भेद नहीं करता, सभी को सम दृष्टि से देखता है। तामसिक समता में वास्तविक मुक्ति नहीं होती। यदि इस तामसिक समता को प्रकृति के परे अक्षर ब्रह्म के द्वारा सात्विक बनाया जाये, तो यह एक शक्तिशाली साधन बन जायेगा। जो मनुष्य को सन्यास, त्याग की ओर ले जायेगा, न कि कर्मण्यता की ओर।

समत्व का राजस आरम्भ

अभी हमने ऊपर जिस समता का वर्णन किया है वह संसार से तामसिक निवृत्ति' है। परन्तु साधना का आरम्भ तो तब होता है जब हम निराशा, जन्म मरण, जरा, व्याधि आदि से बचकर भागे नहीं वरन् उन्हें अपने काबू में कर लें। संसार के विषयों से भागकर समता प्राप्त करने की जगह ससार के विषयों के साथ रहकर, उन्हें अपने वश में कर ले, इस प्रकार से जो समता प्राप्त होगी, वह राजस समता है। राजस समता के 'आत्मवशित्व, इन्द्रिय निग्रह, आत्मसंयम- ये मुख्य आधार स्तम्भ है। तामस समता में दुर्बलता है, राजस समता में आत्म बल प्रकट होता है। तामस समता का मूल मंत्र 'निवृत्ति' है, राजस समता का मूल मंत्र 'प्रवृत्ति' है।

इसी राजस समत्व का वर्णन गीता में है कि "दुःखों के बीच जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, सुखों के बीच जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, सुखों के बीच जिसे उनकी कोई इच्छा नहीं होती, रागद्वेष मय जिससे निकल गये, वही 'स्थितधी मुनि' है। जो, चाहे उसे शुभ प्राप्त हो या अशुभ, सभी विषयों में स्नेहशून्य रहता है, न उनका हर्षपूर्ण स्वागत होता है न द्वेष करता है, उनकी बुद्धि ज्ञान में स्थित रहती है। जो कोई यहाँ इस शरीर में काम-क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को सह सकता है वही योगी, वही सुखी है। शीत और उष्ण सुख और दुःख देने वाले जो मात्र स्पर्श है वे अनित्य है, आते हैं और जाते हैं, इन्हें सहना सीखों। जिस पुरुष को ये व्यथित या दुःखी नहीं करते, सुख-दुःख में जो सम और धीर रहता है वही अमृत पाने योग्य है।"

समत्व का सात्विक आरंभ

श्री अरविन्द का कहना है कि गीता राजस समत्व को इसी शर्त पर स्वीकार करती है जिस शर्त पर तामस समत्व को स्वीकार करती है। वह शर्त यह है कि राजस के ऊपर ज्ञान की सात्विक दृष्टि, इसके मूल में आत्म साक्षात्कार का लक्ष्य और इसकी चाल में दिव्य स्वभाव की ओर ऊर्ध्वगति होनी चाहिए।

विशुद्ध मनुष्य अपने आचार विचार को प्रारम्भ ही सात्विक समता से करते हैं। वह भी तामस व्यक्ति की तरह जड़, प्राकृतिक, बाह्य जगत को क्षणभगुर मानकर, यह जानने की कोशिश करता है कि जगत् हमारी कामनाओं को पूर्ण नहीं कर सकता। इससे उस व्यक्ति में तामस व्यक्ति की तरह उदासी, दु.ख, नैराश्य नहीं उत्पन्न होता। वह स्थित शांत बुद्धि से सब कुछ देख समझ कर उसका मार्ग खोजता है। गीता के शब्दों में-विषय तथा इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न होने वाले ये भोग दुःख के कारण है, इसलिए ज्ञानी, जागृत बुद्धि वाले मनुष्य इससे दुःखी नहीं होते। वह जानते हैं मनुष्य स्वयं अपना मित्र और शत्रु है। वह हमेशा सावधान रहता है और अपनी अन्तः शक्ति का प्रयोग कर अपने आप को इस कैदखाने से एकदम छुड़ा लेता है 'उद्धेरदात्मनात्मानम्'। वह ज्ञान से तृप्त हो जाता है, अपनी इन्द्रियों का स्वामी हो जाता है, सात्विक समत्व के द्वारा योगी हो जाता है, क्योंकि समत्वं योग उच्यते' समत्व ही योग है। उनकी दृष्टि में मिट्टी, सोना, सब बराबर है, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, मान-अपमान में वह शान्त और एक समान है, शत्रु, मित्र, तटस्थ, उदासीन सब के लिए आत्मभाव में सम होता है, क्योंकि वह देखता है कि ये संबध अनित्य है। वह साधु-असाधु, सदाचारपूत विद्वान, सुसंस्कृत ब्राह्मण, पतित चांडाल अर्थात् मनुष्य भाव के लिए सम, आत्मभाव युक्त हो जाता है।' गीता में जिस समत्व भाव का वर्णन है यह वही सात्विक समता है।

आत्मा की विशुद्ध त्रिगुणातीत समता

ये तीनों प्रकार की समता एक ऊँची, विशुद्ध आध्यात्मिक समता की भूमिका मात्र है। तम, रज, सत्व- ये प्रकृति के गुण है। आत्मा अपनी विशुद्ध समता को पाने के लिए तामस समता से प्रारम्भ करता है, या राजस, सात्विक समता से आरम्भ कर सकता है। वास्तविक समता तो तब प्रकट होती है जब आत्मा अपने को प्रकृति के तीनों गुणों से पृथक कर लें।

यह अनुभव करें कि ससार के दु ख-सुख आदि से आत्मा अलग है, वे बाहरी विक्षोभ आत्मा को छू नहीं सकते, वे बाहर ही रहते है, उसके अन्दर प्रवेश नहीं कर सकते, उसे स्पर्श भी नहीं कर सकते, यही 'आध्यात्मिक समत्व' है। इस अवस्था मे समत्व का अर्थ है एक समान रहना। इसमें उतार-चढ़ाव का कोई स्थान नहीं है।

जब आत्मा प्रकृति से अपने स्वरुप को अलग कर लेती है; तब वह विशुद्ध रुप मे आ जाती है, प्रकृति के बंधन से छूट जाती है। विषमता प्रकृति का धर्म है, समता आत्मा का धर्म है, आत्मा प्रकृति की विषमता को समाप्त कर अपनी समता में समा लेती है। यह आध्यात्मिक समावस्था है, समत्व है। ऐसी अवस्था में सुख-दुःख नहीं पहुँचता, उसका शुद्ध प्रसाद रुप प्रकट हो जाता है। गीता साधक को सत्वगुण, रजोगुण या तमोगुण की समता में नहीं लाना चाहती, इसे आध्यात्मिक समत्व में लाना चाहती है।

यही त्रिगुणातीत अवस्था है। इसी अवस्था के लिए गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा-**'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन-** 'हे अर्जुन! तू प्रकृति के सत्व, रज, तम- इन तीन गुणों से अलग हो जा। गीता का उपदेश साख्य दर्शन के सिद्धान्त से मिलता है कि ससार के दो तत्व है- **'प्रकृति और पुरुष'**। जो कुछ संसार में हो रहा है वह प्रकृति द्वारा न कि पुरुष द्वारा (आत्मा कुछ नहीं करता) प्रकृति के सत्व, रज, तम ये तीन गुण जो कुछ करते हैं पुरुष अपना किया मानने लगता है, इसी से ससार के सब कष्ट है, अगर आत्मा प्रकति के साथ कल्पित इस एकात्मता को काट दे तब वह अपने त्रिगुणातीत स्वरुप में आ जाता है। जैसे मक्खी पहिये पर बैठी घूम रही है, और समझती है कि मैं चल रहा हूँ, यंत्र चल रहा है परन्तु उसका दाता समझता है कि मैं चल रहा हूँ, प्रकृति काम कर रही है, आत्मा समझती है कि मैं कर रहा हूँ। प्रकृति कर रही है, मैं यंत्र की तरह प्रकृति के घुमाये घूम रहा हूँ, प्रकृति कर्ता है, मैं समझता हूॅ मैं कर्ता हूँ इस बात को स्पष्ट करते हुए श्री अरविन्द लिखते हैं- 'परमाणु के अन्दर भी एक इच्छा शक्ति है, परन्तु यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि यह स्वाधीन इच्छाशक्ति नहीं है, क्योंकि यह इच्छा शक्ति यतवत् है, परमाणु इसे चला नहीं सकता, यह परमाणु को यंत्रवत चलाती है। परमाणु में तमोगुण है जिसके भीतर रजोगुण सत्वगुण रहते हैं। इससे ऊपर के स्तर में उद्भिद् कोटि है, उसमें रजोगुण बाहर निकल पड़ा है, वह स्नायवीय प्रतिक्रियाएं करता है, परन्तु ये क्रियाएं भी यंत्रवत चलती है, न कि स्वतंत्र

है। इससे ऊपर के स्तर पर पशु कोटि के जीव है, जिनमें रजोगुण जोर मारता है, परन्तु इसमें भी यंत्रवत कार्य होता है। 'यन्त्रारुढानि मायया' का ही यहा रुप है। पशुओं को उनके कर्मो का जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता है। परमाणु को ऑधी के लिए आग को जलाने के लिए जितना दोष दिया जा सकता है उससे अधिक दोष शेर को अन्य प्राणियों को खा जाने के लिए नहीं दिया जा सकता, क्योकि मारना, खाना शेर स्वतन्त्रता से नहीं करता, बल्कि विवशता से करता है। मनुष्य में हम समझते हैं कि वह स्वतन्त्र है, वह कर्ता, भोक्ता है, परन्तु यह गलत धारणा है। मनुष्य में सत्वगुण प्रधान हो जाता है, परन्तु क्या स्वभाव में सत्वगुण की प्रधानता स्वाधीनता का लक्षण है? गीता इस बात को स्वीकार नहीं करती। गीता का कहना है कि जिस बुद्धि के कारण हम मनुष्य को स्वाधीन कहते है, यंत्रवत चलने वाला नहीं कहते, वह बुद्धि भी प्रकृति का ही एक उपकरण है, बुद्धि द्वारा जो कर्म होता है, वह कितना ही सात्विक क्यों न हो, होता वह प्रकृति के द्वारा ही है, और मनुष्य भी परमाणु तथा पशु की तरह यंत्रवत् ही चलता है, चलाती तो उसे प्रकृति ही है। प्रकृति ही कर्ता, भोक्ता है, पुरुषा कर्ता, भोक्ता नहीं। योग का शुद्ध रुप प्रकृति तथा पुरुष के सानिध्य को तोड़ देना है, पुरुष को प्रकृति से अलग कर लेना है, जब पुरुष प्रकृति से अपने को अलग कर लेगा तब वह त्रिगुणातीत हो जायेगा, तब वह अपनी साम्यावस्था में आ जायेगा।

गीता में वर्णित समबुद्धि का तात्पर्य 'सम दर्शन' से है न कि समवर्तन से।[1] इस श्लोक में भगवान ने विद्या और विनययुक्त ब्राह्मण तथा गाय, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल इन पांच प्राणियों के नाम गिनाये है, जिनके साथ व्यवहार में किसी भी प्रकार से समता नहीं होनी चाहिए। वहां भी 'समदर्शिन' पद आया है। इसका भाव यह है कि सबके प्रति व्यवहार कभी समान नहीं हो सकता। व्यवहार एक समान कोई कर भी नहीं सकता और होना चाहिए भी नहीं। व्यवहार में अवश्य ही अलगाव होता है। व्यवहार में साधक की दृष्टि प्राणी पदार्थो की आकृति और उपयोगिता पर दृष्टि होते हुए भी वास्तव में उनकी दृष्टि उन प्राणी-पदार्थो में परिपूर्ण परमात्मा पर ही रहती है। जैसे विभिन्न प्रकार के गहनों से तत्व (सोने) में कोई अन्तर नहीं आता, ऐसे ही विभिन्न प्रकार के व्यवहार से साधक की तत्व दृष्टि में कोई

---

1 विद्याविनयसपन्नै ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता समदर्शिन.।।
श्रीमद् भगवद्गीता अध्याय-5, श्लोक-18

अन्तर नहीं आता। सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति साधक में आन्तरिक समता रहती है। यहां पर 'समबुद्धय:' पद से उस आन्तरिक समता की ओर ही लक्ष्य कराया गया है।

सिद्धमहापुरुषों की दृष्टि मे एक परमात्मा के सिवाय दूसरी सत्ता न रहने के कारण वे सदा और सर्वत्र 'समबुद्धि' ही है। सिद्ध महापुरुषों की स्वतः सिद्ध स्थिति ही साधकों के लिए आदर्श होती है और उसी को लक्ष्य करके वे चलते हैं। साधकों की दृष्टि मे परमात्मा के लिए अन्य पदार्थों की जितने अश में सत्ता रहती है, उतने अश में उनकी बुद्धि की समता नहीं रहती। अतः साधक की दृष्टि से बुद्धि में जिस तरह अन्य पदार्थों की सत्ता जो स्वतन्त्र रहती है, जैसे-जैसे कम हो जाती है, वैसे-वैस उसकी बुद्धि भी सम हो जाती है। यहां पर भक्त अपनी बुद्धि से सर्वत्र परमात्मा को देखने की इच्छा करता है। भगवान ने सगुण-निर्गुण ब्रह्म को स्वय अपना ही रुप बताया है। इन दोनों श्लोक के द्वारा[1] भगवान ने निर्गुण उपासकों के लिए चार बातें बतायी है- (1) निर्गुण तत्व के स्वरुप का वर्णन (2) साधकों की स्थिति क्या है, (3) उपासना का स्वरुप क्या है (4) साधक क्या प्राप्त करता है। अर्जुन ने अध्याय 12 के पहले श्लोक में निर्गुण तत्व के लिए 'अक्षरम्' और 'अव्यक्तम्' दो विशेषण प्रयुक्त करके प्रश्न किया था, उसी तत्व का विस्तार करने के लिए भगवान ने छः और विशेषण अर्थात् कुल आठ विशेषण दिये, जिसमें पांच निषेधात्मक तथा तीन विध्यात्मक है। निर्गुण उपासकों की दृष्टि सब देश, काल, वस्तु और व्यक्तियों पर होने से सर्वत्र समबुद्धि होती है। देहाभिमान और भोगों की पृथक सत्ता मानने से भोग भोगने की इच्छा होती है, और भोग भोगे जाते हैं। परन्तु निर्गुण उपासकों की दृष्टि में एक परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी सत्ता का महत्व नहीं है। भक्त का सर्व समय निर्गुण तत्व की ओर दृष्टि रखना (तत्व के सम्मुख रहना) ही उपासना है। यहां पर ईश्वर कहते हैं कि ऐसे साधकों को जो निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त करते हैं, वह मैं ही हूँ। कहने का तात्पर्य यह है कि निर्गुण-सगुण एक ही तत्व है।

भगवद्गीता के अध्याय 12, श्लोक 5 में[2] क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम्' का तात्पर्य अव्यक्त में आसक्त चित्त वाले इस विशेषण से उन भक्तों की बात कहीं गयी है

1. मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाह तेप्रवस्थिति ।। श्रीमद्0, अध्याय-9, श्लोक 4
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च। शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।। श्रीमद्0, अध्याय-14, श्लोक 27
2 क्लेशोऽधिकतरस्तेषामण्यक्तासक्तचेतसाम्। अव्यक्ता हि गतिर्दुःख देस्वद्भिरवाप्यते।। श्रीमद्0, अध्याय-12, श्लोक 5

जो निर्गुण उपासना को तो श्रेष्ट मानते हैं। जिनका चित्त निर्गुण तत्व में आविष्ट नहीं हुआ है। तत्व में आविष्ट होने के लिए तीन वातों की आवश्यकता होती है-**रुचि, विश्वास** और **योग्यता** शास्त्रों एव विद्वानों के द्वारा निर्गुण तत्व की महिमा सुनने से जिनकी (निराकार में आसक्ति चित्त वाला होने और निर्गुण उपासना को श्रेष्ठ मानने के कारण उसमें कुछ रुचि तो पैदा हो जाती है। और वे विश्वासपूर्वक साधन आरम्भ कर देने हैं। लेकिन वैराग्य की कमी और देहाभिमान के कारण जिनका चित्त तत्व में प्रविष्ट नहीं होता, ऐसे भक्तों के लिए यहां पर 'अव्यक्तसम्तचेत्तसाम' पद का प्रयोग किया गया है।

<u>सगुण-उपासना की निम्नलिखित सुगमताए हैं-</u>

(1) सगुण उपासना में उपास्य तत्व के सगुण साकार होने के कारण साधक के मन, इन्द्रिय के लिए भगवान के स्वरुप, नाम, लीला, कथा आदि का आधार रहता है। भगवान के परायण होने से उसके मन, इन्द्रिया भगवान के स्वरुप एवं लीलाओं के चिन्तन, कथा श्रवण, भगवद् सेवा और पूजन में अपेक्षाकृत सरलता से लग जाते हैं।[1] अतः उसके द्वारा सांसारिक विषय चिन्तन की सभावना कम रहती है।

(2) सांसारिक आसक्ति ही साधन में क्लेश देती है। परन्तु सगुण उपासक इसको दूर करने के लिए भगवान पर ही आश्रित रहता है। वह अपने भगवान को ही बल मानता है। बिल्ली का बच्चा जिस प्रकार अपनी मां के ऊपर निर्भर रहता है। उसी तरह यह भक्त भी भगवान पर निर्भर रहता है। भगवान ही उसकी रक्षा करते हैं।[2] इसी तरह गोस्वामी तुलसीदास जी 'रामचरित मानस' में[3] भगवान की भक्ति का वर्णन करते हैं। इसलिए उसकी सासारिकता आसानी से समाप्त हो जाती है।

---

1. अनन्यचेता' सतत यो मा स्मरतिनित्यश । तस्याह सुलभ. पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिन ।। श्रीमद्0, अध्याय-8, श्लोक-15

2 अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना. पर्युपासते। तेषानित्यामियुक्तना योगक्षेम वहाम्यहम् ।। श्रीमद्0, अध्याय-9, श्लोक 22

3 सुनि मुनितोहि सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा।
करऊँ सदा तिन कै रखवारी। जिमि बालक राखई महतारी।।
गोस्वामी तुलसीदास, 'रामचरितमानस' 3/43/2-3

(3) ऐसे उपासकों के लिए गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने 'नचिरात्' आदि पदों से शीघ्र ही अपनी प्राप्ति बतायी है।[1]

(4) सगुण उपासको की अज्ञानता को ईश्वर स्वय मिटा देते हैं।[2]

(5) भक्तों का उद्धार ईश्वर करते हैं।[3]

(6) ऐसे उपासकों में यदि कोई सूक्ष्म दोष रह जाता है तो सर्वज्ञ ईश्वर अपनी कृपा के माध्यम से उसको दूर कर देते हैं।[4]

(7) ऐसे भक्तों की उपासना भगवान की ही उपासना है। भगवान सदा, सर्वदा पूर्ण है। इसलिए भगवान की पूर्णता में तनिक भी सन्देह न रहने के कारण उसमें आसानी से श्रद्धा हो जाती है। श्रद्धा होने से वे नित्य, निरन्तर, भगवद् परायण हो जाते हैं। अतः ईश्वर ही उन भक्तों को बुद्धियोग प्रदान करता है। जिससे उन्हें भगवद् प्राप्ति हो जाती है।[5]

(8) ऐसे भक्त ईश्वर को परम कृपालु मानते हैं। इसलिए उनकी कृपा से वे सभी कठिनाइयों का हल निकाल लेते हैं। यही कारण है कि उनका साधन आसान हो जाता है और भगवद् कृपा के सहारे वे जल्द ही भगवद् प्राप्ति कर लेते हैं।[6]

<u>निर्गुण उपासना की निम्नलिखित कठिनाइयां हैं-</u>

(1) निर्गुण उपासना में उपास्यतत्व के निर्गुण निराकार होने के कारण साधक के मन इन्द्रियों के कोई आधार नहीं रहता। आधार न रहने के कारण तथा वैराग्य की कमी के कारण इन्द्रियों के द्वारा विषय चिन्तन की अधिक संभावना रहती है।

---

1 तेषामह समुद्धर्ता मृत्युससारसागरात्। भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।। श्रीमद्0, अध्याय-12, श्लोक 7

2. तेषामेवानुकम्पार्थमहसज्ञानज तम.। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।। श्रीमद्0, अध्याय-10, श्लोक 11

3 तेषामह समुद्धर्ता मत्युससारसागरात्। भवामि नचिगत्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।। श्रीमद्0, अध्याय-12, श्लोक 7

4 मच्चित· सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि। अथ चेत्त्वमहकारान्न श्रोष्यानिविनङ्क्ष्यसि।। श्रीमद्0, अध्याय-18, श्लोक 58
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेक शरण व्रज। अह त्वा सर्वपापेम्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ।। श्रीमद्0, अध्याय-18, श्लोक 66

5. तेषा सतत युक्तना भजता प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोग त येन मामुपयान्ति ते।। श्रीमद्0, अध्याय-10, श्लोक 10

6. सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रय । मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वत पदमव्ययम्।।
चेतसा सर्वकर्माणिमयि संन्यस्य मत्पर·। बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।।
मच्चित· सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि। अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि।।
श्रीमद्0, अध्याय-18, श्लोक 56, 57, 58

(2) शरीर में जितनी अधिक आसक्ति होती है साधन में उतना ही अधिक कष्ट मालूम. पडता है। निर्गुण उपासक अपने विवेक के माध्यम से उसको हटाने की चेष्टा करता है। विवेक का सहारा लेकर साधन करते हुए वह अपने ही साधन बल को महत्व देता है। जैसे बदर का छोटा बच्चा अपने बल पर निर्भर होने से अपनी मा को पकड़ लेता है और अपनी पकड़ से अपनी रक्षा करता है। इसी तरह यह साधक अपने साधन के बल पर अपनी उन्नति मानता है।[1] गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस[2] में भगवान ने इसको अपने समझदार पुत्र की उपमा दी है।

(3) ज्ञानयोगियों के द्वारा लक्ष्य प्राप्ति के प्रसंग में 'अचिरेण'[3] पद तत्व ज्ञान के अनन्तर शान्ति की प्राप्ति के लिए आया है न कि तत्व ज्ञान की प्राप्ति के लिए।

(4) निर्गुण भक्त तत्व ज्ञान की प्राप्ति स्वय करते हैं।[4]

(5) यह अपना उद्धार स्वयं करते हैं।[5]

(6) ऐसे भक्तों में यदि कोई कमी रह जाती है तो उस कमी का अनुभव उसको देर से होता है और कमी को ठीक-ठीक पहचानने में भी कठिनाई होती है। हॉ, कमी को ठीक-ठीक पहचान लेने पर यह भी उसे दूर कर सकते हैं।

(7) भगवान ने ज्ञानयोगियों को ज्ञान प्राप्ति के लिए गुरु की उपासना की आज्ञा दी है। इसलिए निर्गुण उपासना में गुरु की भी आवश्यकता पड़ती है। लेकिन गुरु की पूर्णता का निश्चित ज्ञान न होने पर अथवा गुरु के पूर्ण न होने पर स्थिर श्रद्धा होने में कठिनाई होती है तथा साधना की सफलता में भी विलम्ब की संभावना रहती है।[6]

---

1 बुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मान नियम्य च। शब्दादिन्विषयास्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।।
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानस । ध्यानयोगपरो नित्य वैराग्य समुपाश्रित ।।
अहकार बल दर्प काम क्रोध परिग्रहम्। विमुच्य निर्मम शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।। श्रीमद्0, अध्याय-18, श्लोक 51-53

2. मोरे प्रौढ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमारी।। गोस्वामी तुलसीदास, रामचरित मानस, अध्याय 3/43/4

3. श्रद्धावाँल्लभते ज्ञान तत्पर सयतेन्द्रिय.। ज्ञान लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।। श्रीमद्0, अध्याय-4, श्लोक 39

4. क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तर ज्ञानचक्षुषा। भूतप्रकृतिमोक्ष च ये विदुर्यान्ति ते परम्।। श्रीमद्0, (13/34)

5. योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव य'। स योगी ब्रह्मनिर्वाण ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।। श्रीमद्0, अध्याय-5, श्लोक 24

6. तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञान ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन.।। श्रीमद्0, अध्याय-4, श्लोक 34
अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्। आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।। श्रीमद्0, अध्याय-13, श्लोक 7

(8) ऐसे उपासक उपास्य तत्व को निर्गुण निराकार और उदासीन मानते हैं। इसलिए उन्हें भगवान की कृपा का उस प्रकार का अनुभव नहीं होता। वे तत्व प्राप्ति में आने वाली कठिनाइयो को अपनी भक्ति के बल पर दूर करने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। जिसके कारण तत्व की प्राप्ति में उन्हें देर हो सकती है।

भगवद्गीता के अध्याय 12, के श्लोक छटे, सातवें[1] से बताया गया है कि भगवान भक्तजनों का इस भवसागर से तुरन्त उद्धार कर देते हैं। शुद्ध भक्ति करने पर मनुष्य को इसकी अनुभूति होने लगती है कि ईश्वर महान है और जीवात्मा उसके अधीन है। उसका कर्तव्य है कि वह भगवान की सेवा करें और यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसे माया की सेवा करनी होगी। केवल भक्ति के द्वारा ईश्वर को जाना जा सकता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह पूर्ण रुप से भक्त बने। भगवान को प्राप्त करने के लिए वह अपने मन को भगवान श्रीकृष्ण में लगाये। वह श्रीकृष्ण के लिए ही कर्म करें, चाहे वह जो भी कर्म करें लेकिन वह कर्म कृष्ण के लिए होना चाहिए। भक्ति का यही आदर्श है। भक्त भगवान को प्रसन्न करने के अलावा और कुछ नहीं चाहता। उसके जीवन का उद्देश्य कृष्ण को प्रसन्न करना होता है और श्रीकृष्ण की तुष्टि के लिए वह सब कुछ त्याग सकता है। जिस प्रकार अर्जुन ने कुरुक्षेत्र के युद्ध में किया था। यह विधि अत्यधिक सरल है। मनुष्य अपने कार्य में लगा रहकर भगवान श्रीकृष्ण का कीर्तन कर सकता है। ऐसे दिव्य कीर्तन से भक्त भगवान के प्रति आकृष्ट हो जाता है।

भगवद्गीता के अध्याय 12, के आठवें श्लोक[2] में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि मुझमें अपने चित्त को स्थिर करो और अपनी सारी बुद्धि मुझमें लगाओ। इस प्रकार तुम निःसंदेह मुझमे सदैव वास करोगे। अर्थात् जो भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति में लगा रहता है उसका परमेश्वर के साथ प्रत्यक्ष संबंध होता है। अतैव इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं की प्रारम्भ से उसकी स्थिति दिव्य होती है। भक्त का भी भौतिक धरातल पर नहीं रहता। वह सदैव कृष्ण में वास करता है। भगवान का पवित्र नाम और भगवान अभिन्न है। अतः जब

---

1 ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य मत्परा । अनन्येनैव योगेन मा ध्यायत्त उपासते ।।
तेषामह समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।। श्रीमद्०, अध्याय-12, श्लोक 6-7

2. मय्येव मन आधत्स्वमयि बुद्धिं निवेशय। निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न सशय ।। श्रीमद्०, अध्याय-12, श्लोक 8

भक्त हरे कृष्ण कहता है तो कृष्ण और उसकी अन्तरगा शक्ति भक्ति की जीवा पर नाचते रहते हैं। जब वह भगवान श्रीकृष्ण को भोग चढ़ाता है तो कृष्ण प्रत्यय रुप से उसे ग्रहण करते हैं और इस तरह भक्त इस उच्छिट (जूटन) को खाकर कृष्णमय हो जाता है जो इस प्रकार की सेवा में नहीं लगता वह नहीं समझ पाता कि यह सब कैसे होता है।

अध्याय 12 के नवें श्लोक[1] में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन! यदि तुम अपने चित्त को अविचल भाव से मुझ पर स्थिर नहीं कर सकते तो तुम भक्तियोग के विधिविधानों का पालन करो। इस प्रकार तुममें मुझे प्राप्त करने की चाहत बढ़ेगी। इस श्लोक में भक्तियोग की दो अलग-अलग विधिया बतायी गयी है। पहली विधि उस मनुष्य पर लागू होती है जिसके दिव्य प्रेम द्वारा भगवान श्रीकृष्ण के प्रति वास्तविक आसक्ति उत्पन्न कर ले। दूसरी विधि उन व्यक्तियों के लिए है जिन्होंने भगवान श्रीकृष्ण के प्रति आसक्ति नहीं उत्पन्न की। इस द्वितीय श्रेणी के लिए नाना प्रकार के विधिविधान है जिनका पालन कर मनुष्य श्रीकृष्ण आसक्ति अवथा को प्राप्त कर सकता है।

भक्तियोग इन्द्रियों का सस्कार है। जगत मे इस समय सारी इन्द्रिया अशुद्ध है, क्योंकि वे इन्द्रियॉ तृप्ति में लगी हुई है लेकिन भक्तियोग के अभ्यास से यह इन्द्रियां शुद्ध की जा सकती है और शुद्ध हो जाने पर वह परमेश्वर के सम्पर्क में आती है। इस जगत में रहते हुए मैं किसी अन्य स्वामी की सेवा में रत हो सकता हूँ, लेकिन मैं सचमुच उसकी प्रेम पूर्ण सेवा नहीं कर सकता न ही वह स्वामी मुझसे प्रेम करता है। वह मुझसे सेवा कराता है और मुझे धन देता है। अतएव प्रेम का प्रश्न ही नहीं उठता। लेकिन आध्यात्मिक जीवन के लिए मनुष्य को प्रेम की शुद्ध अवस्था तक ऊपर उठना होता है। यह प्रेम अवस्था इन्हीं इन्द्रियों के द्वारा भक्ति के अभ्यास से प्राप्त की जा सकती है। यह ईश्वर प्रेम अब प्रत्येक हृदय में सुक्त अवस्था में है। वहां पर यह ईश्वर प्रेम अनेक रूपों में प्रकट होता है लेकिन भौतिक संगति से दूर रहता है। इसलिए हृदय को उस भौतिक संगति से विमल बनाना होता है और उस सुक्त कृष्ण प्रेम को जागृत करना होता है। यही भक्ति योग की सम्पूर्ण विधि है।

---

1. अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषिमयि स्थिरम्। अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनजय।। श्रीमद्०, अध्याय-12, श्लोक 9

भक्तियोग के विधिविधानों का अभ्यास करने के लिए मनुष्य को किसी पटु गुरु के मार्गदर्शन में कतिपय नियमो का पालन करना होता है। जैसे ब्रह्ममूहुर्त में सोकर उटना, स्नान करना, मदिर में जाना, प्रार्थना करना, फिर हरे कृष्ण कीर्तन करना, फिर फूल चुनकर अर्चा विग्रह पर चढाना, अर्चाविग्रह पर भोग चढाने के लिए भोजन बनाना, प्रसाद ग्रहण करना इत्यादि। ऐसे अनेक विधिविधान है जिनका पालन करना अनिवार्य है। मनुष्य को शुद्ध भक्तों से नियमित रूप से भगवद्गीता और श्रीमद्भगवद् सुनना चाहिए। इस अभ्यास से कोई भी मनुष्य ईश्वर प्रेम पा सकते हैं और तब भगवद् धाम तक उसका पहुँचना ध्रुव है। विधिविधानों के अन्तर्गत गुरु की आज्ञानुसार भक्तियोग का अभ्यास करके मनुष्य निश्चित ही भगवद् प्रेम की अवस्था को पा सकता है।

भगवद्गीता के अध्याय 12 के श्लोक 10 में[1] कहा गया है कि यदि तुम भक्ति योग के विधिविधानों का अभ्यास नहीं कर सकते तो मेरे लिए कर्म करने का प्रयास करो, क्योंकि मेरे लिए कर्म करने से तुम पूर्ण अवस्था को प्राप्त करोगे। अर्थात् यदि कोई गुरु के निर्देशानुसार भक्तियोग के विधिविधानों का अभ्यास नहीं भी कर पाता, ईश्वर के लिए कर्म करके उसे पूर्णावस्था प्रदान कराये जा सकते हैं। यह कर्म किस प्रकार किया जाये, इसकी व्याख्या[2] पहले की जा चुकी है। मनुष्य में कृष्ण भावनामृत के प्रचार हेतु सहानुभूति होनी चाहिए। ऐसे अनेक भक्त है जो कृष्ण की भक्ति के प्रचार में सलग्न है। उन्हें सहायता की जरुरत है। अतः भले ही कोई भक्तियोग के विधिविधानों का प्रत्यक्ष रुप से अभ्यास न कर सके। उसे ऐसे कार्य में सहायता देने का प्रयास करना चाहिए प्रत्येक प्रकार के प्रयास हेतु भूमि, पूँजी, संघटन तथा श्रम की जरूरत पड़ती है। जिस प्रकार किसी भी व्यापार में रहने के लिए स्थान, उपयोग के लिए कुछ पूँजी तथा विस्तार करने के लिए श्रम के संघटन की आवश्यकता पड़ती है। उसी तरह भगवान श्रीकृष्ण की सेवा के लिए भी इनकी आवश्यकता पड़ती है। अन्तर सिर्फ इतना ही होता है कि भौतिक वाद में मनुष्य, इन्द्रियां तृप्ति के लिए सारा कार्य करता है। लेकिन यही कार्य कृष्ण की तुष्टि के लिए किया जा सकता है। यही

---

1. अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव। मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि।।
   श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-12, श्लोक 10
2. मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्त· सङ्गवर्जित·। निर्वैर सर्वभूतेषु य· स मामेति पाण्डव।।
   श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-11, श्लोक 55

दिव्य कार्य है। यदि किसी के पास पर्याप्त धन है तो वह मंदिर निर्माण कराने में सहायता प्रदान कर सकता है अथवा वह प्रकाशन में सहायता पहुचा सकता है। कर्म के विविध क्षेत्र है और मनुष्य को ऐसे कर्मों मे रुचि लेनी चाहिए। यदि कोई अपने फल को नहीं त्याग सकता तो कम से कम उसका कुछ प्रतिशत भगवद् भक्ति के प्रचार में लगा सकताहै। इस तरह स्वेच्छा से सेवा करने में भक्ति भगवद्प्रेम की परम् अवस्था को प्राप्त कर सकते। जहा उसे पूर्णता की प्राप्ति हो सकती है।

भगवद्गीता के अध्याय 12 के ग्यारहवें श्लोक[1] में कहा गया है कि यदि तुम मेरे भावनामृत में कर्म करने में असमर्थ हो तो तुम अपने कर्म के समस्त फलों को त्याग कर कर्म करने का तथा आत्मस्थित होने का प्रयास करो। हो सकता है कोई व्यक्ति सामाजिक पारिवारिक बातों से या अन्य किसी अवरोध के कारण भगवद्भक्ति के कार्यकलापों के प्रति सहानुभूति तक दिखा पाने मे अक्षम रहे। यदि वह अपने को प्रत्यक्ष रूप से इन कार्यकलापों के प्रति जोड़ ले, तो हो सकता है कि पारिवारिक सदस्य विरोध करे या अन्य समस्याएं उत्पन्न हो सकती है। जिस व्यक्ति के साथ ऐसी कठिनाइयां रहती है उनको चाहिए कि वह अपने कार्यकलापों के संक्षिप्त फल को किसी शुभ कार्य में लगा दें। ऐसी विधियां वैदिक नियमों में कही गयी है। ऐसे अनेक यज्ञ तथा पुण्य कार्यों के वर्णन हुए हैं। जिनमें अपने पूर्ण कार्यों के फलों को प्रयुक्त किया जा सकता है। इससे मनुष्य ज्ञान के स्तर तक उठता है। इस प्रकार यह भी हो सकता है कि भगवद् भक्ति के कार्यकलापों में रुचि न रहने पर भी मनुष्य किसी सामाजिक सस्था को दान देता है तो वह अपने कार्यकलापों की गाढ़ी कमायी का परित्याग करता है। यहां पर इसकी भी संस्तुति की गयी है, क्योंकि अपने कार्यकलापों के फल के परित्याग के अभ्यास से मनुष्य क्रमशः अपने मन को स्वच्द बनाता है और उस विमल मनः स्थिति में वह भगवद् प्राप्ति को समझने में समर्थ होता है। कृष्ण भावनामृत में किसी अन्य अनुभव पर आधारित नहीं है, क्योंकि कृष्ण भावनामृत स्वयं मन को विमल बनाने वाला है, किन्तु यदि कृष्ण भावनामृत को स्वीकार करने में किसी प्रकार का अवरोध हो तो मनुष्य को चाहिए कि अपने कर्म फल का परित्याग करने का प्रयत्न करें। ऐसी दशा

1. अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तु मद्योगमाश्रित । सर्वकर्मफलत्यागं तत. कुरु यतात्मवान्।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-12, श्लोक-11

में समाज सेवा, समुदाय सेवा, राष्ट्रीय सेवा, देश के लिए उत्साह आदि कार्य स्वीकार किये जा सकते हैं जिससे एक दिन मनुष्य भगवान की शुद्ध भक्ति को प्राप्त हो सके।[1] भवगद्गीता में भगवान ने कहा है कि यदि कोई परम कारण के लिए उत्सर्ग करना चाहता है तो भले ही वह यह न जाने कि वह परम कारण स्वय श्रीकृष्ण है, फिर भी यज्ञ विधि द्वारा यह समझा जाता है कि परम कारण श्रीकृष्ण ही है।[2]

श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय 12 के 12वें श्लोक में[3] भगवान ने स्वयं कहा कि एक-एक साधन में असमर्थ होने पर क्रमशः समर्पणयोग, अभ्यास योग, भगवदर्थ कर्म और कर्मफल त्याग ये चार साधन बताये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि क्रमशः पहले साधन की अपेक्षा आगे का साधन नीचे दर्जे का है, और अन्त में कहा है कर्म फल त्याग का साधन सबसे नीचे दर्जे का है। उपर्युक्त धारणाओ को दूर करने के लिए यहां बारहवा श्लोक का वर्णन किया और भगवान ने कर्मफल त्याग को श्रेष्ठ फल बताया। इसी से तत्काल परम् शान्ति मिलती है। इससे चौथे साधन को निम्न श्रेणी न समझ ले। कारण कि इस साधन में आसक्ति, ममता और फलेच्छा के त्याग की ही प्रधानता होने से जिस तत्व की प्राप्ति समर्पण योग अभ्यास योग एवं भगवदर्थ कर्म करने से होती है, ठीक उसी तत्व की प्राप्ति कर्मफल त्याग से भी होती है।

वास्तव में चारों साधनों से स्वतन्त्र भगवान की प्राप्ति होती है। कर्मफल त्याग के फल (भगवत्प्राप्ति) को अलग से बारहवें श्लोक में कहने का प्रश्न है, उससे यही विचार करना चाहिए कि समर्पण योग, अभ्यास योग, भगवदर्थ कर्म करने से भगवद्त्प्राप्ति होती है, यह तो प्रायः प्रचलित ही है, किन्तु कर्म फल त्याग से भी भगवत्प्राप्ति होती है, यह बात प्रचलित नहीं है। इसलिए प्रचलित साधनों की अपेक्षा इसकी श्रेष्ठता बताने के लिए यहां बारहवें श्लोक में कर्मफलत्याग के फल का वर्णन है।

---

1 यत प्रवृत्तिर्भूतानायेन सर्वमिदततम्। स्वकर्मणा तमम्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानव·।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-18, श्लोक-46

2 सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रय । मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वत पदमव्ययम्।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-18, श्लोक-56

3 श्रेयो हि ज्ञानमम्यासाज्ज्ञानाद्धयान विशिष्यते। ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-12, श्लोक-12

यहां भगवान ने कर्मफलत्याग सबधी विशेष बात का विस्तृत वर्णन करते हुए कहा है कि 'कर्मफलत्याग' कर्मयोग का ही दूसरा नाम है। इसका कारण यह है कि कर्मयोग में 'कर्मफल त्याग' ही मुख्य है। यह कर्मयोग भगवान श्रीकृष्ण के अवतार लेने के पूर्व ही लुप्त हो गया था।[1] यहां भगवान ने स्वयं अर्जुन को निमित्त मानकर कृपापूर्वक कर्मयोग पुनः प्रकट किया।[2] भगवान ने इसको प्रकट करके प्रत्येक परिस्थिति मे प्रत्येक मनुष्य को कल्याण का अधिकार प्रदान किया, अन्यथा अध्यात्ममार्ग के विषय में कभी यह सोचा ही नहीं जा सकता कि एकान्त के बिना, कर्मो को छोड़े बिना, वस्तुओं का त्याग किये बिना, स्वजनों के त्याग के बिना प्रत्येक परिस्थिति में मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है।

कर्मयोग में फलासक्ति का त्याग ही मुख्य है। स्वस्थता अस्वस्थता, धनवत्ता निर्धनता, मान-अपमान, स्तुति निन्दा आदि सभी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियां कर्मों के फलरूप मे आती है। इनके साथ रागद्वेष रहने से कभी परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती।[3]

यहॉ उत्पन्न होने वाली वस्तुए ही कर्मफल है जो फलरूप मे मिली है, वह सदा रहने वाला नहीं होती, क्योंकि जब कर्म सदा नहीं रहता। तब उससे उत्पन्न होने वाले फल सदा कैसे रहेगा? इसलिए उसमें आसक्ति, ममता करना भूल ही है। जो फल अभी नहीं मिला है, उसकी कामना करना भी भूल है। अतः फलासक्ति का त्याग कर्मफल का बीज है। कर्मयोग में क्रियाओं की प्रधानता प्रतीत होती है और शरीरादि जड़ पदार्थों के बिना क्रियाओं का होना सम्भव नहीं है, इसलिए कर्मों एवं फलों से छुटकारा पाना कठिन मालूम देती है। परन्तु वास्तव में देखा जाये तो मिली हुई कर्म सामग्री (शरीरादि जड़ पदार्थों) को अपनी तथा अपने लिए मानने से ही फलासक्ति का त्याग कठिन मालूम पड़ता है। शरीरादि प्राप्त सामग्री में किसी प्रकार की आसक्ति न रखकर कर्तव्य कर्म करने से परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है।[4]

---

1. एव परम्पराप्राप्तमिम राजर्षयो विदु । स कालेनेह महता योगो नष्ट परतप।।
   श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-4, श्लोक-2
2. स एवाय मया तेऽद्य योग प्रोक्त पुरातन । भक्तोऽसि में सखा चेति रहस्य ह्येतदुत्तमम्।।
   श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-4, श्लोक-3
3. यामिमा पुष्पिता वाच प्रवदन्त्यविपश्चित । वेदवादरता पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।।
   कामात्मान स्वर्गपरा जन्मकर्मफल प्रदाम्। क्रियाविशेषबहुला भोगैश्वर्यगति प्रति।।
   भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धि· समाधौ न विधीयते।।
   श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-2, श्लोक- 42-44
4. तस्मादसक्त सतत कार्य कर्म समाचार। असक्तो ह्याचस्कर्म परमाप्रोति पुरुष·।। श्रीमद्०, अध्याय-3, श्लोक-19

क्रियाएं कभी बन्धनकारक नहीं होती। बन्धन का मूल हेतु कामना और फलासक्ति है। कामना और फलासक्ति के मिटने पर सभी कर्म-अकर्म हो जाते हैं।

भगवान ने कर्मयोग का कर्म सन्यास से भी श्रेष्ठ बताया है[1] भगवान के मत में स्वरूप से कर्मों का त्याग करने वाला व्यक्ति सन्यासी नहीं है, वरन् कर्मफल का आश्रय न लेकर कर्तव्य कर्म करने वाला कर्म योगी ही सन्यासी है।[2] आसक्ति रहित कर्मयोगी सभी संकल्पों से मुक्त होकर सुगमतापूर्वक योगारूढ़ हो जाते हैं।[3] ठीक इसके विपरीत जो मनुष्य कर्मों तथा उसके फलों को अपना और अपने लिए मानकर सुखभोग की इच्दा रखते हैं वे वास्तव में पाप का ही भोग करते हैं, अतः फलासक्ति संसार में बंधन का मुख्य कारण है। यही वास्तविक त्याग है।[4]

गीता मे फलासक्ति के त्याग पर इतना अधिक जोर दिया गया है इतना किसी और साधन पर नहीं। दूसरे साधनो का वर्णन करते समय भी कर्मफल त्याग को उनके साथ रखा गया है। भगवान के मतानुसार त्याग वही है, जिसमें निष्काम भाव से अपने कर्तव्य का पालन हो और फलों में किसी प्रकार की आसक्ति न हो।[5] उत्तम से उत्तम कर्मों में भी आसक्ति न हो और साधारण कर्मों में द्वेष न हो, क्योंकि कर्म तो उत्पन्न होकर समाप्त हो जायेंगे, पर उनमें होने वाली आसक्ति (राग) और द्वेष रह जायेंगे, जो बन्धन का कारण है। इसके विपरीत राग-द्वेष से रहित मनुष्य के सामने समस्त प्राणियों का संहार रूप कर्तव्य कर्म भी आ जाये तो वह बंध नहीं सकता।[6] इसलिए भगवान 'कर्म फल त्याग' को तप, ज्ञान, कर्म, अभ्यास, ध्यान आदि से श्रेष्ठ बताते है। दूसरे साधनों से क्रियाए तो उत्तम होती हैं पर कोई विशेष लाभ नहीं दिखाई देता और साथ ही साथ श्रम भी करना पड़ता है। परन्तु फलासक्ति का त्याग कर देने पर न तो कोई नये कर्म करने पड़ते हैं, साधक जहाँ है, जो करता है,

---

1. सन्यास कर्मयोगश्च नि श्रेयसकरावुभौ। तयोस्तु कर्मसन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।। श्रीमद्. अध्याय-5, श्लोक-2
2. अनाश्रित कर्मफल कार्यं कर्म करोति य । स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चक्रिय·।। श्रीमद्. अध्याय-6, श्लोक 1
3. यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते। सर्वसंकल्पसन्यासी योगारुढ़स्तादोच्यते।। श्रीमद्., अध्याय-6, श्लोक-4
4. युक्त· कर्मफल त्यक्त्वा शान्तिमाप्रोति नैष्ठिकीम्। अयुक्त कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।।
   श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-5, श्लोक-12
   न हि देहभृता शक्य व्यक्तु कर्माण्यशेषत·। यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।। (18/11)
5. एतान्यापि तु कर्माणि सड्गत्यक्त्वा फलानि च। कर्तव्यानीति में पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।। श्रीमद्०, अध्याय-18, श्लोक-6
6 यस्य नाहकृतो भावो बृद्धिर्यस्थ न लिप्यते। हत्वापि स इमॉल्लोकान्न हन्ति न निबहयते।। श्रीमद्. अध्याय-18, श्लोक-17

जैसी परिस्थिति मे है, उसी मे (फलासक्ति के त्याग से) बहुत सुगमता से अपना कल्याण कर सकता है।

नित्य प्राप्त परमात्मा की अनुभूति होती है, प्राप्ति नहीं। जहाँ 'परमात्मा की प्राप्ति' होती है, वहां उसका अर्थ नित्यप्राप्त की प्राप्ति या अनुभव ही मानना चाहिए । वह प्राप्ति साधनो से नहीं होती, प्रत्युत जड़ता के त्याग से होती है। ममता, कामना और आसाक्ति ही जड़ता है। शरीर मन, इन्द्रिया, पदार्थ, आदि की 'मै' या 'मेरा' मानना ही जड़ता है। ज्ञान, अभ्यास, ध्यान, तप आदि साधन करते समय जड़ता से सम्बन्ध विच्छेद होता है तभी नित्यप्राप्त परमात्मा की प्राप्ति होती है। इस जड़ता का त्याग जितना कर्मफल त्याग से अर्थात् कर्मयोग से सुगम होता है, उतना ज्ञान, अभ्यास, ध्यान, तप, आदि से नहीं। कारण यह है कि इस तरह के साधनों का लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति है, जिसमें सफलता तो मिलती है परन्तु उसमे देरी और कठिनाई है। परन्तु कर्मयोग मे आरंभ से ही जड़ता के त्याग पर जोर दिया गया है। जड़ता का सम्बंध नित्यप्राप्त परमात्मा की अनुभूति में प्रधान बाधा बताया है- यह बात अन्य साधनों में स्पष्ट नहीं है। जब साधक यह दृढ़ निश्चय कर लेता है कि मेरे को कभी किसी परिस्थितिमें मन, वाणी अथवा क्रिया से चोरी, झूठ, व्यभिचार, हिंसा, छल, कपट आदि कोई शास्त्र विरुद्ध कर्म नहीं करने है, तब उसके द्वारा स्वत· निहितकर्म होने लगते है।

भक्त गण को चाहिए कि वे केवल निषिद्ध कर्मो का त्याग करें, न की विहित कर्मो का। इसका कारण यह है कि अगर साधक विहित कर्मो को करने का निश्चय करता है, तो उसमें विहित कर्म करने का अभियान आ जायेगा, जिससे आपका 'अहमूं' सुरक्षित रहेगा। विहित कर्म करने का अभियान रहने से निषिद्ध कर्म होते है। परन्तु 'मैं निषिद्ध कर्म नहीं करुँगा' इस निषेधात्मक निश्चय में किसी योग्यता, सामर्थ्य की अपेक्षा न रहने के कारण साधन में अभियान नहीं आता। निषिद्ध कर्मो के त्याग में भी मूखर्ता से अभियान नहीं आ सकता है। अभियान आने पर विचार करें कि जो नहीं करना चाहिए, वह नहीं किया तो उसमें विशेषता किस बात की? फल की कामना भी तभी होती है, जब कुछ किया जाता है।

जब कुछ किया ही नहीं, केवल निषिद्ध कर्म का त्याग ही किया है,[1] तब फल की कामना क्यों होगी। अतः करने का अभियान न होने से फलासक्ति का त्याग स्वत. हो जाता है। फलासक्ति का त्याग होने पर शान्ति स्वत सिद्ध है।

साधन सम्बन्धी विशेष बात, गीता मे अध्याय 12 मे साधन सम्बन्धी बातों का वर्णन करते हुए भगवान कहते है कि तीन साधनों (अभ्यास योग, भगवदर्थ-कर्म और कर्मफल त्याग) की व्याख्या है, उनमें (कर्मफलत्याग को छोड़कर) दोनों साधन आ जाते है। जैसे (1) अभ्यास योग में भगवान के लिए भजन, नाम-जप आदि क्रियाएं करने से वह - भगवदर्थ है ही और नाशवान फल की कामना न होने से उसमे कर्मफलत्याग भी है, (2) भगवदर्थ-कर्म में भगवान के लिए कर्म होने से अभ्यास योग भी है और नाशवान फल की कामना न होने से कर्मफल त्याग भी है।

वास्तव में साधक को सबसे पहले अपने लक्ष्य, ध्येय अथवा उद्देश्य को दृढ करना चाहिए इसके बाद यह पहचानना चाहिए कि उसका सम्बन्ध वास्तव में किसके साथ है। फिर चाहे कोई भी साधन करे- अभ्यास करे, भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करे अथवा कर्मफल त्याग करे, वही साधन उसके लिए श्रेष्ठ हो जायगा। जब भक्त का यह लक्ष्य हो जायेगा।कि उसे भगवान् को ही प्राप्त करना है। अनादि काल से उसका (साधक) का भगवान के साथ स्वतः सिद्ध सम्बन्ध है। तब उसके लिए कोई भी साधन छोटा नहीं रह जायेगा। किसी भी साधन का छोटा या बड़ा होना लौकिक दृष्टि से ही है। वास्तव में मुख्यता उद्देश्य की है। अतः साधक को चाहिए कि वह अपने उद्देश्य में कभी किञ्चून्मात्र भी शिथिलता न आने दें।

किसी साधन की सुगमता या कठिनता साधक की **'रुचि'** और **'उद्देश्य'** को निर्भर करती है। रूचि और उद्देश्य एक भगवान् का होने से साधन सुगम होता है तथा रूचि संसार का और उद्देश्य भगवान् का होने से साधन कठिन हो जाता है। जैसे, भूख सब की एक ही होती है और भोजन करने पर तृप्ती का अनुभव भी सबको भिन्न-भिन्न होने के कारण

---

1 श्रीमद्भगवगीता, 'साधक सजीवनी'- स्वामी रामसुखदास निश्चित कर्म न करने का निश्चय होने पर दो अवस्थाए होती है- या तो विहित कर्मो में प्रवृत्ति रोगी या सर्वथा निवृत्ति। विहित कर्मो में प्रवृत्ति से अन्तः करण निर्मल होता है, और सर्वथा निवृत्ति होने से परमात्मा में स्थित होती है। सर्वथा निवृत्ति का तात्पर्य वासना रहित अवस्था से है, न कि अर्कमण्यता से, क्योंकि आलस्य ही निषिद्ध कर्म है।

भोज्य पदार्थ भी भिन्न-भिन्न होते है। इसी प्रकार भक्त गणों की रूचि, विश्वास और योग्यता के अनुसार साधन भी भिन्न-भिन्न होते है, पर भगवान की अप्राप्ति का दुःख तथा भगवत्प्राप्ति की अभिलाषा (भूख) सभी साधको में एक ही होती है। साधक चाहे किसी भी श्रेणी का क्यों न हो, साधन की पूर्णता के बाद भगवत्प्राप्तिरूप आनन्द की अनुभूति (तृप्ति) भी सबको एक जैसी ही होती है।

यहॉ पर भगवान ने अर्जुन को निमित्त बनाकर भगवान ने मनुष्यमात्र के कल्याण के लिए चार साधन बताये है- (1) समर्पण योग, (2) अभ्यासयोग, (3) भगवान के लिए सम्पूर्ण कर्मो का अनुपठान और (4) सर्वकर्मफल त्याग। यद्यपि चारों साधनों का फल भगवत्प्राप्ति ही है। तथापि साधकों मे रूचि, श्रद्धा-विश्वास, और योग्यता की भिन्नता के कारण ही भिन्न-भिन्न साधनों का वर्ण हुआ है। वास्तव में चारों ही साधन समान रूप से स्वतन्त्र एवं श्रेष्ठ है। इसलिए साधक जो भी साधन अपनाये, उसे उस साधन को सर्वोपरि मानना चाहिए।

अपने साधन को किसी तरह निम्न श्रेणी का नहीं मानना चाहिए और साधन की सफलता (भगवत्प्राप्ति) के विषय में कभी निराश भी नहीं होना चाहिए। क्योंकि कोई भी साधन निम्न श्रेणी का नहीं होता। अगर साधक का एकमात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्ति हो, साधन उसकी रूचि, विश्वास तथा योग्यता के अनुसार हो, साधन पूरी सामर्थ्य और तत्परता-(लगन) से किया जाये और भगवत्प्राप्ति की इच्छा भी तीव्र हो तो सभी साधन एक समान है। भगवान साधक से इतनी ही अपेक्षा रखते है कि वह अपनी पूरी सामर्थ्य और योग्यता को साधन में लगा दें। अगर साधक अपने उद्देश्य भाव आदि में किसी प्रकार की कमी न आने दें, तो भगवान स्वयं आते अपनी प्राप्ति करा देता है। उद्योग, बल, ज्ञान आदि की कीमत से भगवान की प्राप्ति नहीं होती। अगर भगवान के दिये बल, ज्ञान आदि को भगवान की प्राप्ति के लिए लगा दे तो कृपापूर्वक भगवान की प्राप्ति अवश्य होगी।

संसार में भगवद् प्राप्ति सबसे सरल है और इसके सभी अधिकारी है, क्योंकि मनुष्य शरीर इसी के लिए मिला है। सब प्राणियों के कर्म भिन्न-2 होने के कारण किन्हीं दो व्यक्तियों को भी संसार के पदार्थ एक समान नहीं मिल सकते, जबकि (भगवान एक होने से) भगवत्प्राप्ति सबको एक समान ही होती है। क्योंकि भगवत्प्राप्ति कर्मजन्य नहीं है।

भगवान की प्राप्ति में संसार की वैराग्य और भगवत्प्राप्ति की उत्कष्ठा - ये दो बातें ही मुख्य है। इन दोनों मे से किमी एक साधन के तीव्र होने पर भगवत्प्राप्ति हो जाती है। फिर भी भगवत्प्राप्ति की उत्कष्ठा मे विशेष शक्ति है। इन चारो साधनों में से प्रथम तीन तो भगवत्प्राप्ति की उत्कष्ठा जागृत करने वाले साधन है और चौथा साधन (कर्मफलत्याग) मुख्यतः संसार से सम्बन्ध-विच्छेद करने वाला है। साधन कोई भी हो, जब सांसरिक योग दुःखदायी प्रतीत होने लगेगें तथा भोगों का हृदय से त्याग होगा, तब भगवान की ओर स्वतः ध्यान हो जायेगा और भगवान की कृपा से ही उनकी प्राप्ति हो जायेगी। स्वयं भगवान ही परम् प्रिय लगने लगेगे और शीघ्र ही भगवान की प्राप्ति होगी।

भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने भक्तों के 39 लक्षणों का वर्णन किया है। सगुण उपासना के अर्न्तगत भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी प्राप्ति के[1] चार साधन बताये है। अपने प्रिय भक्तों के लक्षणो का वर्णन भगवान ने श्लोक 13 से लेकर 19 तक बताया है। श्लोक 13 एवं श्लोक 14[2] में सिद्ध भक्त के बारह लक्षण में <u>'अद्वेषटा सर्वभूतानाम्'</u> शब्द का तात्पर्य बताते हुए यह कहा गया है कि अनिष्ट करने वालों के दो भेद होते है (1) इष्ट की प्राप्ति मे अर्थात धन, सम्मान, आदर सत्कार आदि की प्राप्ति में बाधा प्राप्त करने वाले, (2) अनिष्ट पदार्थ क्रिया, व्यक्ति, घटना, आदि से संयोग कराने वाले। भक्ति के शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियां और सिद्धान्त के प्रतिकूल चाहे कोई कितना ही किसी प्रकार की आर्थिक, शारीरिक हानि पहुँचाये पर भक्त के हृदय में उसके प्रति लेषमात्र द्वेष नहीं रहता। इसका सबसे प्रमुख कारण यह है कि वह प्राणिमात्र में अपने प्रभु को व्याप्त देखता है। ऐसी स्थिति में यदि वह विरोध करे तो किस प्रकार करे।[3] प्राणीमात्र आने स्वरूप से ही ईश्वर का अंश है इसलिए किसी भी जीव के प्रति थोड़ा भी द्वेषभाव रखना, ईश्वर के प्रति द्वेष है।

---

1 मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय। निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न सश्य ।।
अथ चिन्त समाधातु न शक्रोषि मयि स्थिरम्। अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनजय।।
अभ्यासेऽत्यसमर्थोऽसि मत्कमपिरामो भव। मदर्थमपि कर्माणि कुर्वसिद्धिमवरस्याति।।
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रित । सर्वकर्मफलत्याग तत. कुरू यतात्मवान।।
श्रीमद भगवद्गीता, अध्याय-12, श्लोक 8, 9, 10, 11।

2 अद्वेपटा सर्वभूताना मैत्रः करूण एव च। निर्ममों निरहकार समदु खसुख· क्षमी।।
सन्तुपट· सतत योगी यतात्मा दृढ़निश्चय·। मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्त. स मे प्रियः।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय 12, श्लोक 13, 14

3. गोस्वामी तुलसीदास, 'रामचरितमानस' निज प्रभुमय देखहि जगत केहि सन करहि विरोध।। (7 112 ख)

'मैत्रः करूण एव च''[1] अर्थात् भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि भक्त के अन्तःकरण में जीवों के प्रति द्वेष का अत्यन्त अभाव नहीं रहता, बल्कि सभी जीवों में भगवद्भाव होने के कारण इसका सबसे मैत्री एवं दया का व्यवहार भी होता है। ईश्वर प्राणीमात्र के सुहृदय है।[2] ईश्वर का स्वभाव भक्त में अवतरित होने के कारण भी सम्पूर्ण प्राणियों का सुहृद् होता है। इसलिए भक्त का भी सभी प्राणियो के प्रति बिना किसी स्वार्थ के स्वाभाविक मैत्री एवं दया का भाव होता है।[3] पातंजलि योगदर्शन मे चित्त शुद्ध के चार मार्ग बताये गये है।[4] अर्थात् सुखियों के प्रति मैत्री, दुखियों के प्रति करुणा, पुण्य आत्माओं के प्रति प्रसन्नता एवं पाप आत्माओ के प्रति उपेक्षा के भाव से चित्त मे निर्मलता आती है। लेकिन भगवान इन चारों हेतुओ को दो भागो मे बांट देते हैं- 'मैत्र च करुणा.'। अर्थात् सिद्ध भक्त का सुखियों एवं पुण्य आत्माओं के प्रति मैत्री का भाव, दुखियों एवं पाप आत्माओं के प्रति करुणा का भाव रहता है। दुःख पाने वाले की अपेक्षा दुःख देने वाले पर दया होनी चाहिए, क्योंकि दुःख पाने वाला तो अपने पुराने पापों का फल भोग कर अपने पापों से छूट रहा है। पर दुःख देने वाला नया पाप कर रहा है इसलिए दुःख देने वाला दया का विशेष पात्र है।

हालॉकि भक्त का जीव के प्रति स्वाभाविक रुप से करुणा एवं मैत्री का भाव रहता है। तथापि उसकी किसी के प्रति थोड़ी भी ममता नहीं होती। प्राणियों एवं पदार्थों में ममता (अपनेपन) का भाव ही मनुष्य को संसार के बन्धन में बांधता है। सिद्धभक्त इस ममता से पृथक रहता है। भक्त का शरीर, इन्द्रियां, मन, बुद्धि से कोई लगाव नहीं रहता। भक्त से यह भूल होती है कि वह जीवों एवं पदार्थों से तो अपने पन का भाव हटाने की कोशिश करता है लेकिन अपने शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियों से ममता हठाने की ओर विशेष ध्यान नहीं देता, अतः भक्त निमर्म नहीं हो पाता।

शरीर, इन्द्रियां और जड़पदार्थों को अपना मानने से अहंकार की उत्पत्ति होती है। भक्त की अपने शरीर के प्रति थोड़ा भी अहम्बुद्धि न होने के कारण केवल भगवान से नित्य

1 यहा भक्त के जो लक्षण बताये गये है, वे ज्ञानी (गुणातीत) पुरुषों के लक्षणों की अपेक्षा भी अधिक एवं विलक्षण है। मैत्र, करुण पद भी यही भक्त के लक्षणों में आये है।

2. भोक्तारं यज्ञतपसा सर्वलोकमहेश्वरम्। सुहृदं सर्वभूताना ज्ञात्वा मा शान्तिमृच्छति।। श्रीमद्0, अध्याय-5, श्लोक 29

3 गोस्वामी तुलसीदास - ''रामचरित्रमानस''। हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी।। 7/47/3

4. मैत्रीकरुणामुदितोक्षाणा सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।। पातजलि योग दर्शन दर्शन शास्त्र, 1/33

संबंध का अनुभव हो जाने के कारण उसके अन्तःकरण मे अपने आप श्रेष्ठ, द्विव्य, अलौकिक गुण दिखायी पड़ने लगते हैं। इन गुणों को वह अपना गुण नहीं मानता, बल्कि वह भगवान के गुण मानता है। परमात्मा के होने के कारण यह गुण सद्‌गुण कहलाते हैं। इस प्रकार की दशा मे भक्त उनको अपना कैसे मान सकता है, इसलिए वह अहकार से अलग रहता है।

भक्त मे सबसे महत्वपूर्ण लक्षण होता है कि वह सुख दुःख की प्राप्ति में सम रहता है। अर्थात् उसके हृदय में राग-द्वेष, हर्ष शोक, इत्यादि विकार पैदा नहीं होते।

भक्त के अन्दर दूसरो को क्षमा करने का भी महत्वपूर्ण लक्षण होता है। अपना किसी तरह का भी अपराध करने वाले को किसी भी तरह का दण्ड देने की इच्छा न रखकर उसे क्षमा कर देने वाले को **'क्षमी'** कहते हैं।

जीव को मन के अनुकूल प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदि के संयोग में और मन के प्रतिकूल प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थिति इत्यादि के वियोग में एक सन्तोष भाव रहता है। विजातीय एवं अनित्य पदार्थों से होने के कारण यह सन्तोष स्थायी नहीं रह पाता। स्वयं नित्य होने के कारण जीव को नित्य परमात्मा की अनुभूति से ही वास्तविक और स्थायी सन्तोष प्राप्त होता है। इस प्रकार **'सन्तोष'** भक्त का एक महत्वपूर्ण लक्षण है।[1]

भक्तियोग के द्वारा भगवान को प्राप्त (नित्य निरन्तर परमात्मा से संयुक्त) पुरुष का नाम योगी है। वास्तव में किसी भी मनुष्य का ईश्वर के साथ कभी वियोग हुआ ही नहीं, न हो सकता है, न होगा। इस वास्तविकता को जिस मनुष्य ने अनुभव किया वही **योगी** है।

भक्त का अगला लक्षण **यतात्मा** है। यतात्मा का मन बुद्धि इन्द्रियों सहित शरीर पर भी पूर्ण अधिकार होता है। सिद्धभक्त को मन बुद्धि आदि वश में नहीं करना पड़ता, बल्कि यह स्वाभाविक रुप से उसके वश में रहते हैं। इसलिए उसमें किसी प्रकार के इन्द्रियजन्य दुर्गुण, दुराचार के आने की संभावना नहीं रहती।

---

1 श्रीमद् भगवद्‌गीता- सदा सतुपरमनस. सर्वा सुखमया दिश । शर्कराकष्टकादिम्यो यथोपानत्पद· शिवम्।। 7/15/17

सिद्धमहापुरुष की दृष्टि मे इस जगत के स्वतन्त्रसत्ता का सर्वथा अभाव रहता है। उसकी बुद्धि में एक परमात्मा की ही सिर्फ सत्ता होती है। इसके अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं रहती। उसका सिर्फ भगवान के साथ ही नित्य सम्बन्ध होता है। इसलिए भक्त का भगवान के प्रति दृढ़ निश्चय होता है। उसका यह निश्चय बुद्धि मे नहीं, बल्कि स्वय मे होता है। जिसका आभास बुद्धि में प्रतीत होता है।

भक्त जब अपना एकमात्र उद्देश्य ईश्वर प्राप्ति बना लेता है। और स्वयं ईश्वर का ही हो जाता है तब उसके मन बुद्धि भी स्वतः भगवान में लग जाते हैं। फिर सिद्ध भक्त के मन बुद्धि ईश्वर के प्रति समर्पित हो जाते हैं।

'यः मद्भक्तः समे प्रिय.'।[1] अर्थात् ईश्वर को तो सभी लोक प्रिय है। लेकिन भक्त का प्रेम सिर्फ ईश्वर को ही होता है उसके अतिरिक्त उसका प्रेम किसी के प्रति नहीं होता। इसलिए भगवान को भी भक्त प्यारा होता है।[2]

गीता के इस श्लोक मे[3] भक्त के लक्षणों को बताते हुए कहा गया है कि भक्त सर्वत्र एवं सभी में अपने परमप्रिय भगवान को ही देखता है। इसलिए उसकी दृष्टि में मन वाणी शरीर से होने वाली सम्पूर्ण क्रियाएं एकमात्र ईश्वर की प्रसन्नता के लिए ही होती है।[4] इस प्रकार की अवस्था में भक्त किसी भी जीव को उद्वेग कैसे पहुँचा सकता है। फिर भी भक्तों के चरित्र में यह देखने को मिलता है उनकी महिमा, आदर सत्कार तथा कहीं-कहीं उनकी क्रिया यहां तक कि उनकी सौम्य आकृति मात्र से भी कुछ लोक ईर्ष्यावश उद्विग्न हो जाते और भक्तों से बिना किसी कारण ईर्ष्या एवं द्वेष रखने लगते हैं। लोगों को भक्त से होने वाले उद्वेग के सन्दर्भ में विचार किया जाये तो इससे यह ज्ञात होता है कि भक्त की क्रियाएं

---

1. गोस्वामी तुलसीदास जी 'रामचरित मानस'- अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया।।
तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया। भजैमोहि मन बच अरु काया।
पुरुष नपुसक नारि वा जीव चरा चर कोई। सर्व भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोई।।
उत्तरकाण्ड, 87/4, 87 क
2 ये यथा मा प्रपद्यते तास्तथैव भजाम्यहम्। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या पार्थ सर्वश ।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-4, श्लोक 11
3 यस्मानेद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च य । हर्षामर्षमयोद्वेगैर्मुक्तो य स च मे प्रिय·।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-12, श्लोक 15
4 सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थित । सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-6, श्लोक 31

कभी किसी उद्वेग का कारण नहीं होती, क्योंकि भक्त प्राणीमात्र में ईश्वर को ही देखता है।[1] उसकी मात्र क्रियाएं स्वभावतः जीवो के परम् हित के लिए ही होती है। उसके द्वारा कभी भूल से भी किसी के अहित की चेष्टा नहीं होती जिनको उनसे उद्वेग होता है वह उनके अपने राग-द्वेष युक्त आसुर स्वभाव के कारण ही होता है। अपने ही दोष युक्त स्वभाव के कारण उनको भक्त की हितपूर्ण चेष्टाएं भी उद्वेगजनक मालूम पड़ती है। इसमें भक्त का क्या दोष है। इस सन्दर्भ में भर्तृहरिनी[2] का कहना है कि हिरन, मछली और सज्जन क्रमशः तृण जल और सन्तोष पर अपना जीवन व्यतीत करते हैं और किसी को कुछ नहीं कहते। लेकिन व्याध, मछुआरे और दुष्ट लोग बिना किसी कारण से इनसे शत्रुता रखते है। वास्तव में भक्तों द्वारा दूसरे मनुष्यो के उद्विग्न होने का कोई प्रश्न ही नहीं खड़ा होता, बल्कि भक्तों के चरित्र म ऐसे प्रसंग दिखलायी देते हैं, जिनसे बैर रखने वाले लोग भी उनसे चिन्तन और संग दर्शन स्पर्श वार्तालाप के प्रभाव से अपना आसुर स्वभाव छोड़कर ईश्वर के भक्त हो गये। ऐसा होने में भक्तों का उदारतापूर्ण स्वभाव ही हेतु है। इस सन्दर्भ में गोस्वामी तुलसीदास जी का भी उपदेश महत्वपूर्ण है।[3]

ईश्वर ने सर्वप्रथम यह बताया कि भक्त से किसी प्राणी का कोई उद्वेग नहीं होता। इसके दो कारण हैं:-

1. भक्त के शरीर मन-इन्द्रियां, सिद्धान्त इत्यादि के विरूद्ध भी अनिच्छा से क्रियाएं या घटनाएं हो सकती है, लेकिन वास्तविकता का बोध होने और भगवान में अत्यधिक प्रेम होने के कारण भक्त भगवद् प्रेम में इतना मगन रहता है कि उसको सब जगह और सभी में भगवान के ही दर्शन होते हैं। इसलिए जीवों की क्रियाओं में उसको भगवान की ही लीला दिखायी देती है। अतः उसको किसी भी क्रिया से कभी उद्वेग नहीं होता।

(2) मनुष्य को दूसरों से उद्वेग तभी होता है जब उसकी कामना-मान्यता साधना, धारणा आदि का विरोध होता है। भक्त सर्वथा पूर्ण काम होता है इसलिए दूसरों में उद्विग्न होने का कोई कारण ही नहीं होता।

---

1 बहुनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मा प्रपद्यते। वासुदेव. सर्वामिति स महात्मा सुदुर्लभः।। श्रीमद्०, अध्याय-7, श्लोक 19

2 मृगमीनसज्जनाना तृणजलसतोषनिहितवृत्तीनाम्। लुब्धकधीवरपिशुना निपकारणवैरिणो जगति।। भर्तृहरि-नीतिशतक- 61

3. उमा संत कई इहइ बड़ाई। मद करत जो करइ भलाई।। गोस्वामी तुलसीदास जी, रामचरित मानस- 5/41/4

सिद्ध भक्त सभी प्रकार के हर्ष विकार से सर्वथा रहित होते हैं। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सिद्ध भक्त प्रसन्नता शून्य (हर्ष रहित) होता है। बल्कि उसकी प्रसन्नता तो नित्य एकरस विलक्षण और अलौकिक होती है। उसकी भक्ति की प्रसन्नता सांसारिक पदार्थों के संयोग-वियोग, क्षणिक, नाशवान और घटाने-बढ़ाने वाली नहीं होती। सर्वत्र भगवद् बुद्धि रहने से एकमात्र इष्टदेव भगवान को और उसकी लीलाओं को देख-देखकर वह सदा प्रसन्न रहता है। इस प्रकार भक्त हर्षरहित नहीं होता।

किसी की उन्नति को सहन नहीं करना 'अमर्ष' कहलाता है। दूसरे लोगों को अपने समान या अपने से अधिक सुख-सुविधा, धन, विद्या, महिमा, आदर सत्कार आदि प्राप्त हुआ देखकर साधारण मनुष्यो के अन्तकरण में उनके प्रति ईर्ष्या होने लगती है, क्योंकि उसको दूसरों की उन्नति सहन नहीं होती। कई बार साधकों के मन में दूसरों की प्रसन्नता देखकर ईर्ष्या होने लगती है, परन्तु भक्तगण इस प्रकार के विकारों से दूर रहते हैं। क्योंकि भक्तो की दृष्टि में अपने प्रभु के सिवाय किसी की स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती। यहां अगर साधक के मन में ऐसा भाव उत्पन्न हो जाये कि इसकी उन्नति क्यों हो रही है, तो ऐसे भाव के कारण ही उसके हृदय मे अमर्ष का भाव उत्पन्न हो जाता है और उसे पत्तन की ओर अग्रसित करता है।

इष्ट के वियोग और अनिष्ट के संयोग की आशका से होने वाले विकार को **'भय'** कहते है। भय प्रायः दो कारणो से होता है-

(1) बाहरी कारणों से; जैसे साप, चोर, शेर, डाकू आदि से सांसारिक हानि पहुँचती है, इस कारण भय होता है।

(2) भीतरी कारणों से; जैसे चोरी, झूठ, कपट, व्यभिचार आदि शास्त्र के विरूद्ध भाव तथा आचरणों से होने वाला भय।

यहां पर दूसरों की सत्ता देने से ही उद्वेग, ईर्ष्या, भय आदि होते हैं। भक्त की दृष्टि में भगवान के सिवाय कोई दूसरी सत्ता नहीं है, फिर वह किससे उद्वेग, ईर्ष्या, भय आदि करे और क्यों करे। क्योंकि भक्त को भगवान प्रिय होता है, इसलिए भगवान् को भी भक्त प्रिय होते हैं।[1]

---

1 तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते। प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मय प्रियः।। श्रीमद्., अध्याय-7, श्लोक 17
गोस्वामी तुलसीदास, 'रामचरितमानस'- 'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध।' उत्तरकाण्ड, 112 ख

सिद्ध भक्त के लक्षणो का वर्णन करते हुए श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय 12 में श्लोक 16[1] मे भगवान ने यहां पर छः लक्षणो का वर्णन करते हुए कहा- **'अनपेक्षः'**। यहां भक्त भगवान को ही सर्वश्रेष्ठ मानता है। उसकी दृष्टि में भगवत्प्राप्ति से बढकर दूसरा कोई लाभ नहीं है। अतः संसार की किसी वस्तु में उसका संबंध नहीं है। इतना ही नहीं, अपने कहलाने वाले शरीर, इन्द्रियां, मन, बुद्धि मे भी उसका अपनापन नहीं रहता, अपितु वह उसको भी भगवान् का ही मानता है, जो वास्तविक रुप में भगवान का ही है। अतः उसे शरीर निर्वाह की चिन्ता नहीं रहती और न ही किसी वस्तु की इच्छा वासना, स्पृहा नहीं रहती। भक्त पर चाहे कितनी बड़ी आपत्ति आ जाये, पर वह उस परिस्थिति में भी भगवान की लीला का अनुभव कर मस्त रहता है। इसलिए वह किसी प्रकार की अनुकूलता की कामना नहीं करता।

नाशवान पदार्थ तो रहे नहीं। इस वास्तविकता को जानने के कारण भक्त में नाशवान पदार्थों की इच्छा पैदा नहीं होती। किसी वस्तु की इच्छा को लेकर भगवान् की भक्ति करने वाला मनुष्य वस्तुतः उस इच्छित वस्तु का ही भक्त होता है, क्योंकि (वस्तु की ओर लक्ष्य रहने से) वह वस्तु के लिए ही भगवान की भक्ति करता है, न कि भगवान के लिए। परन्तु भगवान की यह उदारता है कि उसको भी अपना भक्त मानते हैं।[2] क्योंकि वह इच्छित वस्तु के लिए किसी दूसरे पर भरोसा न रखकर अर्थात् केवल भगवान पर विश्वास रखकर भजन करता है। इतना ही नहीं, भगवान भक्त ध्रुव की तरह उस (अर्थार्थी भक्त) की इच्छा पूरी करके उसको सर्वथा निःस्पृह भी बना देते हैं।

भक्त का एक लक्षण है **'शुचिः'**- शरीर में अहंता-ममता (मैं-मेरापन) न रहने से भक्त का शरीर अत्यन्त पवित्र होता है। अन्तःकरण में रागद्वेष, हर्ष शोक, काम-क्रोधादि विकार न होने से उसका अन्तःकरण भी पवित्र होता है। ऐसे भक्त से जो बाहर-भीतर से अत्यन्त पवित्र हो, उससे सभी लोग पवित्र हो जाते हैं। तीर्थ सब लोगों को पवित्र करता है, ऐसे भक्त के दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन से तीर्थों को भी तीर्थत्व प्रदान हो जाता है अर्थात् तीर्थ भी उसके चरण स्पर्श से पवित्र हो जाते हैं। (पर भक्तों के मन में इस प्रकार

---

1. अनपेक्ष. शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथ.। सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रिय.।। श्रीमद्., अध्याय-12, श्लोक 16
2. चतुर्विधा भजन्ते मा जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी ञ भरतर्षभ।। 7/16

का अहंकार नहीं होता। ऐसे भक्त अपने हृदय में विराजित **'पवित्राणां पवित्रम्'** (पवित्रों को भी पवित्र करने वाला) भगवान् के प्रभाव से तीर्थों को भी महातीर्थ बनाते हैं[1] महाराज भागीरथ गंगाजी से कहते हैं कि[2] हे माता जिन्होंने लोक परलोक की समस्त कामनाओं का परित्याग कर दिया। जो ससार से उपरत होकर अपने आप में शान्त है जो ब्रह्मनिष्ठ और लोकों को पवित्र करने वाले परोपकारी साधु पुरुष है वे अपने अंग स्पर्श से तुम्हारे सभी पापों को नष्ट कर देंगे, क्योकि उनके हृदय में सभी पापों का नाश करने वाले ईश्वर सदैव रहते हैं।

मानव जीवन का लक्ष्य भगवद् प्राप्ति है। जिसने करने योग्य कर्म कर लिया है। वही दक्ष होता है। जिसने अपना उद्देश्य पूरा कर लिया है अर्थात् ईश्वर को प्राप्त कर लिया है। वही वास्तविक रुप मे दक्ष या चतुर है। भगवान कहते हैं।[3] कि विवेकियों के विवेक और चतुरों की चतुराई की पराकाष्ठा इसी में है कि वे इस विनाशी और असत्य शरीर के द्वारा मुझ अविनाशी एवं सत्य तत्व को प्राप्त कर लें।

भक्त का एक और लक्षण **'उदासीन'** होता है। उदासीन शब्द का अर्थ है- उत् + आसीन। अर्थात् तटस्थ पक्षपात से रहित। विवाद करने वाले दो व्यक्तियों के प्रति जिसका सर्वथा तटस्थ भाव रहता है उसको 'उदासीन' कहते हैं। उदासीन निर्लिप्तता का द्रोयतक है। जैसे-ऊँचे पर्वत पर खड़े पुरुष पर नीचे पृथ्वी पर लगी हुई आग या बाढ़ आदि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार अवस्था, घटना, परिस्थिति आदि का भक्त पर कोई असर नहीं पड़ता वह सदा निर्लिप्त रहता है।

भक्त का एक लक्षण **'गतव्यथः'** है। अर्थात् कुछ मिले या न मिले, कुछ भी आये या चला जाये। जिसके चित्त में दु:ख, चिन्ता, शोकरुप हलचल कभी नहीं होती उस भक्त को गतव्यथः कहते है। यहां पर व्यथा शब्द केवल दुःख का वाचक नहीं है। अनुकूलता की प्राप्ति होने पर चित्त में प्रसन्नता और प्रतिकूलता की प्राप्ति होने पर चित्त में खिन्नता की जो हलचल होती है, वह भी व्यथा ही है। अतः अनुकूलता प्रतिकूलता से अन्तःकरण में होने

---

1. तीर्थीकुवन्ति तीर्थानि स्वान्त स्थेन गदाभृता।। श्रीमद्भगवद् 1/13/10
2. साधवो न्यासिन शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावना·। हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात् तेष्वास्तेह्यघभिद्धरि·।। श्रीमद्भगवद् 9/9/6
3. एषां बुद्धिमता बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्। यत्सत्यमन्ततेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्।। श्रीमद्भगवद्, 11/29/22

वाले राग-द्वेष, हर्ष शोक, आदि विकारों के सर्वथा अभाव को ही यहॉ पर गतव्यथ पद से कहा गया है।

भोग एवं संग्रह के उद्देश्य से नये-नये कर्म करने को **'आरंभ'** कहते है। जैसे सुखभोग के उद्देश्य से घर में नयी-नयी चीजो का संग्रह करना, वस्त्र खरीदना, रुपये वढाने के उद्देश्य, नयी-नयी दूकान खोलना, नया व्यापार शुरु करना इत्यादि। भक्त भोग और संग्रह के लिए किये जाने वाले मान कर्मों का सर्वथा त्यागी होता है।[1]

भगवान में स्वाभाविक रूप से इतना महान आकर्षण होता है कि भक्त अपने आप खींचा चला जाता है। श्रीमद्‌भगवद्[2] मे कहा गया है कि ज्ञान के द्वारा जिनकी चित्त, जड़ ग्रन्थ कर गयी है ऐसे आत्माराम मुनि भी ईश्वर की निष्काम भक्ति किया करते है, क्योंकि ईश्वर के गुण ही ऐसे है कि वे प्राणियो की अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। यहां पर यह प्रश्न उठता है यदि भगवान मे इतना महान आकर्षण है तो सभी मनुष्य ईश्वर की ओर क्यों नहीं खिंच जाते या सभी मनुष्य ईश्वर के प्रेमी क्यों नहीं हो जाते। वास्तव में देखा जाये तो जीव परमात्मा का एक अंश है इसलिए उसका भगवान की ओर स्वत· स्वाभाविक आकर्षण होता है। परन्तु जो भगवान वास्तव में अपने है उनको तो मनुष्य में अपना माना ही नहीं और जो मन, बुद्धि, इन्द्रियां, शरीर, कुटुम्ब इत्यादि जो अपने नहीं है उनको मनुष्य ने अपना मान लिया है। इसीलिए वह शारीरिक निर्वाह और सुख की कामना से शारीरिक भोगों की ओर आकृष्ट हो गया तथा अपने अंशी भगवान से विमुख हो गया। फिर भी उसकी यह दूरी वास्तविक नहीं माननी चाहिए। इसका कारण यह है कि मनुष्य की भगवान से दूरी तो दिखायी देती है पर वास्तविक रुप में दूरी नहीं होती। क्योंकि उन भोगों में तो सर्वव्यापी ईश्वर परिपूर्ण है। लेकिन इन्द्रियों के विषयों में भोगों में ही उनमें छिपे भगवान दिखाई नहीं देते। जब इन नाशवान भोगों की ओर उनका आकर्षक नहीं रहता तब वह स्वतः ही भगवान की ओर खिंच जाता है। जगत में लेशमात्र भी आसक्ति न रहने से भक्त का एकमात्र भगवान से स्वतः प्रेम होता है। ऐसे अनन्य प्रेमी भक्त को भगवान मद्‌भक्तः कहते हैं। जिस भक्त का ईश्वर में असीम प्रेम होता है। वह भक्त ईश्वर को प्यारा होता है।

---

1. अनारभ अनिकेत अमानी। अनथ अरोष दच्छ त्रिग्यानी।। मानस. 7/46/3
2. आत्मारामश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणों हरिः।। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता, 1/7/10

गीता में भक्तो का लक्षण बताते हुए यह बताया गयाहै कि[1] सिद्ध भक्तों में चार प्रकार के विकार- (1) राग (2) द्वेष (3) हर्ष (4) शोक नहीं पाये जाते हैं। उसका यह अनुभव होता है कि संसार का प्रत्येक क्षण मे वियोग हो रहा है और भगवान से कभी वियोग नहीं होता। ससार के साथ कभी संयोग नहीं था, नहीं हैं, नहीं रहेगा और रह भी नहीं सकता। इसलिए संसार की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं। इस वास्तविकता का अनुभव कर लेने के बाद केवल भक्त का केवल अपने नित्य सिद्ध संबंध का अनुभव अटल रुप से रहता है। इस कारण अन्तःकरण राग-द्वेष इत्यादि विकारों से सर्वथा मुक्त होता है। ईश्वर का साक्षात्कार होने पर यह विकार हमेशा के लिए मिट जाते हैं।

भक्त को **'शुभाशुभपिरित्यागी'** भी कहा गया है। अर्थात् ममता-आसक्ति और फल इच्छा से रहित होकर भी शुभ कर्म करने के कारण भक्त के कर्म अकर्म हो जाते हैं। इसलिए भक्त को शुभ कर्मों का भी त्यागी कहा गया है। राग-द्वेष का सर्वथा अभाव होने के कारण उससे अशुभ कर्म होते ही नहीं। अशुभ कर्म के होने में कामना, ममता, आसक्ति ही प्रधान कारण है और भक्त में इनका सर्वथा अभाव होता है। अत· भक्त को अशुभ कर्मो का त्यागी कहा गया है। भक्त के अन्दर यह गुण होता है कि वह शुभ कर्मो से राग नहीं करता और अशुभ कर्मो से द्वेष नहीं रखता। उसके द्वारा स्वाभाविक शास्त्रविहित शुद्ध कर्मो का आचरण और अशुभ कर्मों का त्याग होता है। राग-द्वेष पूर्वक नहीं। राग द्वेष का त्याग करने वाला सच्चा त्यागी या भक्त कहलाता है।

भक्त की भगवान में अत्यधिक प्रियता रहती है। उसके द्वारा स्वतः, स्वाभाविक भगवान का चिन्तन, स्मरण, भजन होता रहता है। ऐसे भक्त को भक्तिमान कहते है। भक्त का ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम होता है, इसीलिए वह ईश्वर को प्यारा होता है।

गीता में भक्तों का लक्षण[2] बताते हुए यह कहा गया है कि सभी स्थानों पर भगवद् बुद्धि होने और रागद्वेष से रहित सिद्ध भक्ति का किसी के प्रति शत्रु एवं मित्र का भाव नहीं रहता। मनुष्य उसके व्यवहार में अपने स्वभावानुसार अनुकूलता या प्रतिकूलता को देखकर

---

1. यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति। शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।। श्रीमद्., अध्याय-12, श्लोक 17
2. सम शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयो । शीतोष्ण सुखदःखेषु सम· सङ्गविवर्जित· ।।
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मोनी सन्तुष्ठो येन केनचित्। अनिकेत स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।। श्रीमद्., अध्याय-12, श्लोक 18, 19

उसमे मित्रता या शत्रुता का आरोप लगा देता है। सामान्यजन का तो कहना ही क्या है। सावधान रहने वाले भक्तों का भी उस सिद्ध भक्त के प्रति मित्रता एव शत्रुता का भाव हो सकता है, परन्तु भक्त अपने आपमे सदैव पूर्णता सम रहता है। उसके हृदय मे किसी के भी प्रति शत्रु मित्र का भाव नहीं रहता। यदि यह मान लिया जाये कि भक्त के प्रति शत्रुता और मित्रता का भाव रखने वाले दो व्यक्तियों के बीच धन के बंटवारे से संबंधित कोई विवाद हो जाये, और उसका निर्णय कराने के लिए वह भक्त के पास जाये तो वह धन का बटवारा करते समय शत्रु भाव वाले व्यक्ति को कुछ अधिक और मित्र भाव वाले व्यक्ति को कुछ कम धन देगा। यद्यपि भक्त के इस निर्णय में विषमता दिखलायी पड़ती है फिर भी शत्रुभाव वाले व्यक्ति को इस निर्णय मे समता दिखायी देगी कि इसने पक्षपात रहित बंटवारा किया है। इसलिए भक्त के इस निर्णय मे पक्षपात दिखायी पडने पर भी यह समता ही कहलायेगी। इन पदो से यह सिद्ध होता है कि सिद्ध भक्ति के साथ लोग शत्रुता मित्रता का व्यवहार करते हैं और उसके व्यवहार से अपने को उसका शत्रु मित्र मान लेते हैं। इसलिए उसे यहां शुत्र-मित्र से रहित न कहकर 'शत्रु-मित्र में सम' कहा गया है।

भक्त का अगला लक्षण बताते हुए कहा गया है कि भक्त की अपने कहलाने वाले शरीर में न तो अहंता होती है न ममता होती है। इसलिए शरीर का मान-अपमान होने पर भी भक्त के अन्त·करण में कोई विकार (हर्ष शोक) उत्पन्न नहीं होता। वह नित्य निरन्तर समता में स्थित रहता है।

'शीतोष्ण सुखदः खेषु समः' पद में दो स्थानों पर सिद्ध भक्त की समता का उल्लेख किया गया है।

(1) शीतोष्ण में समता अर्थात् इन्द्रियों का अपने विषयों से संयोग होने पर अन्तःकरण में कोई विकार न होना।

(2) सब दु:ख में समता अर्थात् भौतिक पदार्थों की प्राप्ति या अप्राप्ति होने पर अन्तःकरण में कोई विकार न होना।

भक्त का एक अन्य लक्षण है 'सङ्ग विवर्जित' अर्थात् संग शब्द का तात्पर्य संयोग एवं आसक्ति दोनों ही होता है। मानव के लिए यह संभव नहीं है कि वह स्वरुप से सभी

पदार्थों का संबध छोड़ सके। क्योकि जब तक मनुष्य जीवित रहता है तब तक शरीर मन, बुद्धि, इन्द्रियां, उसके साथ रहती है। शरीर से भिन्न कुछ पदार्थों का त्याग स्वरुप से किया जा सकता है। जैसे किसी भक्ति ने स्वरुप से प्राणी पदार्थों का सम छोड़ दिया है। पर उसके अन्तःकरण में अगर उनके प्रति थोड़ी भी आसक्ति बनी है तो उन प्राणी पदार्थों से दूर होते हुए भी वास्तव में उसका उनसे संबंध बना हुआ है। दूसरी तरफ यदि अन्तःकरण में प्राणी पदार्थों की लेशभाव भी आसक्ति नहीं है, तो पास रहते हुए भी वास्तव में उनसे संबंध नहीं है। अगर पदार्थों का स्वरुप से परित्याग करने पर मुक्ति मिलती तो मरने वाला प्रत्येक व्यक्ति मुक्त हो जाता, क्योकि उसने तो अपने शरीर का भी परित्याग कर दिया। लेकिन ऐसी बात नहीं है। अन्त·करण मे आसक्ति के रहते हुए भी शरीर का त्याग करने पर भी इस संसार का बंधन बना रहता है। इसलिए मनुष्य को सांसारिक आसक्ति ही बांधने वाली है न कि सांसारिक प्राणी पदार्थों का स्वरुप से संबंध आसक्ति को हटाने के लिए पदार्थों का स्वरुप से त्याग करना भी एक साधन हो सकता है। किन्तु सबसे महत्वपूर्ण जरुरत आसक्ति का सर्वथा त्याग करने की है। संसार के प्रति यदि थोड़ी भी आसक्ति है तो उसका चिन्तन अवश्य होगा। इस कारण वह आसक्ति भक्त को क्रमशः कामना, क्रोध, मूढ़ता आदि को प्राप्ति कराते हुए उसे पतन के गर्त में गिराने का हेतु बन सकती है।[1]

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'परं दृष्टा निवर्तते'- पद से भगवद् प्राप्ति के बाद आसक्ति सदैव के लिए समाप्त हो जाती है। भगवद् प्राप्ति के पूर्व ही आसक्ति की निवृत्ति हो सकती है पर भगवद् प्राप्ति के बाद आसक्ति सदैव के लिए समाप्त हो जाती है। भगवद् प्राप्त महापुरुष मे आसक्ति का सर्वथा अभाव रहता है। भगवद् प्राप्ति के पूर्व साधनावस्था में आसक्ति का सर्वथा अभाव रहता ही नहीं। ऐसा नियम नहीं है। साधनावस्था में भी आसक्ति का सर्वथा अभाव होकर साधक को तत्काल भगवद् प्राप्ति हो सकती है।[2]

आसक्ति न तो भगवान के अश शुद्ध चेतन में रहती है और न जड़ (प्रकृति) में रहती है। वह जड और चेतन के संबंध रुप 'मैं' पन की मान्यता में रहती है। वही आसक्ति

---

1. ध्यायतो विषयान पुस सङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात्सञ्जायते काम कामात्क्रोधोऽभिजायते।।
क्रोधाभगद्वति सम्मोह सम्मोहात्स्मृतिविभ्रम । स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशे बुद्धिनाशत्प्रणश्यति।।
श्रीमद्., अध्याय-2, श्लोक 62, 63
2. बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्। स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।। श्रीमद्., अध्याय-5, श्लोक 21
एतैर्विमुक्त· कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नर । आचरव्यात्मन· श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।। श्रीमद् , अध्याय-16, श्लोक 22

बुद्धि, मन, इन्द्रियो और विषयो मे प्रतीत होती है। अगर साधक के 'मय' पन की मान्यता रहने वाली आसक्ति मिट जाये तो दूसरी जगह प्रतीत होने वाली आसक्ति अपने आप मिट जायेगी। आसक्ति का कारण अज्ञान है। अपने ज्ञान को पूर्ण रूप से महत्व न देने से भक्त मे आसक्ति रहता है। भक्त मे अविवेक नहीं रहता। इसीलिए वह आसक्ति से सर्वथा रहित होता है। अपने अंशी भगवान से विमुख होकर भूल से संसार को अपना मान लेने से संसार में राग हो जाता है और संसार मे आसक्ति हो जाती है। संसार से माना हुआ अपना पन सर्वथा मिट जाने से बुद्धि सम हो जाती है। बुद्धि के सम होने पर स्वय आसक्ति रहित हो जाता है।

इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण ने भक्तों के 39 लक्षण बताये हैं। इससे यह स्पष्ट होता है जो भक्ति को धार्मिक जीवन का अंतिम रुप मानते हैं उनकी दृष्टि में भी अनन्त के अमूर्त रुप में लीन हो जाना लक्ष्य नहीं है। बल्कि लक्ष्य है ईश्वर के साथ संयोग वस्तुतः गीता निर्गुण भक्ति को मानती है। अर्थात् परमेश्वर को सब गुणों से रहित सबसे श्रेष्ठ एवं ऊपर समझ कर उसकी भक्ति करती है। ऐसी अवस्था में परम तत्व स्वयं ही एक उपाधि बन जाता है। जब भक्ति पूर्णता की अवस्था पर पहुँच जाती है तब भक्त आत्मा एवं उसका ईश्वर एक दूसरे के अन्दर घुल-मिल कर परमानन्द के रुप में आ जाते हैं और एक ही जीवन को पक्ष बनकर अपनी अभिव्यक्ति करते हैं। इसलिए नितान्त एकेश्वरवाद द्वैत की पूर्ण अवस्था है। जिसको लेकर भक्तिपरक चेतना आगे बढ़ती है।

पंचम अध्याय

मानव नियति के रूप में ज्ञानमार्ग

पंचम् अध्याय

मानव नियति के रुप में ज्ञानमार्ग

श्रीमद्भगवद्गीता मे ज्ञानमार्ग को भी महत्व दिया गया है। एक तार्किक व्यक्ति आंशिक ज्ञान से सन्तुष्ट न रहकर वस्तुओ की सम्पूर्णता को ग्रहण करने का प्रयत्न करता है और जब तक वह सत्य को नहीं प्राप्त कर लेता तब तक वह लगातार प्रयास करता रहता है। इससे व्यक्ति को उस अमिट श्रद्धा से प्रोत्साहन मिलता है। जिसका सर्वोच्च लक्ष्य परम सत्य को प्राप्त करना है।[1]

गीता दो प्रकार के ज्ञान का प्रतिपादन करती है- एक वह जो बुद्धि के द्वारा वाह्य जगत् के अस्तित्व को समझने का प्रयत्न करती है और दूसरा वह जो अर्न्तदृष्टि के वल से परम तत्व को ग्रहण करता है। मनुष्य की आत्मा जब तक तार्किक बुद्धि के अधीन रहती है तो अपने को प्रकृति के अन्दर खो बैठने के प्रति प्रवृत्त होती है और उसी की गति विधि के साथ अपना तादात्म्य समझने लगती है। इस जीवन के तथ्य को अर्थात् इसके उद्भव एव यथार्थता के ज्ञान को स्वीकार करने के लिए इसे मिथ्या ज्ञान के पाश से अपने को मुक्त करना आवश्यक है। जीवन के विवरणो को बुद्धि के द्वारा जानने का नाम विज्ञान है, और यह साधारण ज्ञान से भिन्न है, अथवा समस्त जीवन के सामान्य आधार का सम्पूर्ण ज्ञान है। ये दोनों एक ही पुरुषार्थ के दो भिन्न पक्ष है। समस्त ज्ञान ईश्वर का ज्ञान है। विज्ञान और दर्शन दोनों ही अनादि अनन्त आत्मा के अन्दर वस्तुओं के एकत्व रुपी सत्य को पहचानने का प्रयत्न करते है। कहा जाता है कि विज्ञान विषयक ज्ञान रजोगुण प्रधान है एवं आध्यात्मिक ज्ञान सत्वगुण प्रधान है। यदि हम भौतिक विज्ञान के आंशिक तथ्यों को भूल से आत्मा संबंधी पूर्ण तथ्य समझ ले तो हमे निम्न श्रेणी का ज्ञान प्राप्त होता है जिसमें निम्नतम श्रेणी के तमोगुण का प्राधान्य रहता है।[2] जब तक हम भौतिक ज्ञान के स्तर पर रहते हैं। आत्मविषयक तत्व केवल कल्पना मात्र रहता है। अन्तरहित परिणमन सत्स्वरूप को आव्रित

---

1 डा0 राधाकृष्णनन्, 'भारतीय दर्शन' राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली 6 'ईश्वर के प्रति जिसे प्रेम है वह सौभाग्यशाली है, और यह अवस्था ज्ञान से प्राप्त होती है।' (स्पिनोजा) 'कुछेक व्यक्तियों को सम्मति में विश्व को समझने के लिए बौद्धिक प्रयत्न देवत्व को अनुभव करने का मुख्य मार्ग है।' (ब्रैडले)

2. 'भगवद्गीता पर रामानुज भाष्य' 18 20-22

कर लेता है। जबकि विज्ञान उस अंधकार को दूर कर लेता है जो मन के ऊपर एक प्रकार का बोझ है और अपने भौतिक जगत की अपूर्णता को व्यक्त करता है और अपने से सुदूर जो सत्ता है उसे प्राप्त करने के लिए तैयार करता है। यह हमारे अन्दर नम्रता को ही अनुप्राणित करता है, क्योकि इसके द्वारा हम सब कुछ नहीं जान सकते। हम अतीत की विस्मृति और भविष्य की अनिश्चितता के बीच फंसे हुए हैं। विज्ञान इस बात को मानता है कि पदार्थो के आदि कारणो से परिचित होने की काल्पनिक इच्छा करना और मनुष्य जाति का अन्त क्या है। इस विषय पर कल्पना करना एक व्यर्थ प्रयास है। यदि हमें परम सत् तक पहुँचना है तो (भौतिक) विज्ञान के स्थान में दूसरी ही साधना का सहारा लेना पड़ेगा। गीता की सम्मति में परिप्रश्न और अनुसधान के साथ-साथ सेवा का भी मेल होना जरुरी है।[1] अर्न्तदृष्टि की शक्ति के विकास के लिए हमें मन को दूसरी तरफ घूमाने की जरुरत है। अर्थात् आत्मा के दृष्टिकोण में परिवर्तन करना जरुरी है। अर्जुन ने स्वयं को साधारण दृष्टि के माध्यम से सत्य के दर्शन करने में असमर्थ पाया था और इसलिए कृष्ण से आध्यात्मिक ज्ञान के लिए दिव्य दृष्टि की याचना की।[2] विश्वरुप अर्न्तदृष्टि संबंधी अनुभव का कवि द्वारा अतिश्योक्ति पूर्ण वर्णन है। जिसमें की भगवान के अन्दर रमण करने वाला व्यक्ति सब पदार्थों का उसके अन्दर दर्शन करता है। गीता का यह मानना है कि इस प्रकार की आध्यात्मिक दृष्टि को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अपने में अर्न्तनिहित होने का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और अपने मन को उच्चतम् यथार्थ सत्ता के अन्दर स्थित करना चाहिए केवल बुद्धि के घोष से ही नहीं, बल्कि स्वार्थ की लालसा से सत्य हमारी दृष्टि से ओझल रहता है। अज्ञान बौद्धिक भ्रम नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक अंधापन है। इसे दूर करने के लिए हमें शरीर एवं इन्द्रियों के मल को हटाकर अपनी आत्मा को निर्मल करना चाहिए एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्रज्ज्वलित करना चाहिए। जो सभी पदार्थों को एक नवीन दृष्टिकोण से देखती है। वासना की अग्नि और इच्छा की आसान्त का दमन करना जरुरी है।[3] चंचल एवं स्थायी मन को एक प्रशान्त जलाशय की तरह स्थिर रखना जरुरी है। जिससे की उसके

---

1 भगवद्गीता पर रामानुजभाष्य, 4 34

2. तुलना कीजिए कि पैगम्बर के शब्दों से "हे भगवान उसकी आखें खोलो जिससे कि वह देखने में समर्थ हो" और भी देखिए इजाकिल का स्वप्न और एक्सोऽस बाइबिल 33 18, इल्हाम अध्याय 4 और सद्धर्म पुडरीक अध्याय-1

3 भगवद्गीता पर रामानुज भाष्य, 4 · 39

अन्दर ज्ञान ऊपर से ठीक-ठीक दिखायी पड सके। बुद्धि या सत् एव असत् मे विवेक करने वाली शक्ति को प्रशिक्षित करना जरुरी है।[1] यह शक्ति किस दिशा में कार्य करती है। यह हमारे पूर्व के सस्कारो के ऊपर निर्भर करता है। हमे इसे इस प्रकार प्रशिक्षित करना है कि इसकी विश्व के धार्मिक दृष्टिकोण के साथ सहमति हो जाये।

गीता में जो योग प्रणाली स्वीकार की गयी है। वह मानसिक प्रशिक्षण के साधन के रुप मे ही है। योग साधना हमे यह आदेश देती है जिनके द्वारा हम अपने को अपने परिवर्तनशील व्यक्तित्व से ऊपर उठाकर असाधारण प्रवृत्ति मे ला सकते है। जहा हमारे पास ऐसी पूँजी रहती है जो सम्बन्धो रुपी समस्त नाटक का सूत्र है। योग साधना के अनिवार्य उपाय निम्नलिखित हैं[2]:-

1. मन, शरीर एव इन्द्रियों को पवित्र करना जिससे कि दैवीय शक्ति का उनके अन्दर संचार हो सके।
2 इन्द्रियो की ओर दौड़ने वाले विशृखल विचारो की चेतना से मन को हटाना और उसे सर्वोच्च ब्रह्म मे स्थिर करना, अर्थात् एकाग्र करना।
3. यथार्थ सत्ता तक पहुंचने के बाद उसके साथ तादात्म्य स्थापित करना।[3]

गीता हमारे समक्ष कुछ ऐसे सिद्धान्त रखती है जिन्हें सभी श्रेणी के विचार स्वीकार कर सकते है। हमें श्रद्धा रखने एव विद्रोहात्मक प्रवृत्तियों का दमन करने का आदेश दिया गया है।[4] और भगवान के विचार को दृष्ठता के साथ धारण करने का आदेश है। आध्यात्मिक दर्शन के लिए मौन एवं शान्ति का वातावरण जरुरी है। मौन अवस्था में जो मन को वश मे करने से संभव है। हम आत्मा के शब्द को सुन सकते हैं। यथार्थ योग्य है जो हमे आध्यात्मिक निष्पक्षता अर्थात् समत्व प्राप्त करा सके।[5] "योग ऐसी दुःख से मुक्त अवस्था का नाम है जिसमे ऊपर से छाये हुए स्थान मे रखे दीपक की भांति मन प्रकम्पित नहीं होता, जिस अवस्था मे आत्मा के द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष कर लेने पर मनुष्य के अन्दर संतोष

---

1 भगवद्गीता पर रामानुज भाष्य, 2 44
2 डा0 राधाकृष्णनन् "भारतीय दर्शन" राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली-6 पृष्ठ नं0- 512-513
3 श्रीमद् भगवद्गीता पर रामानुज भाष्य 'अध्याय-6'
4 श्रीमद् भगवद्गीता पर रामानुज भाष्य, 4 · 39
5 श्रीमद् भगवद्गीता पर रामानुज भाष्य - 2 48

अनुभव करता है। जहा मनुष्य को ऐसे परमानद का अनुभव होता है जो केवल बुद्धि द्वारा ग्रहण करने का विषय है। किन्तु इन्द्रियों के पहुच के सदा बाहर है और जहा पर आसीन होकर मनुष्य फिर सत्यमार्ग से भ्रष्ट नहीं होता। जहॉ अन्य किसी प्रकार का लाभ उससे अधिक महत्व का नहीं है और जिस अवस्था में अवस्थित हो जाने पर मनुष्य बडे से वड़े कष्ट से विचलित नहीं होता।"[1] आध्यात्मिक अर्न्तदृष्टि प्राप्त करने के लिए सभी को योग के अभ्यास की जरुरत नहीं है। **मधुसूदन सरस्वती** ने एक श्लोक वशिष्ठ से उद्धत करते हुए कहा है कि मन के अहकार आदि का दमन करने के लिए योग एवं ज्ञान दो ही साधन है। 'योग चित्त की वृत्तियों के निरोध का' और 'ज्ञान सम्यक अवेक्षण का नाम है।' कुछ श्रेणी के मनुष्यो के लिए योग साधना सभव नहीं है और इसी प्रकार कुछ श्रेणी के मनुष्य के लिए ज्ञान असंभव है।[2] आध्यात्मिक अर्न्तदृष्टि मे कर्म और उपासना सहायक हो सकते है।[3]

कुछ अवस्थाओ मे आध्यात्मिक प्रशिक्षण के लिए योग की उपयोगिता को मानते समय गीता इसके भयंकर परिणामों से भी अनभिज्ञ नहीं है।[4] उपवास और इसी प्रकार अन्य साधनो से हम केवल अपने इन्द्रियो की शक्ति को ही क्षीण करते हैं जवकि इन्द्रियों की विसयोप भोग की लालसा उसी प्रकार बनी रहती है, इसलिए जिसकी आवश्यकता है वह है। इन्द्रियो को वश मे रखना और भौतिक पदार्थों के आकर्षक के प्रति उपेक्षा का भाव रखना। यह केवल ज्ञान के उदय से ही संभव है।

आध्यात्मिक अर्न्तदृष्टि जो स्वरुप में साक्षात्कार कराने में अधिक समर्थ है।[5] ऐसा निश्चयात्म्क ज्ञान नहीं प्रदान करके जिसकी आलोचना न हो सके। इसे वैज्ञानिक निर्णय का समर्थन प्राप्त है। यह ज्ञान का कठोर तपस्या और रजोवृत्ति के साथ सयोग है और यह एक ऐसा पूर्व अनुभव है जो हमे प्राप्त होना सभव हो सका है जिसमें मन को किसी प्रकार की दुविधा न रहकर आत्मा की सच्ची शान्ति और विशान्ति का सुखोपभोग प्राप्त हो सकता है।[6]

---

1 6 19-26
2 गीता पर टीका - 6 29
3 गीता पर टीका - 4 42
4 गीता पर टीका - 2 59-61
5. गीता पर टीका - 9 · 2 'प्रत्यक्षावगमम्'
6 गीता पर टीका - 4 35, 5 · 18-21

जहां एक बार ज्ञान सवधी अनुभव प्राप्त हो गया तो चेतना के अतिरिक्त पक्ष भी जैसे भावना और इच्छा अपने आप को प्रकट करने लगती है। ईश्वर का दर्शन आध्यात्मिक प्रकाश मे तथा सुख के वातावरण मे मिलता है। सम्पूर्ण जीवन की महत्वाकांक्षा एक तरह से अनन्त की निरन्तर आराधना बन जाती है। ज्ञाता भी एक भक्त है और उन सबमे सर्वश्रेष्ठ है।[1] "जो मुझे जानता है, मेरी पूजा करता है।[2] सत्य का ज्ञान अपने हृदय को सर्वोपरि ब्रह्म के प्रति ऊँचा उठाना उसे स्पर्श करना और उसकी अर्चना करना है।[3] एक क्रियात्मक प्रभाव है। जितने ही अधिक प्रगाढ रूप मे हमे अपने स्वरुप का ज्ञान लेगा, उतनी ही अधिक गहराई के साथ हम औरो की यथार्थ आवश्यकताओं के बारे में जान सकेंगे। कल्याणकारी कर्म केवल ज्ञान का मूल सिद्धान्त ही नहीं, बल्कि नेटलशिप की परिभाषा में चरित्र का ध्रुव नक्षत्र बन जाता है। हमारे सामने गौतम बुद्ध का उदाहरण है जो सवसे बड़े ज्ञानी एवं धर्मात्मा थे। मनुष्य मात्र के प्रति उनके प्रेम में उन्हें लगातार 40 वर्षो तक मनुष्य मात्र का शासक बनाकर रखा।

कभी-कभी इस प्रकार का तर्क दिया जाता है कि ज्ञान या बुद्धि का नैतिकता के प्रति उपेक्षा का भाव रहता है। यह कहा जाता है कि बुद्धि चरित्र का अनिवार्य अंश नहीं है। बुद्धि के द्वारा हम केवल निर्णय संबधी भूल करते हैं। जो नैतिक दृष्टि से अनुचित कहलायेगी। बुद्धि स्वयं में न तो अच्छी है और न तो बुरी। क्योंकि इसका प्रयोग सदाचारमय जीवन की उन्नति एवं विनाश दोनो ही कार्यो में किया जा सकता है। हमारे विश्लेषणात्मक ज्ञान की प्राप्ति के सन्दर्भ मे यह सभी तथ्य सत्य हो सकता है। गीता का ज्ञान हमें एक पक्षीय मतों एवं संकुचित दृष्टिकोणों से हटाकर सर्वग्राही सत्य की ओर ले जाता है। जहॉ हमकों यह अनुभव होता है कि मनुष्यो के अन्दर परस्पर मतभेद परमूरुप में कोई महत्व नहीं रखते और ऐसा कोई भी आचरण जिसका आधार मिथ्या भेदों के ऊपर है धार्मिक कहा जा सकता है। इस प्रकार हम देखते है कि मनुष्यों के जीवन का मूल एक ही है और एक स्वय सिद्ध अनादि अनंत आत्मा सभी मनुष्यों के जीवों में जीवित रुप में समान सत्य के साथ

1. गीता पर टीका - 7 17
2. गीता पर टीका - 15 19
3. गीता पर टीका - 10 8-9

काम कर रही है। उस सत्य का साक्षात्कार हो जाने पर इन्द्रियां एवं जीवात्मा दोनों ही अपनी शक्ति से वाछित हो जाते है।[1]

गीता का प्रमुख विषय निस्सगता है। सकाता एवं संगभाव तभी उत्पन्न होता है जब हम अपने को कर्ता एव भोक्ता समझे। 'मैं कर्ता नहीं हूॅ' यह बुद्धि पैदा हो जाये तो सकांता फल की आकांक्षा कैसे रह सकती है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि यथार्थ ज्ञान तो है ही यह कि हम क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के भेद को पहचाने। इन्हें एक दूसरे से अलग कर दें शरीर अलग है आत्मा अलग है। यह जान ले, प्रकृति और पुरुष के भेद को भी जान ले। जब हम इनके भेद को जान लेंगे तब क्या होगा? तब गीता अगला कदम उठाते हुए कहती है कि सब कर्म तो क्षेत्र कर रहा है। प्रकृति कर रही है, वही कर्म है आत्मा तो कर्ता है ही नहीं। 13वें अध्याय के 29 श्लोक मे[2] कहा गया है कि कर्म तो हर हालत में प्रकृति द्वारा हो रहे हैं। हम तो कर्मों को करने वाले है ही नहीं। जब हम कर्म कर ही नहीं रहे हैं तो फल की कैसी आशा, कैसी सकांता कैसा संग? तो फिर कर्म कौन कर रहा है। कर्म कर रही है यह त्रिगुणात्मक (सत्व, रज, तम) प्रकृति इसके किये हुए कर्मो को यह आत्मा अपना किया हुआ कर्म समझ रहा है। इसलिए प्रकृति मे हो रहे भौतिक शीत उष्ण तथा मानसिक सुख-दुःख को यह अपना मान रहा है। प्रश्न यह उठता है कि क्या ऐसा हो सकता है? सर्दी तो दूसरे को लग रही है, अनुभव मैं कर रहा हूॅ। दुःख दूसरे को हो दुःखी मैं हो रहा हूॅ। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह जो हो ही नहीं सकता, यही हो रहा है। आत्मा तो दृष्टा है, अकर्ता है, अभोक्ता है, फिर भी यह दृश्य, कर्ता, भोता बना हुआ है। जीवन में हम देखते नहीं कि अनेक बार हम दूसरों के दुःखों से दुःखी होते हैं और दूसरों के सुख से सुखी होते हैं। गोली दूसरे को लगे चिल्ला हम पड़े। खेल में जीत दूसरे की हुई और खुशी मुझे हुई। सिनेमा में जो दृश्य हमारे समक्ष आते हैं उन दृश्यों के साथ हम अपने को इतना एकाकार कर लेते हैं कि भोग दूसरा रहा होता है, भोगने हम लगते हैं। प्रकृति अपने तीनों गुणों के भोग भोगती रहे। हम अपने को उससे अलग रखे, अकर्ता, दृष्टा बने रहे। यह 'क्षेत्र- क्षेत्रज्ञ' का ज्ञान है। प्रकृति अपने सत्व रज-तम गुणों से कैसे भोग कर रही है। इसी की स्पष्ट व्याख्या चौदहवें अध्याय मे की गयी है।

---

1 गीता पर टीका - 2 . 59, डा0 राधाकृष्णनन् 'भारतीय दर्शन' राजपाल एड सन्स, दिल्ली-6

2 प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वश । य पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।। श्रीमद्0, अध्याय-13, श्लोक 29

चौदहवे अध्याय के प्रथम एव द्वितीय[1] श्लोक मे भगवान श्रीकृष्ण ने कहा कि मैं फिर तुझे ज्ञानो में परम् सर्वोत्तम ज्ञान बतलाऊँगा, जिसे जानकर सभी मुनि इस संसार से ऊपर उठकर परम सिद्धि को प्राप्त करेगे। इस ज्ञान का आश्रय लेकर जो मेरे साधर्म मे आ जाते है। वे सृष्टि की उत्पत्ति का समय आने पर भी जन्म नही लेते। सृष्टि के प्रलय होने पर भी उनको दु:ख नहीं होता। इस श्लोक मे 'साधर्म' शब्द का एक विशेष महत्व है। **श्री सातवलेकर** 'साधर्म्म' के बारे मे बताते हैं कि ईश्वर के जो धर्म, गुण है उनके समान साधक के गुण हो जाना 'साधर्म' है। जैसे तपा हुआ लोहा, अग्नि के गुणों से युक्त हो जाता है। **श्री अरविन्द** ने भी इस श्लोक के 'साधर्म्म' शब्द को महत्वपूर्ण बताया है। वे कहते है कि मानव शरीर मे भी जीव होता है, परमात्मा भी रहता है। परन्तु जीव तो देह मे प्रकृति के गुणो से बधा रहता है। प्रकृति के भोग को अपना भोग मानने लगते है। परमात्मा मानव शरीर मे रहता हुआ भी प्रकृति के गुणो के वश में नहीं रहता। वह मानव शरीर में रहता हुआ शरीर से अलग दृष्टा बना रहता है। जीव को यही करना है। जीव की मुक्ति का तात्पर्य यही है कि वह परमात्मा की तरह मानव शरीर में रहता हुआ अपने को उससे अलग समझे। वह यह समझे कि वह क्षेत्र नहीं क्षेत्रज्ञ है, भोक्ता नहीं बल्कि द्रष्टा है। जब जीव भी अपने को ईश्वर की तरह पृथक समझने लगता है तब वह परमात्मा के साधर्म्म मे पहुंच जाता है। यही गीता का उद्‌देश्य है। आत्मा भोक्ता नहीं बल्कि द्रष्टा है। आत्मा क्षेत्र नहीं, बल्कि क्षेत्रज्ञ है। तब फिर प्रश्न यह उठता है कि क्षेत्ररुपी प्रकृति कैसे पैदा हुई और कैसे भोग भोगती है। इसी की विवेचना करते हुए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं[2] कि 'महद् ब्रह्म' यानि प्रकृति मे योनि है उसमे बीज डालता हूॅं। हे भारत! (मेरे उस बीज) से समस्त जड चेतन उत्पन्न होते हैं। यहां पर 'महद् ब्रह्म' शब्द महद् एव ब्रह्म इन दोनो शब्दों से मिलकर बना है। महद् का तात्पर्य बड़ा और ब्रह्म का भी तात्पर्य बड़ा होता है। यहां पर प्रकृति को बड़ा कहने के लिए महद् ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया गया है। सृष्टि की उत्पत्ति के लिए महान प्रकृति को दैवीय योनि और भगवान को वीर्यदाता मानकर इन्हें सृष्टि के सभी पदार्थों का माता-पिता कहा गया है।

---

1. पर भूत प्रवक्ष्यामि ज्ञानाना ज्ञानमृत्तमम्। यज्ज्ञात्वा मुनय सर्वे परा सिद्धिमितो गता.।।
   इद ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यभागता । सर्गेऽपि नोपजयन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।। श्रीमद्०, अध्याय-14, श्लोक 1, 2
2 मम योनिर्महद्‌ब्रह्म तस्मिन् गर्भ दधाम्यहम्। संभव सर्वभूताना ततो भवति भारत।। श्रीमद्०, अध्याय-14, श्लोक 3

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं-[1] हे कौन्तेय (मनुष्य, पशु-पक्षी इत्यादि) सभी योनियों मे जो रुप उत्पन्न होते है उन सबकी योनि महद् ब्रह्म यानि प्रकृति है और उन्हें बीज देने वाला पिता मैं हूँ। इस श्लोको में महद् ब्रह्म और ब्रह्म महद् शब्दों का प्रयोग किया गया है। यह दोनों एक ही शब्द है इसलिए इनका अर्थ भी दोनों स्थानों पर एक ही करना उचित है। महद् ब्रह्म और ब्रह्म महदत् का एक और अर्थ हो सकता है। साख्य दर्शन में महद् का अर्थ प्रकृति है। 'प्रकृतेर्महान' सांख्य दर्शन का वचन है। प्रकृति का प्रथम रुप महान का ही तो है। महान अर्थात् बड़े रुप में सभी जगह फैले हुए प्रकृति, जिसे सांख्य की परिभाषा में महद् या महान भी कह सकते हैं। उसी महद् को जब भगवान प्रेरणा देते हैं तभी सृष्टि चक्र चल पड़ता है।

जब प्रकृति मे ब्रह्म अपना बीज डालता है तब प्रकृति जो निष्चेष्ट थी वह सक्रिय हो जाती है और प्रकृति में सक्रियता आते ही उसमें सत्व, रज, तम ये तीनों गुण प्रकट हो जाते हैं। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं[2] कि हे महाबाहो प्रकृति से उत्पन्न होने वाले सत्व, रज, तम ये गुण इस अव्यय शरीर को, आत्मा को, क्षेत्रज्ञ को शरीर में, क्षेत्र में बांध लेते हैं। अर्थात् ब्रह्म का बीज प्रकृति में पड़ा है। संसार की प्रत्येक वस्तु प्रकृति से बनी है। इसलिए हर वस्तु में ब्रह्म का बीज है। यही बीज आगे चलकर वृक्ष का रुप धारण करती है। जब यह धारणा बन जाये कि प्रत्येक वस्तु मे ब्रह्म का बीज है तो वह विकसित होकर ब्रह्म का रुप धारण कर सकता है तब जीवन का दृष्टिकोण ही बदल जाता है।

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं[3] कि हे निष्पाप अर्जुन इन गुणों में से सत्व गुण निर्मल होने के कारण प्रकाशक एवं अरोग्य कर हैं। यह (सत्व गुण) आनंद एवं ज्ञान के प्रति आसक्ति के कारण मनुष्य को बांधता है। भगवान श्रीकृष्ण ने इस श्लोक में सत्व गुण को निर्विकार बताया है। यह सत्वगुण की विलक्षणता है। इसका कारण यह है कि सत्वगुण गुणातीत होने के बहुत नजदीक है। यद्यपि सत्वगुण निर्विकार है पर साथ रहने के कारण वह विकारी हो जाता है। 'सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानद्य' यहां पर संग रजोगुण का

---

1. सवेयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तय सभवन्ति या । तासा ब्रह्म महद् योनिरह बीजप्रदः पिता ।।
2. सत्व रजस्तम् इति गुणाः प्रकृतिसभवा । निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।। श्रीमद्०, अध्याय-14, श्लोक 4, 5
3. तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्। सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानध ।। श्रीमद्०, अध्याय-14, श्लोक 6

स्वरुप है। यहां पर सत्वगुण की चर्चा की गयी है कि इस जगत मे सत्वगुण को विकसित करने पर यह होता है मनुष्य अधिक चतुर हो जाता है। सतोगुणी पुरुष को भौतिक कष्ट उतना पीड़ित नहीं करते। ब्राह्मण सतोगुणी का प्रतीक माना जाता है। सुख का यह भाव इस कारणवश होता है, क्योकि सन्तोगुणी मनुष्य पापकर्मो से प्रायः मुक्त रहता है। वैदिक साहित्य में सतोगुण का अर्थ है अधिक ज्ञान तथा सुख का अधिकाधिक विचार संग जो रजोगुण का स्वरूप है, सुख और ज्ञान मे बाधक नहीं है, प्रत्युत सग में बाधक है। संग है- उनको अपना मान लेना। वास्तव मे सत्वगुण अपना है नहीं, वह तो प्रकृति का है। मनुष्य में रजोगुण की मुख्यतया रहती है-'रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते' (14/15); मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः' (14/18)। अतः जब तक संग रहता है, तब तक मुक्ति नहीं होती, क्योकि स्वरुप असग है।

यहां पर श्रीकृष्ण ने सत्वगुण को विकार रहित माना, और परमपद् को अनामय कहा- 'पदं गच्छन्त्यनामयम्' (2/41)। इससे यह समझना चाहिए कि सत्वगुण तो साक्षेप अनामय है और परमपद निरपेक्ष अनामय है। यहां तीनों गुण प्रकृतिजन्य होते हुए भी रजोगुण तृष्णा और आसक्ति से पैदा होने वाला और तमोगुण अज्ञान से पैदा होने वाला है, परन्तु सत्वगुण केवल प्रकृतिजन्य है। तात्पर्य यह है कि सत्वगुण प्रकृतिजन्य तो है, पर किसी विकार से जन्य नहीं है। इसीलिए इसे अनामय कहा गया है।

सात्विज्ञ ज्ञान और तत्वज्ञान में अन्तर

सात्विज्ञ ज्ञान मे तो 'मैं ज्ञानी हूँ', यह संग है, पर तत्वज्ञान सर्वथा असंग है अर्थात् तत्वज्ञान होने पर ज्ञान रहता है, पर 'मैं ज्ञानी हूँ'- यह (ज्ञानी) नहीं रहता। सात्विक ज्ञान में द्रष्टा रहता है, और अपने में विशेषता का मान होता है, परन्तु तत्वज्ञान में कोई दृष्टा नहीं होता और अपने मे कोई कमी भी नहीं रहती तथा विशेषता का मान भी नहीं होता, क्योंकि व्यक्तित्व नहीं रहता। अपने में विशेषता का अनुभव होना ही संग है। विशेषता का अनुभव 'मैं ज्ञानी हूँ' ऐसा स्वीकार करने से होता है। तत्वज्ञान होने पर आनंद का अनुभव होता है। आगे के श्लोक में श्रीकृष्ण ने रजोगुण के स्वरुप का वर्णन करते हुए कहा[1] 'रजो रागात्मकं

1. रजो रागात्मक विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्। तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्।। श्रीमद्०, अध्याय-14, श्लोक 7

विद्धि'-यह रजोगुण रागस्वरुप है, अर्थात् किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना, क्रिया आदि में जो प्रियता पैदा होती है, वह प्रियता रजोगुण का ही स्वरुप है। 'रागात्मकम्' कहने का तात्पर्य है कि जैसे स्वर्ण के आभूषण स्वर्णमय होते है, ऐसे ही रजोगुण रागमय है। 'पातञ्जल योग दर्शन' में 'क्रिया' को रजोगुण स्वरुप कहा गया है।[1] परन्तु श्रीमद् भगवद्गीता में भगवान् (क्रियामात्र को गौण रुप से रजोगुण मानते हुए भी) मुख्यता राग को ही रजोगुण का स्वरुप मानते हैं।[2] इसलिए 'योगस्थः कुछ कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा'[3] पदों में आसक्ति का त्याग करके कर्तव्य कर्मों को करने की आज्ञा दी गयी है। निष्काम भाव से किये गये कर्म मुक्त करने वाले होते हैं[4] इसी सम्बन्ध में भगवान् कहते हैं कि 'प्रवृत्ति' अर्थात् क्रिया करने का भाव उत्पन्न होने पर भी गुणातीत पुरुष का उसमें राग नहीं होता। तात्पर्य यह है कि गुणातीत पुरुष मे भी रजोगुण के प्रभाव से प्रवृत्ति तो होती है, पर वह रागपूर्वक नहीं होती। गुणातीत होने में सहायक होने पर भी सत्वगुण को सुख और ज्ञान की आसक्ति से बाँधने वाला कहा जाता है। इससे सिद्ध है कि आसक्ति ही बन्धन कारक है, सत्वगुण स्वयं नहीं। अतः श्रीकृष्ण राग को ही रजोगुण का मुख्य स्वरुप जानने के लिए कह रहे हैं।

महासर्ग के आदि में परमात्मा का 'बहु स्यां प्रजायेय-' यह संकल्प होता है। यह रजोगुणी संकल्प है। इसी को गीता ने कर्म नाम दिया है।[5] जिस प्रकार दही को मथने से मक्खन और छाछ अलग-अलग हो जाता है, ऐसे ही सृष्टि रचना के इस रजोगुणी संकल्प से प्रकृति मे क्षोप पैदा हो जाता है, जिससे सत्वरूपी मक्खन और तमोरूपी छाछा अलग हो

---

1 प्रकाशक्रियास्थितिशील भूतेन्द्रियात्मक। भोगापवर्गार्थं दृश्यम्। योगदर्शन (2/18)

2. श्रीमद् भगवद्गीता की एक बहुत बडी विलक्षणता यह है कि वह किसी मत का खण्डन किये बिना ही उस विषय में अपनी मान्यता प्रकट कर देता है। गीता में भगवान् ने क्रिया को भी रजोगुण माना है-'लोभ· प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणाम्' (14/12), और क्रिया को सात्विक क्रिया बताया (18 अध्याय का 23वॉ श्लोक)। इसलिए दोष क्रियाओं में नहीं है, प्रत्युत राग या असक्ति में है। रागपूर्वक किये हुए कर्म ही बाधते हैं। तात्पर्य यह है कि मनुष्य कर्मो की आसक्ति और फलेच्छा से ही बधता है, कर्मो को करने मात्र से नहीं। राग न रहने पर सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी मनुष्य नहीं बधता (चौथे अध्याय का 19वॉ श्लोक)। अगर क्रिया मात्र ही बन्धन कारक होती तो जीवन्मुक्त महापुरुषों को भी बॉध देती, क्योंकि क्रियाए तो उनके द्वारा भी होती (14वें अध्याय का 22वॉ श्लोक) भगवान् ने सृष्टि की रचना करना भी कर्म है, अवतार लेकर वे भी क्रियाए करते हैं, पर कर्मो में आसक्ति न रहने से उनको कर्म बाधते नहीं (9वें अध्याय का नवाँ श्लोक)।
18वें अध्याय का 23, 24, 25 श्लोक में भगवान ने सात्विक, राजसिक, तामस, तीन प्रकार के कर्मों का वर्णन किया। अगर मात्र कर्म रजोगुण होते, तो राजस, तामस भेद कैसे होते? गीता मुख्य रुप से राग को रजोगुण कहती।

3 'योगस्थ· कुरु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा धनजय।
सिद्धयसिद्धयो समो भूत्वा समत्व योग उच्यते।। श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-2, श्लोक- 48

4. तस्मादसक्त· सततं कार्यं कर्म समाचर। असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुष ।। श्रीमद्०, अध्याय-3, श्लोक 19

5 अक्षरं ब्रह्म परम स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते। भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसज्ञितः।। (8/3)

जाता है। सत्वगुण से अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रियाँ, रजोगुण से प्राण और कर्मेन्द्रियाँ तथा तमोगुण से स्थूल पदार्थ, शरीर आदि का निर्माण होता है। तीनों गुणो से संसार के अन्य पदार्थों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार महासर्ग के आदि मे भगवान् का सृष्टिकर्ता कर्म भी राग रहित होता है।[1]

'तृष्णासङ्गसमुद्भवम्'- प्राप्त वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ परिस्थितियां घटनाएं आदि बने रहे, तथा वे और भी मिलते रहे। ऐसी 'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई' की तरह तृष्णा पैदा होती है। इस तृष्णा से वस्तु आदि में आसक्ति पैदा होती है। व्याकरण के अनुसार इस तृष्णासङ्गसमुद्भवम् के दो अर्थ होते हैं-जिससे तृष्णा और आसक्ति पैदा होते हैं[2] अर्थात् तृष्णा और आसक्ति से पैदा होता हो[3] अर्थात् तृष्णा और आसक्ति से पैदा होने वाला। जैसे बीज और वृक्ष अन्योन्य कारण है, अर्थात् बीज से वृक्ष पैदा होता है, और वृक्ष से फिर बहुत सारे बीज पैदा हो जाते है, ऐसे ही राज स्वरूप रजोगुण से तृष्णा और आसक्ति बढती है तथा तृष्णा और आसक्ति से रजोगुण बहुत बढ़ जाते हैं। तात्पर्य यह है कि ये दोनों ही एक दूसरे को पुष्ट करने वाले है। अत. दोनों ही अर्थ ठीक है। रजोगुण कर्मों की आसक्ति से शरीरधारी को बाँधता है और मनुष्य नये-नये कर्मों को करने के लिए प्रवृत्त होता है। फिर मनुष्य दिन-रात इसी प्रवृत्ति में फंसा रहता है, कहने का तात्पर्य है कि मनुष्य दिन-रात नये कर्म करने के चिन्तन मे लगा रहता है। ऐसी अवस्था में उसे अपने कल्याण करने का अवसर ही नहीं मिलता है। इस तरह रजोगुण कर्मों की सुखासक्ति से शरीरधारी को बांध देता है अर्थात् जन्ममरण मे ले जाता है। 'देहिनम्' का अर्थ है देह से अपना सम्बन्ध रखने वाला देहि। सकामभाव से कर्मों को करने में भी एक सुख होता है और 'कर्मों का अमुकफल भोगेंगे, इस फलासक्ति में एक सुख होता है। इस कर्म की सुख आसक्ति से मनुष्य बंध जाता है। यहां पर रजोगुण कर्मों के संग से मनुष्य को बाँधता है। अतः सात्विक कर्म भी संग होने से बॉधने वाले हो जाते हैं। अगर संग न हो तो, कर्म बन्धनकारक नहीं होते।[4]

---

1. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागश·। तस्य कर्तारमपि मा विद्धयकर्तारमण्ययम्।। श्रीमद्०, अध्याय-4, श्लोक-13
2 तृष्णाया· सङ्गस्य च समुद्भवो यस्मात्।
3. तृष्णाया· सङ्गच्च समुद्भवो यस्य।
4. यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वापि स इमॉल्लोकान हन्ति न बिन्ध्यते। श्रीमद्०, अध्याय-18, श्लोक 17

इसलिए कर्मयोग से मुक्ति हो जाती है, क्योकि कर्मों का और उनके फल का सग न होने से कर्मयोग होता है।[1]

गीता ने 'फलाशा' और 'आसक्ति' के त्याग का उपदेश दिया है। फलाशा और आसक्ति का मूल कारण 'अहंकार' है। मैने यह किया इसलिए मुझे फल मिलना चाहिए। फलाशा और आसक्ति बुद्धि में असंग होने के कारण होती है। जिस व्यक्ति में 'मैं' का 'अहंकार' का भाव न रहा, और किसी काम में लिप्त होकर काम नहीं करता, निस्संग रहकर काम करता है, जो समझता है कि 'मैं' नहीं कर रहा, मुझ द्वारा वह कर रहा है और वह जो कुछ मुझसे करा रहा है मै क्यो लिप्त (आसक्त) होऊॅ इस तरह की भावना से कोई व्यक्ति किसी का बध भी करता है, तो वह निस्वार्थ भाव से करता है, इसलिए इसका दोष उसे नहीं लगता ठीक ऐसे ही जैसे किसी को फांसी की सजा देने पर दोष जज को नहीं लगता, इसलिए दोष नहीं लगता, क्योंकि जज जो कुछ करता है निस्सग तथा निर्लेप भाव से करता है, और द्वेष भाव से नहीं करता।

डा0 राधाकृष्णनन् इस 18वे अध्याय के 17वे श्लोक की व्याख्या करते हुए कहते है कि मुक्त मनुष्य अपने को विश्वात्मा का उपकरण बना देते हैं, इसलिए जो कुछ वह करता है, वह स्वयं नहीं करता, विश्वात्मा उसके माध्यम से विश्व की व्यवस्था को बनाये रखने के लिए कर्म करता है। वह भयंकर कर्मों को किसी स्वार्थपूर्ण उद्देश्य या इच्छा के विना करता है, लेकिन इसलिए कि यह उसका आदिष्ट कर्म है, यह उसका अपना कर्म नहीं, भगवान का कर्म है। इस श्लोक का यह अर्थ नहीं है कि हम दण्ड से मुक्त होकर अपराध करते रह सकते है। जो व्यक्ति अपने 'अहम्' को छोड़ देता है, वह विशाल आत्मिक चेतना में जीवनयापन करता है, उसे कोई पाप करने का प्रलोभन नहीं रहता। बुरे कर्म अज्ञान और पृथक चेतना के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं, और परमात्मा के साथ एकता की चेतना के फलस्वरूप केवल अच्छे काम ही हो सकते हैं।

'सब लोगों को मारता हुआ भी नहीं मारता' यह एक ऐसी स्थापना है जो समझ में नहीं आती, परन्तु अगर हम कातिल की इसकी तुलना देश के लिए लड़ने वाले वीर से करें

---

1 यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते। सर्वसकल्पसन्यासी योगारुढस्तदोच्यते।। श्रीमद्०, अध्याय-6, श्लोक 4

तो गीता का कथन स्पष्ट हो जाता है। कातिल के हृदय मे कत्ल करने के बाद वासना बनी रहती है, उसका हृदय अशान्त रहता है, चिन्ताग्रस्त रहता है, व्याकुल भी रहता है। देश के लिए जो शत्रुओ का सहार करता है, वह सैकडो का खून बहाकर भी वासनाहीन बना रहता है, उसका मन शात, प्रसन्न रहता है। इसका कारण है कातिल के मन मे अहम्, अहकार तथा कर्म के प्रति आसक्ति है, परन्तु सैनिक के मन मे अहम्, अहकार नहीं, उसके हृदय मे देश के प्रति समर्पण की भावना है, जो कुछ उसने किया वह उसका किया नहीं, देश का किया है, उसके हृदय में आसक्ति नहीं है, उसने अपने लिए कुछ नहीं किया, इसलिए परिणाम चाहे कुछ भी हो, वह परिणाम से बॅधा हुआ है, परन्तु उसमें लिप्त नहीं वह निरहकार तथा निर्लिप्त है-इसलिए वह मारता हुआ भी नहीं मारता।[1]

श्रीमद् भगवद्गीता के अध्याय 14 के श्लोक 8 मे[2] तमोगुण के स्वरुप का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा कि हे भरत तुम यह जान लो कि अज्ञान से उत्पन्न तमोगुण समस्त मनुष्यो का मोह है। इस गुण के प्रतिफल आलस, पागलपन, नींद है, जो बुद्धजीवों को बाधते है। इस श्लोक में 'तु' शब्द का प्रयोग उल्लेखनीय है। यह तमोगुण अज्ञान से अर्थात् बेसमझी से, मूर्खता से पैदा होता है और देहधारियो को मोहित कर देता है। इसके उत्पन्न होते ही सत् असत्, कर्तव्य अर्कतव्य का ज्ञान (विवेक) नहीं होता। यह सासारिक सुख मे भी नहीं लगने देता। वास्तव मे तमोगुण से मनुष्य मात्र मोहित होते हैं, क्योकि दूसरे प्राणी तो स्वाभाविक ही तमोगुण से मोहित होते हैं। जिन मनुष्यों में सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान (विवेक) नहीं है, वे मनुष्य होते हुए भी चौरासी लाख योनियो वाले प्राणियों के समान है अर्थात् पशुपक्षी आदि प्राणी खा-पी लेते हैं और सो जाते है, ऐसे ही वे मनुष्य भी है। यह तमोगुण प्रमाद, आलस्य, निद्रा के कारण सम्पूर्ण जीवधारी को बांध देता है। <u>'प्रमाद'</u> के दो प्रकार होते हैं। पहला करने लायक काम को न करना अर्थात् जो काम अपने लिए और दुनिया के लिए हितकारी हो, ऐसे कर्म को प्रमाद (पागलपन) के कारण नहीं करना, और दूसरा न करने लायक काम को करना अर्थात् जिस काम से अपना और दुनिया का अहित हो, उसे करना।

---

1 डा0 सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार 'श्रीमद् भगवद्गीता' विजय कृष्ण लखनपाल एण्ड कम्पनी, 'विद्या विहार' बलवीर ऐवेन्यू, देहरादून, पेज न0 5/5

2 तमस्त्वज्ञानज विद्धिमोहन सर्वदेहिनाम्। प्रमादालस्यनिद्रामिस्तन्निबध्नाति भारत।। श्रीमद्०, अध्याय-14, श्लोक 8

न करने लायक काम भी दो तरह के होते है- (1) व्यर्थ खर्च करना अर्थात् वीडी, सिगरेट, भाग आदि पीने मे और नाटक, सिनेमा, खेल आदि देखने मे धन खर्च करना और (2) व्यर्थ क्रिया करना अर्थात् ताश, चौपड खेलना, खेलकूद करना, विना किसी कारण पशु-पक्षी को कष्ट देना आदि। प्रमाद की तरह 'आलस्य' भी दो प्रकार का होता है- (1) सोते रहना, निकम्मे बैठे रहना, आवश्यक काम न करना और ऐसे विचार रखना कि फिर कर लेगे, अभी तो बैठे है-इस तरह का आलस्य मनुष्य को बॉधता है और (2) निद्रा के पहले शरीर भारी हो जाता है, वृत्तिया भारी हो जाती है, समझने की शक्ति नहीं रहती इस तरह का आलस्य दोषी नहीं है, क्योकि यह आलस्य आता है, मनुष्य करता नहीं 'निद्रा' भी दो प्रकार की होती है- (1) आवश्यक निद्रा जो निद्रा शरीर के स्वास्थ्य के लिए नियमित रुप से ली जाती है और जिससे शरीर मे हलकापन आता है, वृत्तिया स्वच्छ होती है बुद्धि को विश्राम मिलता है, ऐसी विश्राम की निद्रा त्यागने योग्य नहीं है। भगवान ने ऐसी नियमित निद्रा को दोषी नहीं माना, वरन् योग साधना मे सहायक माना है। (2) अनावश्यक निद्रा जो निद्रा के लिए ली जाती है, जिसमे बेहोशी ज्यादा आती है, नींद से उठने पर भी शरीर भारी रहता है, वृत्तिया भारी रहती है, पुरानी स्मृति नहीं होती, ऐसी अनावश्यक निद्रा त्याज्य एवं दोषी है।[1] इस प्रकार तमोगुण प्रमाद, आलस्य, निद्रा के द्वारा मनुष्य को बॉध देता है, अर्थात् उसकी सांसारिक और पारमार्थिक उन्नति नहीं होने देता।

इस प्रकार सत्व, रज, तम ये तीन गुण है जिससे मनुष्य बॉधता है, पर तीनों की प्रक्रिया अलग-अलग होती है। सत्वगुण और रजोगुण 'सङ्ग' से बॉधता है अर्थात् सत्वगुण सुख और ज्ञान की आसक्ति से तथा रजोगुण कर्मों की आसक्ति से बॉधता है। अतः सत्वगुण में 'सुखसग' और 'ज्ञानसङ्ग' बताया तथा रजोगुण में 'कर्मसंग' बताया। परन्तु तमोगुण को किसी प्रकार के संग की आवश्यकता नहीं, क्योकि यह मोहनात्मक (स्वरुप से ही बॉधने वाले) है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सत्वगुण और रजोगुण सङ्ग से (सुखा शक्ति) से बंधते है और तमोगुण स्वरुप से ही बॉधने वाला है। ये तीनों प्रकृति के गुण है।

श्रीमद् भगवद्गीता मे अध्याय 14 के 9वे श्लोक में[2] श्रीकृष्ण कहते हैं कि सत्वगुण साधक को सुख में लगाकर अपनी विजय प्राप्त करता है, साधक को अपने वश में कर लेता

1 युक्तस्वप्रावबोधस्य योगो भवति दुःखहा। न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।। श्रीमद्०, अध्याय 6, श्लोक 16-17
2 सत्व सुखे सञ्जयति रज कर्मणि भारत। ज्ञानमावृत्य तु तम प्रमादे सञ्जयत्युत।। श्रीमद्०, अध्याय-14, श्लोक 9

है। यद्यपि भगवान कहते हैं कि सत्वगुण के द्वारा सुख और ज्ञान दोनों में बॉधने की बात होती है लेकिन यहां पर सत्वगुण की विजय केवल सुख में बतायी है न कि ज्ञान में। वास्तविक तौर पर साधक केवल सुख की आसक्ति से ही बंधता है। ज्ञान होने पर साधक में अभिमान आ जाता है। इसलिए यहां पर सत्वगुण से भक्त को केवल सुख की प्राप्ति होती है। मनुष्य को काम करना अच्छा लगता है। रजोगुण मनुष्य को कर्म मे लगाता है। जैसे एक छोटा बालक पड़े-पड़े हाथ-पैर हिलाता है, तो उसे अच्छा लगता है और हाथ पैर हिलाना बंद कर दो तो वह रोने लगता है। ऐसे ही मनुष्य जब कोई क्रिया करता है तो अच्छा लगता है और वही क्रिया कोई बंद कर दे तो उसको बुरा लगता है। <u>'कर्मों के फल में तेरा अधिकार नहीं है।'</u>[1] आदि वचनो से फल में आसक्ति न रखने की तरफ तो साधक का ख्याल जाता है, पर कर्मो पर आसक्ति न रखने की तरफ साधक का ख्याल नहीं जाता। अत· वह कर्म तो करता है, कर्मों के करते-करते उसकी उन कर्मो में आसक्ति प्रियता हो जाती है, उनका आग्रह हो जाता है। इसकी ओर ख्याल कराने के लिए, भगवान यहा रजोगुण कर्म का वर्णन करते है। जब रजोगुण के बाद तमोगुण आता है तो भक्त सत्-असत्, कर्तव्य अकर्तव्य, हित-अहित के ज्ञान (विवेक) को ढक देता है, अर्थात् ज्ञान को जागृत नहीं होने देता। ज्ञान को ढक कर मनुष्य में आलस्य उत्पन्न कर देता है अर्थात् मनुष्य को कर्तव्य कर्म करने नहीं देता और न करने योग्य कर्म में लगा देता है। सत्वगुण से ज्ञान (विवेक) और प्रकाश (स्वच्छता) ये दो वृत्तियां उत्पन्न होती। तमोगुण इन दोनों वृत्तियों का विरोधी है, इसलिए वह ज्ञान को ढककर मनुष्य को प्रमाद में लगाकर आलस्य, निद्रा उत्पन्न कर देता है जिससे ज्ञान की बातें कहने-सुनने में नहीं आती।

श्रीमद् भगवद्गीता में इस अध्याय के दसवें श्लोक[2] में गुणों की महत्ता को बताते हुए कहा है कि 'रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत। 'रजोगुण और तमोगुण की वृत्तियों को दबाकर सतोगुण बढ़ता है। रजोगुण की लोभ, प्रवृत्ति, नये-नये कर्मों का आरम्भ, अशान्ति, स्पृहा, सांसारिक भोग और संग्रह में प्रियता आदि वृत्तियां और तमोगुण की प्रमाद, आलस्य, अनावश्यक निद्रा, मूढ़ता आदि वृत्तियाँ इन सारी वृत्तियों को 'सत्वगुण' दबा देता है, और

---

1 कर्मण्येवाधिकारास्ते माफलेपु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। श्रीमद्०, अध्याय-2, श्लोक 47

2 रजस्तमश्चाभिभूय सत्व भवति भारत। रज· सत्व तमश्चैव तम· सत्वं रजस्तथा।। श्रीमद्०, अध्याय-14, श्लोक 10

अन्तःकरण में स्वच्छता, निर्मलता, वैराग्य, नि स्पृहता, उदारता, निवृत्ति आदि वृत्तियो को उत्पन्न कर देता है। 'रज सत्वंतमश्चैव' सत्वगुण और तमोगुण की वृत्तियों को दबाकर रजोगुण बढ़ता है, अर्थात् सत्वगुण की ज्ञान, प्रकाश, वैराग्य, उदारता आदि वृत्तियॉ और तमोगुण की प्रमाद, आलस्य, अनावश्यक निद्रा, मूढता आदि वृत्तियां इन सभी को 'रजोगुण' दबाकर लोभ, प्रवृत्ति, आरभ, अशान्ति, स्पृहा आदि वृत्तियां अन्तःकरण में उत्पन्न कर देता है। 'तमः सत्रं रजस्तथा' उसी प्रकार सत्वगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण को बढ़ाता है अर्थात् सत्वगुण की स्वच्छता, निर्मलता प्रकाश, उदारता आदि वृत्तिया और रजोगुण की चंचलता, अशान्ति, लोभ आदि इन वृत्तियो को 'तमोगुण' दबा देता है और अन्तःकरण में प्रमाद, आलस्य, अति निद्रा आदि को उत्पन्न कर देता है।

इस प्रकार दो गुणो को दबाकर गुण बढ़ता है, बढ़ा हुआ गुण मनुष्य पर विजय करता है, और विजय करके मनुष्य को बांध देता है। परन्तु यहा पर क्रम उल्टा है, अर्थात् पहले बॉधने की बात कही, फिर विजय करने की, फिर तो गुणों को बाधकर एक का बढ़ना कहा। ऐसे क्रम से तात्पर्य यह है कि जिन महापुरुषों का प्रकृति से संबंध विच्छेद हो गया, वे महासर्ग में उत्पन्न नहीं होते और महाप्रलय में भी व्यथित नहीं होते। इसका कारण यह है कि महासर्ग और महाप्रलय दोनो प्रकृति के सबध से ही होते हैं। परन्तु जिन मनुष्यों ने प्रकृति के साथ संबध जोड लिया है, उनको प्रकृतिजन्य गुण बांध देता है।[1] यहां एक स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि उन गुणों का स्वरुप क्या है और वे मनुष्य को किस प्रकार बॉध देते हैं? उत्तर में कहा कि[2] क्रमशः सत्व, रज, तम तीनों गुणों का स्वरुप एवं उनके द्वारा जीव को बाधे जाने का प्रकार बताया है। यहां पर कहा जा सकता है जो गुण बढ़ता है, उसकी मुख्यतया हो जाती है, और दूसरे गुण की गौणता हो जाती है। जब दो गुणों को दबाकर एक गुण बढ़ता है, तब उस बढ़े हुए गुण के कुछ लक्षण होते हैं। ऐसा माना गया है कि जिस समय रजोगुणी और तमोगुणी आदि वृत्तियों को दबाकर सत्वगुण बढ़ता है, उस समय इन्द्रियों मे तथा अन्तःकरण में स्वच्छता प्रतीत होती है। जिस प्रकार सूर्य

---

1 सत्वं रजस्तम इति गुणा प्रकृतिसभवा । निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।। श्रीमद्०, अध्याय-14, श्लोक 5

2 तत्र सत्त्व .... चानघ ।।
रजो रागात्मकं . ... देहिनम् ।।
तमस्त्वज्ञानज. .... भारत ।। श्रीमद्०, अध्याय 14, श्लोक 6-8

के प्रकाश मे सभी वस्तुए साफ-साफ दिखायी देती है, ठीक उसी प्रकार से स्वच्छ बहिःकरण और अन्तःकरण से शब्दादि पाचों विषयो का यथार्थ रुप से ज्ञान होता है। मन द्वारा किसी भी विषय का ठीक-ठीक चिन्तन-मनन होता है।

यहां अध्याय चौदह के श्लोक संख्या 11[1] में बताया है कि 'देहेऽस्मिन' का अर्थ है कि सत्वगुण के बढ़ने का अर्थात् बहिकरण और अन्त.करण में स्वच्छता, निर्मलता और विवेक शक्ति प्रकट होने का अवसर इस मनुष्य शरीर में ही है, अन्य शरीरों में नहीं। तमोगुण-रजोगुण तो अन्य शरीरों मे बढता है किन्तु सत्वगुण केवल मनुष्य शरीर मे ही बढ़ सकता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह रजोगुण और तमोगुण पर विजय प्राप्त करके सत्वगुण से भी ऊँचा उठे। इसी में मनुष्य जीवन की सफलता है। ईश्वर ने कृपापूर्वक मनुष्य शरीर देकर इन तीनो गुणो पर विजय प्राप्त करने का पूरा अवसर, अधिकार योग्यता, स्वतन्त्रता दी है। इन्द्रियो और अन्त·करण मे स्वच्छता और विवेकशक्ति आने पर साधक को यह जान लेना चाहिए कि अभी सत्वगुण की वृत्तियां बढ़ी हुई है और तमोगुण-रजोगुण की वृत्तियां दबी हुई है। अत भक्त कभी भी अपने में यह अभिमान न करें कि 'मैं जानकर हो गया हूँ, ज्ञानी हो गया हूँ' वह सत्वगुण के कार्य प्रकाश और ज्ञान को अपना गुण न मानकर सत्वगुण का कार्य, लक्षण माने। तीनों गुणों की वृत्तियों का होना, बढ़ना, और एक गुण की प्रधानता होने पर दूसरे दो गुणो का दबना आदि-आदि परिवर्तन गुणों में होते हैं, स्वरुप में नहीं इस बात को मनुष्य शरीर मे ही ठीक तरह से समझा जा सकता है। परन्तु मनुष्य भगवान के दिये विवेक को महत्व न देकर गुणों के साथ संबंध जोड़ लेता है, और अपने को सात्विक, राजस, या तामस मानने लगता है। मनुष्य को चाहिए कि अपने को ऐसा न मानकर सर्वथा निर्विकार, अपरिवर्तनशील जाने।

तीनों गुणों की वृत्तियां अलग-अलग बनती बिगड़ती है। इसका सबको अनुभव होता है। स्वयं परिवर्तन रहित और इन सब वृत्तियों को देखने वाला है। यदि स्वयं भी बदलने वाला होता तो इन वृत्तियो के बनने विगड़ने को कौन देखता? परिवर्तन को परिवर्तन रहित ही जानना चाहिए। जब सात्विक वृत्तियों के बढ़ जाने से इन्द्रियों और अन्तःकरण में

---

1 सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते। ज्ञान यदा तदा विद्याद्विवृद्ध सत्त्वमित्युत।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-14, श्लोक 11

स्वच्छता, निर्मलता आ जाती है और विवेक जागृत हो जाता है, तब संसार से राग हर जाता है और वैराग्य हो जाता है। अशान्ति मिट जाती है और शान्ति आ जाती है। लोभ मिट जाता है और उदारता आ जाती है। प्रवृत्तिया निष्काम भावपूर्वक होने लगती है।[1] भोग और संग्रह के लिये नये-नये कर्मों का आरभ नहीं होता। मन में पदार्थों, भोगों की आवश्यकता पैदा नहीं होती। प्रत्येक विषय को समझने के लिए बुद्धि का विकास होता है। सभी कार्य सावधानीपूर्वक और सुचारुरुप से होता है। कार्यों में भूल कम होती है। कभी भूल हो भी जाये तो उसका सुधार होता है, लापरवाही नहीं। सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक स्पष्ट रूप से जागृत रहता है। सात्विक वृत्ति जब बढ़ी हुई हो तो भक्त को भजन आदि में समय व्यतीत करना चाहिए। **प्रकाश और ज्ञान दोनों में भेद है।** प्रकाश का अर्थ होता है इन्द्रियों और अन्तःकरण मे जागृति अर्थात् रजोगुण से होने वाले मनोराज्य का तथा तमोगुण से होने वाले निद्रा, आलस्य का न होकर स्वच्छता होना। ज्ञान का अर्थ होता है-विवेक अर्थात् सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्य, नित्य-अनित्य, आदि का ज्ञान होना।

सत्वगुण के लक्षणो का वर्णन करने के उपरान्त रजोगुण के लक्षणों को बताते हुए[2] श्लोक मे बताया 'लोभः' निर्वाह की वस्तुए पास में होने पर भी उनको अधिक बढ़ाने की इच्छा का नाम लोभ नहीं है। जैसे कोई खेती करता है, और अनाज पैदा हो गया, व्यापार करता है, और मुनाफा ज्यादा हो गया, तो इस तरह पदार्थ, धन, आदि के स्वाभाविक बढ़ने का नाम लोभ नहीं है और यह बढना दोषी भी नहीं है। 'प्रवृत्ति' किसी कार्य मात्र में लग जाने का नाम ही प्रवृत्ति है। परन्तु राग-द्वेष रहित होकर कार्य में लग जाना दोषी नहीं है, क्योंकि ऐसी प्रवृत्ति गुणातीत महापुरुषों की होती है। 'आरम्भः कर्मणाम्' संसार में धनी और बड़ा कहलाने के लिए मात्र, आदर, प्रशंसा आदि पाने के लिए नये-नये कर्म करना, नये-नये व्यापार शुरु करना, नयी दूकान खोलना आदि कर्मों का आरम्भ है।

प्रवृत्ति और आरम्भ मे अन्तर है। परिस्थिति के आने पर किसी कार्य में प्रवृत्ति होती है और किसी कार्य मे निवृत्ति होती है। परन्तु योग और संग्रह के उद्देश्य से नये-नये कर्मों को शुरु करना आरम्भ है।

---

1. कार्यमित्येव यत्कर्म नियत क्रियतेऽर्जुन। सड्ग त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विकोमतः।। श्रीमद्०, अध्याय-18, श्लोक 9
2 लोभ प्रवृत्तिरारम्भ कर्मणामशम स्पृहा। रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।। श्रीमद्०, अध्याय-14, श्लोक 12

मनुष्य जन्म लेने के बाद केवल परमात्मतत्व की प्राप्ति का ही उद्देश्य रहे, भोग ओर संग्रह का उद्देश्य न रहे इस दृष्टि से भक्तियोग और ज्ञानयोग मे 'सर्वारम्भपरित्यागी' पद[1] से सम्पूर्ण आरम्भो का त्याग करने के लिए कहा गया है। कर्मयोग में कर्मो के आरम्भ तो होते हैं, पर वे सभी आरम्भ कामना और सकल्प से रहित होते हैं।[2]

कर्मयोग में ऐसे आरम्भ दोषी भी नहीं है, क्योंकि कर्मयोग में कर्म करने का विधान है और बिना कर्म किये कर्मयोगी योग (समता) पर आरुढ़ नहीं हो सकता। अतः आसक्ति रहित होकर प्राप्त परिस्थिति के अनुसार कर्मो के आरम्भ किये जायें, तो वे आरम्भ नहीं है, प्रत्युत प्रवृत्तिमात्र ही है, क्योकि उनसे कर्म करने का राग मिटता है। 'अशमः' अन्त करण में अशान्ति, हलचल रहने का नाम अशम है। जैसे इच्छा करते हैं, वैसी चीजें जब नहीं मिलती तब अन्तःकरण मे हलचल रहने का नाम अशम. है। जैसी इच्छा करते हैं, वैसी चीजें जब नहीं मिलती तब अन्त करण मे हलचल अशान्ति होती है। कामना का त्याग करने पर यह अशान्ति नहीं रहती। 'स्पृहा' का अर्थ है परवाह जैसे भूख लगने पर अन्न की, प्यास लगने पर पानी की, जाड़ा लगने पर कपडे की परवाह या आवश्यकता होती है। वास्तव में भूख, प्यास, जाड़ा इनका ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रत्युत अन्न, जल आदि मिल जाये ऐसी इच्छा करना ही दोषी है। साधक को इस इच्छा का त्याग करना चाहिए, क्योंकि कोई भी वस्तु इच्छा के आधीन नहीं है। 'रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भारतर्षभ' जब मनुष्य के भीतर रजोगुण बढ़ता है, तब उपर्युक्त लोभ, प्रवृत्ति आदि वृत्तियां बढ़ती है। ऐसे समय में साधक को यह विचार करना चाहिए कि अपना जीवन निर्वाह तो हो ही रहा है, फिर अपने लिए और क्या चाहिए? ऐसा विचार करके रजोगुण की वृत्तिया मिटा दें, उनसे उदासीन हो जाये। जब रजोगुण बढ़ जाता है तो सत्वगुण के प्रकाश और ज्ञान दब जाते हैं। रजोगुण असंगता का विरोधी है[3] क्रिया और पदार्थ संग करने के कारण यह मनुष्य को योगारुढ़ नहीं होने देता। क्योंकि मनुष्य क्रिया और पदार्थ से असंग होने पर योगारुढ़ होता है।[4]

---

1 सर्वारम्भपरित्यागी यो भद्भक्त स मे प्रिय । सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-12, श्लोक 16, अध्याय 14, श्लोक 25

2. यस्य सर्वे समारम्भाः कामसकल्पवर्जिता । ज्ञानाग्निदग्धकर्माण तमाहु. पण्डित बुधाः।। श्रीमद्०, अध्याय-4, श्लोक-19

3 रजोरागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्। तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्।। श्रीमद्०, अध्याय-14, श्लोक 7

4. यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते। सर्वसकल्पसन्यासी योगारुढ़स्तदोच्यते।। श्रीमद्०, अध्याय-6, श्लोक 4

श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय 14 मे श्लोक[1] मे कहा गया है कि सत्वगुण की प्रकाश (स्वच्छता) वृत्ति को दबाकर तमोगुण वढ जाता है, तब इन्द्रिया और अन्तःकरण में स्वच्छता नहीं रहती। इन्द्रिया और अन्त·करण में जो समझने की शक्ति है, वह तमोगुण के बढने के कारण लुप्त हो गयी। इस वृत्ति को अप्रकाश कहा गया जिसका सत्वगुण की वृत्ति प्रकाश के साथ विरोध बताया गया है। रजोगुण की वृत्ति प्रवृत्ति को दबाकर जब तमोगुण बढ़ जाता है, तब कार्य करने का मन नहीं करता। निरर्थक बैठे रहने अथवा पडे रहने का मन करता है। आवश्यक कार्य करने की भी रुचि नहीं होती। यह सब अप्रवृत्ति का कार्य होता है। न करने लायक काम कोकरने लगना और करने लायक काम को न करना। जिन कामों को करने से न पारमार्थिक उन्नति होती न सासारिक उन्नति होती, न समाज का कोई काम होता और जो शरीर के लिए भी आवश्यक नहीं है ऐसे बीडी, सिगरेट, ताश आदि खेलों में लग जाना ही प्रमाद (पागलपन) है। जब तमोगुण बढ जाता है मोह अपने आप उत्पन्न हो जाता है, तब भीतर में विवेक विरोधी भाव उत्पन्न हो जाते हैं जिससे क्रिया करने और न करने के भाव पैदा हो जाते हैं। इन सभी से अधिक समय सोने में व्यतीत करना, अपने जीवन का समय नष्ट करना, धन भी अधिक खर्च करना आदि। ये सभी तमोगुण के लक्षण है अर्थात् जब ये अप्रकाश, अप्रवृत्ति आदि वृत्तिया दिखायी दे, तब यह समझना चाहिए कि सत्वगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण बढा है।

सत्व, रज, तम ये तीनों गुणों सूक्ष्म होने से अतीन्द्रिय है, अर्थात् इन्द्रियां और अन्तःकरण के विषय नहीं है। इसलिए ये तीनों गुण साक्षात् दिखने में नहीं आते, इनके स्वरुप का साक्षात् ज्ञान नहीं होता। इन गुणों का ज्ञान, इनकी पहचान तो वृत्तियों से ही होती है, क्योंकि वृत्तियां स्थूल होने से वे इन्द्रियां और अन्तःकरण का विषय हो जाती है। इसलिए यहां पर ईश्वर ने ग्यारहवे, बारहवें, तेरहवें श्लोक में क्रमशः तीनों गुणों की वृत्तियों का वर्णन किया है, जिससे अतीन्द्रिय गुणों की पहचान हो जाये, भक्त सावधानी से रजोगुण, तमोगुण का त्याग करके सत्वगुण की वृद्धि कर लें।

---

1 अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च। तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन।। श्रीमद्०, अध्याय-14, श्लोक 13

सत्व, रज, तम, इन तीनों गुणो की वृत्तियां स्वाभाविक ही उत्पन्न, नष्ट तथा कम अधिक होती रहती है। ये सभी परिवर्तनशील है। भक्त अपने जीवन में इन वृत्तियों के परिवर्तन का अनुभव भी करता है। इससे सिद्ध होता है कि तीनो गुणो की वृत्तियां बदलने वाली है, और इनके परिवर्तन को जानने वाले पुरुष को मनुष्य देख सकता है, इसलिए वह दृष्टा है। दृष्टा दृश्य से सर्वथा भिन्न होता है यह नियम है। दृष्य की तरफ दृष्टि होने से दृष्टा संज्ञा होती है। दृश्य पर जब दृष्टि नहीं होती तो द्रष्टा संज्ञाविहीन हो जाता है। यहा पर दृश्य को अपना मान कर- "मै कामी हूॅं', मैं क्रोधी हूॅं' आदि मान लेता है।

काम-क्रोध आदि विकारो को अपना मानकर मनुष्य ऐसे विकारों को निमन्त्रण देता है। मनुष्य भूल से क्रोध आने पर क्रोध को उचित मानता है और यह कहता है कि ये तो सभी को आता है। बाद मे कहता है 'मेरा क्रोधी स्वभाव है', ऐसा मान लेने से क्रोध अहंता मे बैठ जाता है। फिर क्रोध रुपी विकार से छूटना कठिन हो जाता है। यही कारण है कि साधक प्रयत्न करने पर भी क्रोधादि विकारों को दूर नहीं कर पाता और उनसे अपनी हार मान लेता है।

काम क्रोधादि विकारो को दूर करने का एक मात्र उपाय है साधक इनको अपने में कभी न माने। वास्तविकता तो यह है कि विकार हमेशा नहीं रहते, वरन् विकार रहित अवस्था हमेशा हरती है। कारण यह है कि विकार तो आते जाते रहते हैं। इसी प्रकार क्रोध आदि विकार भी अपने मे नहीं, वरन् मन बुद्धि में आते हैं। परन्तु मनुष्य मन बुद्धि से मिलकर उन विकारो को भूल से अपने में मान लेते हैं। अगर इन विकारों को अपने में न मानें तो उनसे माना हुआ सबध मिट जायेगा फिर उन विकारों को दूर करना नहीं पड़ेगा, वरन् वह अपने आप दूर हो जायेंगे। जैसे; क्रोध के आने पर साधक यह विचार करें कि 'मैं तो वही हूॅं' मैं आने-जाने वाले क्रोध से कभी मिल सकता ही नहीं।' यदि इस प्रकार दृढ़ विचार हो तो क्रोध कम आयेगा, एक समय बाद हमेशा के लिए समाप्त हो जायेगा।

यहां पर भगवान ने सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण के लक्षणों का वर्णन किया है। साधक को सावधान रहने को कहा कि इन गुणों के साथ अपना संबंध मानने से ही गुणों में होने वाली वृत्तियां उसको अपने में प्रतीत होती है, परन्तु साधक का इससे जरा भी संबंध

नहीं होता है। गुण और गुणों की वृत्तिया प्रकृति का कार्य होने से परिवर्तनशील है और स्वय पुरुष परमात्मा का अंश होने से अपरिवर्तनशील है। प्रकृति और पुरुष दोनो विजातीय है। यहा पर प्रश्न उठता है कि बदलने वाले के साथ न बदलने वाले का एकात्मवाद कैसे हो सकता है? इस संबंध में जो वास्तविकता की तरफ दृष्टि रखते हैं उससे तमोगुण और रजोगुण दब जाते हैं, तथा साधक में सत्वगुण की वृद्धि हो जाती है। यह सत्वगुण गुणातीत होने में बाधा उत्पन्न करता है। अत· साधक को सत्वगुण से उत्पन्न सुख का उपभोग नहीं करना चाहिए। सात्विक सुख का उपभोग करना रजोगुण का अंश है। रजोगुण में राग बढ़ने पर राग में बाधा देने वाले के प्रति क्रोध उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार क्रोध से सम्मोह उत्पन्न हो कर वह तमोगुण मे चला जाता है और अन्त में उसका पतन हो जाता है।[1]

अपने चौदहवें अध्याय के चौदहवे श्लोक मे[2] भगवान ने कहां जिस काल में जिस किसी भी देहधारी मनुष्य मे, चाहे वह सत्वगुणी, रजोगुणी अथवा तमोगुणी ही क्यो न हो, जिस किसी कारण से सत्व गुण तत्कालिक बढ़ जाता है, अर्थात् सत्वगुण के कार्य स्वच्छता, निर्मलता आदि वृत्तियां तत्कालिक बढ़ जाती है उस समय अगर उस मनुष्य के प्राण छूट जाते हैं, तो वह शुभ कर्म करने वालों के निर्मल लोकों में चला जाता है। 'उत्तमविदाम्' का अर्थ है कि मनुष्य उत्तम (शुभ) कर्म करते हैं, अशुभ कर्म कभी करते ही नहीं, अर्थात् उत्तम ही उसके भाव है उत्तम ही उनके कर्म है, उत्तम ही उनका ज्ञान है। ऐसे पुण्यकर्मा लोगों का जिन लोकों पर अधिकार हो जाता है, उन्हीं निर्मल लोकों में वह मनुष्य चला जाता है, जिसका शरीर सत्वगुण के बढ़ने पर छूटा है। कहने का अर्ध यह है कि उम्रभर शुभ कर्म करने वालों को जिन ऊँचे-ऊँचे लोकों की प्राप्ति होती है, उन्हीं लोकों में तात्कालिक बढे हुए सत्वगुण की वृत्ति में प्राण छूटने वाला जाता है।

सत्वगुण की वृद्धि में शरीर छोड़ने वाले मनुष्य पुण्यात्माओं के प्राप्तव्य ऊँचे लोकों में जाते हैं इससे सिद्ध होता है कि गुणों से उत्पन्न होने वाली वृत्तियॉ कर्मों की अपेक्षा कमजोर नहीं है। अत· सात्विक वृत्ति भी पुण्यकर्मों के समान श्रेष्ठ है। इसलिए सात्विक

---

1 ध्यायतो विषयान् पुस सङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात्सञ्जायते काम· कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।
क्रोधाद्भवति सम्महो· सम्मोहात्स्मृतिविभ्रम । स्मृतिभ्रशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-2, श्लोक 62, 63

2. यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलय याति देहभृत्। तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ।। श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-14, श्लोक 14

भाव का स्थान बहुत ऊँचा है। पदार्थ, क्रिया, भाव, उद्देश्य ये चारो क्रमशः एक दूसरे से ऊँचे होते है।

रजोगुण और तमोगुण की अपेक्षाा सत्वगुण की वृत्ति सूक्ष्म और व्यापक होती है। लोक में भी स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म का आहार कम होता है, जैसे देवता लोग सूक्ष्म होने से केवल सुगन्धि से ही तृप्त हो जाते है। यही कारण है कि सूक्ष्मभाव की प्रधानता से अन्त समय में सत्वगुण की वृद्धि मनुष्य को ऊँचे लोकों में ले जाती है। 'अमलान' कहने का तात्पर्य यह है कि सत्वगुण का स्वरुप निर्मल हैं, अतः सत्वगुण के बढ़ने पर जो मरता है, उसको निर्मल लोकों की प्राप्ति होती है। यहा पर प्रश्न उठता है कि जीवन पर्यन्त शुभ कर्म करने वालों की जिन लोकों की प्राप्ति होती है, उन लोकों में सतवगुण की वृत्ति बढ़ने पर मरने वाला कैसे चला जायेगा? भगवान् ने गीता में कहा कि मनुष्य की जैसी मति होती है, वैसी ही उसकी गति होती है।[1] अतः सत्वगुण की वृत्ति के बढ़ने पर शरीर छोड़ने वाला मनुष्य उत्तम लोकों में चला जाता है। विवेकवान् मनुष्य उत्तमवेत्ता होता है।

अन्तसमय[2] में मनुष्य जिन रजोगुण (लोभ, प्रवृत्ति, अशान्ति, स्पृहा आदि वृत्तियों में पड़ जाता है, उसी वृत्ति के चिन्तन में उसका शरीर छूट जाता है, तो वह मनुष्य रुप में जन्म लेता है। जिसने जीवन भर अच्छे काम किये वह यदि अन्तकाल में रजोगुण के बढ़ने पर मर जाता है, तो मरने के बाद मनुष्य योनि में जन्म लेने पर भी उसके काम भी अच्छे रहेंगे, वह शुभ कर्म करने वाला होगा। जो साधारण जीवन व्यतीत करता है, उसे अन्त समय में रजोगुण के बढ़ने पर मर जाये, तो वह मनुष्य योनि में आकर पदार्थ, व्यक्ति, क्रिया आदि में आसक्ति वाला होगा। जिसके जीवन में काम, क्रोध आदि की मुख्यता रही, वह यदि रजोगुण के बढ़ने पर मरता है, तो वह मनुष्य योनि में जन्म लेने पर भी विशेषरुप से असुरी सम्पत्ति वाला ही होगा।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य लोक में जन्म लेने पर भी गुणों के तारतम्य से मनुष्यों के तीन प्रकार हो जाते हैं, अर्थात् तीन प्रकार के स्वभाव वाले मनुष्य होते हैं, परन्तु इसमें एक

---

1 य य वापि स्मरन्भाव त्यजत्यन्ते कलेवरम्। त तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित ।। श्रीमद्०, अध्याय-8, श्लोक 6

2 रजसि प्रलय गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते। तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते।। श्रीमद्०, अध्याय-14, श्लोक 15

विशेष बात है कि रजोगुण की वृद्धि होने पर मरकर मनुष्य बनने वाले प्राणी कैसे ही आचरण वाले क्यों न हो, उसमे भगवद् प्रदत्त विवेक रहता ही है। इस भगवत्प्रदत्त विवेक के कारण मनुष्य भगवत्प्राप्ति के अधिकारी हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्त समय में कुछ मनुष्यों में तमोगुणी वृत्ति बढ़ जाती है अर्थात् तमोगुण की प्रमाद, मोह, अप्रकाश आदि वृत्तियां बढ़ जाती है। इन सभी वृत्तियो का चिन्तन करके वह मरता है, तो वह मनुष्य पशु, पक्षी, कीट पतिंगा बनता है या मूढ़योनि में जन्म लेता है। अच्छे काम करने वाला व्यक्ति अन्तसमय में तमोगुण की तत्वकालिक वृत्ति के बढ़ने पर मरकर मूढ़योनि में चला जाता है, पर उसके गुण, आचरण वहां पर अच्छे ही होगे। जैसे भरत मुनि का अन्त समय में तमोगुणी की वृत्ति में अर्थात् हिरन् के चिन्तन में मृत्यु हुई तो वे मूढ़योनि वाले हिरन बन गये।

श्रीमद् भगवद्गीता मे अध्याय 14 के श्लोक 16 में[1] बताया गया है कि कर्म वास्तव में न सात्विक होते है, न राजस न ही तामस ही होते हैं। सभी कर्म क्रियामात्र ही होते हैं। वास्तव मे उन कर्मों को करने वाला कर्ता ही सात्विक, राजस, तामस होता है। सात्विक कर्ता के साथ किया गया कर्म 'सात्विक' राजसकर्त्ता के साथ किया गया कर्म 'राजस' और तामस कर्ता के द्वारा किया कर्म 'तामस' कहा जाता है सत्वगुण में किया गया कर्म पुण्य कर्मों का फल शुद्ध होता है, लेकिन रजोगुण मे किये गये कर्म दुःख के कारण बनते हैं। भौतिक सुख के लिए जो भीकर्म किया जाता है, उसका विफल होना निश्चय होता है। उदाहरण यदि कोई गगनचुम्बी प्रासाद बनवाना चाहता है, तो उसके बनने के पूर्व अत्यधिक कष्ट उठाना पड़ता है। मालिक को धनसंग्रह तथा श्रमिकों को शारीरिक श्रम करना पड़ता है। इस प्रकार कष्ट तो होते ही है। अतएव भगवद्गीता का कथन है कि रजोगुण के आधीन होकर जो भी कर्म किया जाता है, उसमें निश्चित रुप से महान कष्ट भोगने पड़ते है। इससे यह मानसिक तुष्टि हो सकती है यह मकान मैंने बनवाया है लेकिन इससे सुख नहीं मिलता। जहां तक तमोगुण का सबंध है, कर्ता को कुछ ज्ञान नहीं होता अतएव उसके सारे कार्य दुःख देने वाले होते हैं, और बाद में वह पशु जीवन व्यतीत करता है। पशु जीवन तो सदैव दुःखदायी है। माया के वशीभूत का फल ही है। पशुओं में गोवध सर्वाधिक अधर्म है, क्योंकि गाय हमें दूध देती है सभी प्रकार का सुख देती है। गोवध एक प्रकार का सबसे निकृष्ट अज्ञान कर्म है। वैदिक

---

1 कर्मण सुकृतस्याहु सात्विक निर्मल फलम्। रजसस्तु फलं दु खमज्ञान तमस. फलम्।। श्रीमद्0, अध्याय-14, श्लोक 16

साहित्य मे (ऋग्वेद 9.4.64) गोभि प्रीणित मत्सरम सूचित करता है कि जो व्यक्ति दूध पीकर गाय को मारना चाहता है वह सबसे बडा अज्ञानी है। इस प्रकार सत्वगुण का स्वरुप निर्मल, स्वच्छ, और रजोगुण का स्वरुप राग है जिससे पाप दु:ख होता है। तमोगुण का स्वरुप मोह है जिससे ज्ञान, प्रकाश, विवेक नहीं उत्पन्न होता, तमोगुण अज्ञान को उत्पन्न करता और अज्ञान से ही उत्पन्न होता है।

इस श्लोक का निष्कर्ष यह है कि सात्विक पुरुष के सामने कैसी ही पारस्थिति आ जाये, पर उसमें उसको दुःख नहीं हो सकता। राजस पुरुष के सामने कैसी ही परिस्थिति आ जाये, पर उसको सुख नहीं हो सकता। तामस पुरुष के सामने कैसी परिस्थिति आ जाये पर उसमे विवेक जागृत नहीं होता। गुण (भाव) और परिस्थिति तो कर्मों के अनुसार ही बनती है। जब तक गुण (भाव) और कर्मों के साथ संबध रहता है, तब तक मनुष्य किसी भी परिस्थिति मे सुखी नहीं हो सकता। जब गुण और कर्मों के साथ सबध नहीं रहता, तब मनुष्य किसी भी परिस्थिति में कभी दु खी नहीं हो सकता, और बन्धन में नहीं पड़ सकता। जन्म के होने में अन्तकालीन चिन्तन ही मुख्य होता है और अन्तकालीन चिन्तन के मूल में गुणों का बढ़ना होता है, तथा गुणों का बढ़ना कर्मों के अनुसार होता है। मनुष्य का जैसा गुण होगा, वैसा वह कर्म करेगा और जैसा कर्म करेगा, वैसा गुण दृढ़ होगा तथा उस भाव (गुण) के अनुसार अंतिम चिन्तन होगा। अत· आगे जन्म होने में अन्तकालीन चिन्तन ही मुख्य रहा। चिन्तन के मूल मे भाव और भाव के मूल में कर्म रहता है।

ज्ञान के विषय मे चर्चा करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं[1] सत्वगुण से ज्ञान होता है अर्थात् सुकृत दुष्कृत कर्मो का विवेक जागृत होता है। उस विवेक से मनुष्य सुकृत सत्कर्म ही करता है। उन सुकृत कर्मो का फल सात्विक, निर्मल होता है। रजोगुण से लोभ आदि उत्पन्न होते हैं। लोभ को लेकर मनुष्य जो कर्म करता है, उन कर्मों का फल दुःख होता है। जितना मिला है, उसकी वृद्धि चाहने का नाम लोभ है। लोभ के दो रुप पाये जाते हैं-उचित खर्च न करना और अनुचित रीति से सग्रह करना। उचित कामों में धन खर्च न करने से, उससे जी चुराने से मनुष्य के मन में अशान्ति, हलचल रहती है और अनुचित रीति से अर्थात् झूठ, कपट

---

1. सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञान रजसो लोभ एव च। प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।। श्रीमद०, अध्याय-14, श्लोक 17

आादि से धन का संग्रह करने से पाप बनते है जिससे नरकों में तथा चौरासी लाख योनियो में दु·ख भोगना पड़ता है। इस प्रकार राजस कर्मो का फल दु ख होता है। तमोगुण से प्रमाद, मोह, और अज्ञान पैदा होता है। इन तीनो के बुद्धि में आने से विवेक विरूद्ध काम होते हैं।[1] जिससे केवल अज्ञान बढता और दृढ़ होता है।

यहां पर तमोगुण से अज्ञान पैदा होता है और इस चौदहवें अध्याय के आठवें श्लोक में अज्ञान से तमोगुण का पैदा होना बताया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे वृक्ष से बीज पैदा होता है, और उन बीजों से आगे बहुत से वृक्ष पैदा होते हैं, ऐसे ही तमोगुण से अज्ञान पैदा होते है और अज्ञान से तमोगुण बढता है। पहले आठवें श्लोक में प्रमाद, आलस्य, निद्रा ये तीन बताया, परन्तु 13वे और यहां पर प्रमाद तो बताया पर निद्रा नहीं बतायी। इससे यह सिद्ध होता है कि निद्रा तमोगुणी नहीं है, बांधने वाली भी नहीं है। इसका कारण यह है कि शरीर के लिए आवश्यक निद्रा तो सात्विक पुरुष को भी आती है और गुणातीत पुरुष को भी वास्तव मे अधिक निद्रा ही बाधने वाली निषिद्ध और तमोगुणी है, अधिक निद्रा से शरीर से आलस्य बढ़ता है, पड़े रहने के कारण ऐसा लगता है बहुत समय बरबाद हो गया। यहा ज्ञान (विवेक) सत्वगुण से प्रकट होता है और संग न करने पर बढ़ते-बढ़ते तत्वबोध तक चला जाता है। परन्तु लोभ, प्रमाद, मोह, अज्ञान बढ़ते हैं, तो कोई नुकसान बाकी नहीं रहता, कोई दुःख बाकी नहीं रहता, कोई नरक भी बाकी नहीं रहता।

श्रीमद् भगवद्गीता के इस श्लोक में[2] बताया गया है कि जिनके जीवन में सत्वगुण की प्रधानता रही है और उसके कारण जिन्होंने भोगों से संयम किया है, तीर्थ, व्रत, दान आदि शुभ कर्म किये है, दूसरो के सुख आराम के लिये प्याऊ बनवाये, सड़कें बनवायी, पशु-पक्षी की सुविधा के लिए पेड़-पौधे लगवाये हैं, उन मनुष्यों को यहा 'सत्त्वस्थाः' कहा। ऐसे सत्वगुणी लोग स्वर्गादि ऊँचे लोको में जाते हैं।

जिन मनुष्यों के जीवन में रजोगुण की प्रधानता होती है, उसके कारण जो शास्त्र की मर्यादा में रहते हैं, भोग करते, ऐश आराम, पदार्थो में ममता, आदि करते हैं, उन्हें 'राजसी'

---

1. अधर्म धर्मामिति या मन्यते तमसावृता। सर्वार्थाविपरीताश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।। श्रीमद्०, अध्याय-18, श्लोक 32
2. उर्ध्व गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसा । जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।। श्रीमद्०, अध्याय-14, श्लोक 18

कहते हैं। जब रजोगुण के कार्यो चिन्तन मे ऐसे मनुष्यों का शरीर छूट जाता है तव वे पुन. मृत्युलोक मे जन्म लेते है। उनको पृथ्वीतत्व प्रधान शरीर की प्राप्ति होती है।

जिन मनुष्यों के जीवन मे तमोगुण की प्रधानता रहती है और उसके कारण जिन्होंने प्रमाद आदि के वश में होकर निरर्थक पैसा और समय व्यर्थ व्यतीत किया, जो आलस्य और नींद मे पड़े रहे। वे मनुष्य अपने आवश्यक कार्यों को भी समय पर नहीं करते है, जो दूसरो का अहित ही सोचते आये है, जिन्होने दूसरों का अहित ही किया, दूसरों को दुःख ही दिया। ऐसे मनुष्य तमोगुण के कार्यों के चिन्तन में ही मर जाते हैं, और वे अधोगति में चले जाते है।

अधोगति के दो भेद होते है योनिविशेष और स्थानविशेष। पशु, पक्षी, कीट, पतगा, सांप, बिच्छू आदि 'योनिविशेष' अधोगति है और वैतरिणी, असिपत्र, लालाभक्ष, कुम्भीपाक, रौरव आदि नरक के कुण्ड 'स्थानविशेष' अधोगति है जिन मनुष्यो के जीवन में सत्वगुण व रजोगुण रहते हुए अन्त समय मे तमोगुण बढ़ जाता है, वे मनुष्य मरने के बाद 'योनिविशेष' अधोगति मे अर्थात् मूढ़योनियो मे चले जाते हैं।[1] जिनके जीवन में तमोगुण की प्रधानता रही है, और उसी तमोगुण की प्रधानता मे जिनका शरीर छूट जाता है, वे मनुष्य मरने के बाद 'स्थानविशेष' अधोगति मे अर्थात् नरक में जाते हैं।[2]

यहाँ पर यदि मनुष्य का सात्विक, राजस, तामस अंतिम चिन्तन हो गया, तो उनकी गति भी अंतिम चिन्तन के अनुसार होगी पर सुख-दुःख का भोग उनके कर्मों के अनुसार ही होगा। जैसे-कर्म तो अच्छे है, पर अतिम चिन्तन कुत्ते का हो गया, तो अंतिम चिन्तन के अनुसार वह कुत्ता बन जायेगा, परन्तु उस योनि में भी उसको कर्मों के अनुसार बहुत सुख आराम मिलेगा। कर्म तो बुरे है, परन्तु अतम चिन्तन मनुष्य आदि का हो गया तो अंतिम चिन्तन के अनुसार वह मनुष्य बन जायेगा, परन्तु उसको कर्मों के फल रुप में भयंकर पारस्थिति मिलेगी। उसके शरीर में रोग ही रोग रहेंगे। खाने के लिए अन्न पीने के लिए जल और पहनने के लिए कपड़ा भी कठिनाई से मिलेगा।

---

1. रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते। तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते।। श्रीमद्०, अध्याय-14, श्लोक 15
2. अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृता । प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।। श्रीमद्०, अध्याय-16, श्लोक 16

सात्विक गुण को बढाने के लिए साधक सत् शास्त्रो के पढने मे लगा रहे। खाना-पीना भी सात्विक करें, राजस-तामस खान-पान न करे। सात्विक श्रेष्ठ मनुष्यो का ही सग करे। शुद्ध, पवित्र, तीर्थ स्थानो का सेवन करे जहॉ कोलाहल होता है, ऐसे राजस स्थानो का और जहॉ अण्डा, मांस, मदिरा बिकती हो, ऐसे तामस स्थानो का सेवन न करें। प्रात.काल और सायंकाल का समय सात्विक माना गया है, अत· इस सात्विक समय का विशेषता से सदुपयोग करे अर्थात् इसे भजन, ध्यान आदि मे लगाये। शुभ कर्म करे राजस-तामस कर्म कभी न करे। जो जिस वर्ण मे स्थित हो उसी मे आपने-अपने कर्तव्यो का पालन करे। ध्यान भगवान का करे। मत्र भी सात्विक ही जपे। इस प्रकार सब कुछ करने से (सात्विक) पुराने सस्कार मिट जाते हैं और सात्विक संस्कार (सत्वगुण) वढ जाते हैं। इन गुणो को बढ़ाने के लिए श्रीमद् भगवद् मे दस हेतु बताये गये है।[1] शास्त्र, जल (खान-पान), प्रजा (सङ्ग), स्थान, समय, कर्म, जन्म, ध्यान, मत्र, सस्कार ये दस वस्तुए यदि सात्त्विक हो तो तत्वगुण की, राजसी हो तो रजोगुण की, तामसी हो तो तमोगुण की वृद्धि होती है।

श्रीमद्भगवद्गीता हमारे समक्ष कुछ ऐसे[2] अनुभव प्रकट करती है कि गुणों के सिवाय अन्य कोई कर्ता है तो नहीं, अर्थात् सम्पूर्ण क्रियाएं गुणों से ही हो रही है, सम्पूर्ण परिवर्तन गुणो मे ही हो रहा है। तात्पर्य यह हुआ कि समपूर्ण क्रियाओं और परिवर्तनों में गुण ही कारण है और कोई कारण नहीं है। वे गुण जिससे प्रकाशित होते हैं, वह तत्व गुणो से परे है। गुणो से परे होने से वह कभी गुणो से लिप्त नहीं होता, अर्थात् गुणो और क्रियाओ का उस पर कोई असर नहीं पड़ता। ऐसे उस तत्व को जो विचार कुशल साधक जान लेता है अर्थात् विवेक के द्वारा अपने-आपको गुणों से पर, असम्बद्ध, निर्लिप्त अनुभव कर लेता है कि गुणों के साथ अपना संबंध न कभी हुआ, न है, न होगा और न हो सकता है। कारण यह है कि गुण तो परिवर्तनशील है और स्वय में कभी परिवर्तन नहीं होता। यहां 'गुणेभ्यश्च परं वेत्ति' का तात्पर्य है कि जिससे गुण प्रकाशित होते हैं उस प्रकाश में अपनी स्थिति का अनुभव करना।[3] 'मद्भावं सोऽधिगच्छति' पदों का अर्थ है कि वह मेरे भाव को अर्थात् ब्रह्म

---

1 आगमोऽप प्रज्ञा देश कालः कर्म च जन्म च। ध्यान मन्त्रोऽथ सस्कारों दशैते गुणहेतव·।। 11/13/4

2 नान्य गुणेभ्य कर्तार यदा द्रष्टानुपश्यति। गुणेभ्यश्च पर वेत्ति, मद्भाव सोऽधिगच्छति।। श्रीमद्०, अध्याय-14, श्लोक 19

3 अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमण्यय । शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।। श्रीमद्०, अध्याय-13, श्लोक 31

को प्राप्त हो जाता है। इसी बात को दूसरे श्लोक मे 'मम साधर्म्यमागता' पदो से कहा गया है। विवेकी साधक गुणो के सिवाय अन्य किसी को कर्त्ता नहीं देखता और अपने को गुणो से अर्थात् क्रिया और पदार्थ से असग अनुभव करने पर वह योगारुढ हो जाता है। योगारुढ होने से शान्ति की प्राप्ति होती है और उस शान्ति मे अगर न अटके तो परमात्मा की प्राप्ति होती है।

श्रीकृष्ण ने कहा कि विवेकी मनुष्य (देहधारी) देह को उत्पन्न करने वाले इन तीनो गुणो का अतिक्रमण करके जन्म और मृत्यु, वृद्धावस्थारुपी दु:खो से रहित, अमरता का अनुभव करते है।[1] देह को उत्पन्न करने वाला गुण ही है। जिस गुण के साथ मनुष्य अपना सबध मान लेता है, उसके अनुसार उसको ऊँच-नीच योनियो मे जन्म लेना पड़ता है। परन्तु विचार कुशल मनुष्य इन तीनों गुणों का अतिक्रमण कर जाता है, अर्थात् इनके साथ अपना सबध नहीं मानता, इनके साथ जो सबध होता है उसका त्याग कर देता है विवेक (ज्ञान) के कारण उसे यह अनुभव हो जाता है कि सभी गुण परिवर्तनशील है, उत्पन्न और नष्ट होने वाले है। अपना स्वरूप गुणो से कभी लिप्त नहीं हुआ, क्योकि जिस प्रकृति से इनका जन्म हुआ, उसी से सबंध नहीं होता, तो फिर गुणो से कैसा संबध हो सकता है। जब साधक का इन तीनों गुणो से सबध नहीं होता, तो जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था का दुःख भी नहीं होता। ये गुण तो आते जाते रहते है, इनमें परिवर्तन होता रहता है। गुणों की वृत्तियां कभी सात्विकी, कभी राजसी और कभी तामसी हो जाती है, परन्तु स्वयं में कभी सात्विकपन, राजसीपन, तामसीपन नहीं आता। गुणो का संग होने से ही जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था के दु:खों का अनुभव होता है। जो गुणो से निर्लिप्त रहता है, वहीं अमरता का अनुभव करता है।

[2]यहां पर श्रीकृष्ण से अर्जुन ने पूछा कि जो इन तीनों गुणों से परे हैं, वह किन लक्षणों के द्वारा जाना जाता है? उसका आचरण कैसा होता है? वह प्रकृति के गुणों को किस प्रकार लांघता है? इस श्लोक में अर्जुन के प्रश्न अत्यन्त उपयुक्त हैं। वह उन पुरुषों के लक्षण जानना चाहता है, जिसने भौतिक गुणो को लॉघ लिया है। सर्वप्रथम वह ऐसे दिव्य

---

1 गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्। जन्ममृत्युजरादु:खैविमुक्तोऽमृतश्नुते।। श्रीमद्०, अध्याय-14, श्लोक 20

2 कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो। किमाचार कथ चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते।। श्रीमद्०, अध्याय-14, श्लोक 21

पुरुष के लक्षणो के विषय मे जिज्ञासा करता है कि कोई कैसे समझे कि उसने प्रकृति के गुणों के प्रभाव को लॉघ लिया है? दूसरा प्रश्न यह है कि ऐसा व्यक्ति किस प्रकार रहता है, क्या वे नियमित है, जिससे वह दिव्य स्वभाव (प्रकृति) प्राप्त कर सके। यह सभी प्रश्न महत्वपूर्ण है। इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा कि-'प्रकाशं च' इन्द्रियों और अन्त.करण की स्वच्छता, निर्मलता का नाम प्रकाश है। जिससे इन्द्रियों के द्वारा शब्दादि पाचों विषयो का स्पष्टतया ज्ञान होता है, मन से मनन होता है और बुद्धि से निर्णय होता है, उसका नाम 'प्रकाश' है।[1] सत्वगुण की दो वृत्तियां प्रकाश और ज्ञान। उनमें से यहां केवल प्रकाश वृत्ति लेने का तात्पर्य है कि सत्वगुण में प्रकाश वृत्ति ही मुख्य है, क्योंकि जब तक इन्द्रियां और अन्त·करण मे प्रकाश नहीं आता, स्वच्छता निर्मलता नहीं आती, तब तक ज्ञान (विवेक) जाग्रत नहीं होता। प्रकाश के आने पर ही ज्ञान जाग्रत होता है। अत यहा प्रकाश के अन्तर्गत ज्ञानवृत्ति को लेना चाहिए। 'प्रवृत्ति च' जब तक गुणों के साथ सबध रहता है, तब तक रजोगुण की लोभ, प्रवृत्ति रागपूर्वक कर्मों का आरंभ, अशान्ति,स्पृहा ये वृत्तिया पैदा होती रहती है। परन्तु जब मनुष्य गुणातीत हो जाता है,तब रजोगुण के साथ तादात्म्य रखने वाली वृत्तियां तो पैदा हो ही नहीं सकती, पर आसक्ति, कामना से रहित प्रवृत्ति (क्रियाशीलता) रहती है। यह प्रवृत्ति दोषी नहीं है। गुणातीत मनुष्यों के द्वारा भी क्रियाएं होती है। रजोगुण के दो रुप हैं राग और क्रिया इनमें से राग तो दुःखों का कारण है। यह राग गुणातीत में नहीं रहता । परन्तु जब तक गुणातीत मनुष्य का दिखने वाला शरीर रहता है, तब तक उसके द्वारा निष्काम भावपूर्वक स्वतः क्रियाएं होती रहती है। 'मोहमेव च पाण्डव' मोह दो प्रकार का है, नित्य-अनित्य, सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक न होना। व्यवहार में भूल होना। गुणातीत महापुरुषो में पहले प्रकार का मोह (सत्-असत्आदि का विवेक न होना) तो होता ही नहीं।[2] परन्तु व्यवहार में भूल होना अर्थात् किसी के कहने से किसी निर्दोष व्यक्ति को दोषी मान लेना और दोषी व्यक्ति को निर्दोष मान लेना आदि तथा रस्सी में सांप दीख जाना, मृगतृष्णा को जल दिखना, सीपि और अभ्रम में चांदी का भ्रम हो

1 प्रकाश च प्रवृत्ति च मोहमेव च पाण्डव। न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति।। श्रीमद्०, अध्याय-14, श्लोक 22

2 यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेव यास्यसि पाण्डव। येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथोमयि।। श्रीमद्०, अध्याय-4, श्लोक 35

जाना आदि मोह तो गुणातीत मनुष्यो मे भी होता है। 'न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति' सत्वगुण का कार्य 'प्रकाश', रजोगुण का कार्य 'प्रवृत्ति' और तमोगुण का कार्य 'मोह' इन तीनों के अच्छी तरह प्रवृत्त होने पर भी गुणातीत महापुरुप इनसे द्वेप नहीं करता और इनके निवृत्त होने पर भी इनकी इच्छा नहीं करता। तात्पर्य यह है कि ऐसी वृत्तियां क्यो उत्पन्न हो रही है, इनमे से कोई सी भी वृत्ति न रहे ऐसा द्वेप नहीं करता और ये वृत्तिया पुन आ जाये ये वृत्तिया बनी रहे ऐसा राग नहीं रहता। गुणातीत होने से वह इन वृत्तियों से स्वाभाविक निर्लिप्त रहता है। मनुष्य के लक्षणो को वताते हुए चौदहवें अध्याय के श्लोक 23 मे कहा,[1] यदि व्यक्ति परस्पर विवाद करते हो, तो उन दोनो मे से किसी एक का पक्ष लेने वाला 'पक्षपाती' कहलाता है, और दोनो का न्याय करने वाला 'मध्यस्थ' कहलाता है। परन्तु जो उन दोनो का न्याय करने वाला होता है वह 'उदासीन' कहलाता है। ऐसे ही संसार और परमात्मा दोनो को देखने से गुणातीत मनुष्य उदासीन की तरह दिखता है।

वास्तव में देखा जाये तो ससार की स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। सत्-स्वरुप परमात्मा की सत्ता से ही संसार सत्तावाला दिख रहा है। अतः जब गुणातीत मनुष्य की दृष्टि में ससार की सत्ता है ही नहीं, केवल एक परमात्मा की सत्ता ही है, तो वह उदासीन किससे हो? परन्तु जिनकी दृष्टि में ससार और परमात्मा की सत्ता है, ऐसे लोगों की दृष्टि में वह गुणातीत मनुष्य उदासीन की तरह दिखता है। उसके कहलाने वाले अन्तकरण मे सत्व, रज, तम इन गुणो की वृत्तिया तो आती है, पर वह इनसे विचलित नहीं होता। गुण ही गुणों में बरत रहे, अर्थात् गुणो मे ही सम्पूर्ण क्रियाए हो रही है। ऐसा समझकर वह अपने स्वरुप में निर्विकार रुप से स्थित रहता है। गुणातीत मनुष्य खुद कुछ भी चेष्टा नहीं करता। कारण कि अविनाशी शुद्ध रुप में कभी कोई क्रिया होती ही नहीं। इन 22, 23वें श्लोक में गुणातीत महापुरुष की तटस्थता, निर्लिप्तता का वर्णन किया।[2]नित्य, अनित्य, सार-आसार आदि के तत्व को जानकर स्वत सिद्ध स्वरुप में स्थित होने से गुणातीत मनुष्य धैर्यवान् कहलाता है। पूर्वकर्मों के अनुसार आने वाली अनुकूल प्रतिकूल परिस्थिति का नाम सुख-दुःख है। गुणातीत

---

1 उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते। गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते।। श्रीमद्०, अध्याय-14, श्लोक 23

2 समदु खसुख स्वस्थ समलोष्टाश्मकाञ्चन.। तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसस्तुति ।।
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयो । सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीत स उच्यते।। श्रीमद्०, अध्याय-14, श्लोक 24,25

मनुष्य इन दोनो मे सम रहता है। स्वरुप मे सुख-दु ख है ही नही। **स्वरुप से तो** सुख-दु:ख प्रकाशित होते है। अत गुणातीत मनुष्य आने-जाने वाले सुख-दु:ख का भोक्ता नहीं बनता, प्रत्युत अपने नित्य निरन्तर रहने वाले स्वरुप मे स्थिर रहता है। धीर मनुष्य का **मिट्टी के ढेले** पत्थर और स्वर्ण मे न तोआकर्षण (राग) होता है और न विकर्षण (द्वेष) होता है। परन्तु व्यवहार में वह ढेले को ढेले की जगह ही रखता है, पत्थर को पत्थर की जगह रखता है, स्वर्ण को स्वर्ण की जगह तिजोरी मे रखता है। कहने का तात्पर्य यह है कि उनकी प्राप्ति-अप्राप्ति में उसको हर्ष शोक नहीं होता, वह सम भाव रहता है। ढेले, पत्थर और स्वर्ण का ज्ञान न होना समता नहीं कहलाती। समता वही है कि इन तीनो का ज्ञान होते हुए भी इनमे राग द्वेष न हो। ज्ञान कभी भी दोषी नहीं होता, विकार ही दोषी होते हैं। कर्मों की सिद्धि-असिद्धि में अर्थात् फल प्राप्ति मेसम रहता है। निन्दा स्तुति मे नाम की मुख्यता होती है। गुणातीत मनुष्य का नाम के साथ कोई सबध नहीं रहता, अतः कोई निन्दा करें तो उसके मन में खिन्नता नहीं होती, और कोई स्तुति करें तो उसके चित्त मे प्रसन्नता नहीं होती। जो साधारण मनुष्य होते है उन्हे अपनी निन्दा बुरी लगती है, और स्तुति अच्छी लगती है। परन्तु जो गुणों से ऊपर उठ जाते ज्ञान प्राप्त कर लेते है वह समभाव से हर परिस्थिति मे रहते है।

मनुष्य के आचरणो को वर्णित करते हुए गीता में कहा गया **मान-अपमान** होने में शरीर की मुख्यता होती है। गुणातीत मनुष्य का शरीर के साथ तादात्म्य नहीं रहता अत कोई उसका आदर करें या निरादर करे मान करें या अपमान करे, इन सब क्रियाओं का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। **वह मनुष्य मित्र और शत्रु** के पक्ष मे भी सम रहता है। यद्यपि गुणातीत मनुष्य की दृष्टि में कोई मित्र और शत्रु नहीं होता, यद्यपि दूसरे लोग अपनी भावना के अनुसार उसे अपना मित्र अथवा शत्रु भी मान सकते हैं। साधारण मनुष्य को भी दूसरे लोग अपनी भावना के अनुसार मित्र या शत्रु मान सकते हैं, परन्तु इस बात का पता चलने पर उस मनुष्य पर इसका असर पड़ता है, जिससे उसमें राग-द्वेष उत्पन्न हो सकता है। परन्तु गुणातीत मनुष्य पर इस बात का कोई असर नहीं पड़ता। वस्तुत: मित्र और शत्रु की भावना के कारण ही व्यवहार मे पक्षपात होता है। गुणातीत मनुष्य के अन्त करण में मित्र-शत्रु की भावना ही नहीं होती, अतः उसके व्यवहार में पक्षपात नहीं होता। ऐसा

महापुरुष सम्पूर्ण कर्मों के आरंभ का त्यागी होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि धन सम्पत्ति के सग्रह और भोगों के लिए वह किसी तरह का कोई नया काम शुरू नहीं करता। अन्त मे 'उच्यते' पद से यही ध्वनि निकलती है कि उस महापुरुष की गुणातीत सज्ञा नहीं है, किन्तु उसके कहे जाने वाले शरीर, अन्त करण के लक्षणों को लेकर ही उसको गुणातीत कहा जाता है। वास्तव मे देखा जाये तो जो गुणातीत है, उसके लक्षण नहीं हो सकते। लक्षण तो गुणो से ही होते हैं, अत· जिसके लक्षण होते हैं, वह गुणातीत कैसे हो सकता है। परन्तु अर्जुन ने भी गुणातीत के लक्षण पूछे हैं, और भगवान् ने गुणातीत के लक्षण ही बताये हैं। इसका तात्पर्य यह है कि लोग पहले उस गुणातीत की जिस शरीर और अन्तःकरण में स्थिति मानते थे, उसी शरीर और अन्तःकरण के लक्षणों को लेकर वे उसमें आरोप करते है कि यह गुणातीत मनुष्य है। अतः ये लक्षण गुणातीत मनुष्य को पहचानने के संकेत मात्र है।

प्रकृति के कार्य गुण है और गुणों के कार्य शरीर इन्द्रिया मन बुद्धि है। अत मन बुद्धि आदि के द्वारा अपने कारण गुणो का भी पूरा वर्णन नहीं हो सकता, फिर गुणों के भी कारण प्रकृति का वर्णन हो ही कैसे सकता है? जो प्रकृति से भी सर्वथा अतीत (गुणातीत) है, उसका वर्णन करना तो उन मन बुद्धि के द्वारा संभव ही नहीं है। वास्तव में गुणातीत के ये लक्षण स्वरुप मे तो होते ही नहीं, किन्तु अन्तःकरण में मानी हुई अहंता ममता के नष्ट हो जाने पर उसके कहे जाने वाले अन्त·करण के माध्यम से ही ये लक्षण गुणातीत के लक्षण कहे जाते हैं।

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि ज्ञान मार्ग और ज्ञानियों की प्रशंसा भी गीता ने मुक्त कंठ से की है। ज्ञान से बढ़कर पवित्र करने वाला कुछ भी नहीं है। ज्ञानी पुरुष देखता हुआ, सुनता हुआ, छूता हुआ, खाता-पिता, सांस लेता, सोता हुआ हमेशा यही समझता है कि मैं कुछ नहीं करता, प्रकृति के तीनों गुण ही सब कुछ करते हैं। भक्तों में भगवान को ज्ञानी भक्त सर्वाधिक प्रिय है। सारी इच्छाओं को छोड़कर ममता और अहंकार रहित जो पुरुष घूमता है, वह शान्ति को प्राप्त हो जाता है। वह ब्राह्मी स्थिति है, इसे प्राप्त करके मनुष्य मोह स्पष्ट हो जाता है। लेकिन ऐसे निःस्पृह ज्ञानी को भी गीता के मत में कर्मत्याग करने का अधिकार नहीं है।

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा ऐसे मनुष्यों को इस संसार में कुछ करने का अधिकार नहीं है, कोई प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है, तो भी वे लोगो के सामने उदाहरण रखने के लिए लोकसग्रहार्थ कर्म करते हैं।

गीता के प्राचीन टीकाकारो मे शकराचार्य प्रमुख है। भारतीय साहित्य में मोक्ष प्राप्ति के तीन साधन बताये गये हैं। ज्ञान, कर्म, उपासना। यहा ज्ञान का सवंध मस्तिष्क से है, कर्म का सबंध इन्द्रियो से है, उपासना का सबध हृदय से है। इसे Knowing, Willing, Feeling कहते है। ज्ञान के मार्ग को ज्ञान-योग, कर्म के मार्ग को कर्मयोग तथा उपासना के मार्ग के मार्ग को कर्मयोग तथा उपासना के मार्ग को भक्ति योग कहते हैं। शकराचार्य अद्वैतवादी थे। उनका कहना था कि जगत् मिथ्या है, ब्रह्म ही सत् है, आत्मा भी मूलतः ब्रह्म है, यह जो नानात्व दिखायी देता है उसका कारण अज्ञान है। अगर यह बात ठीक है कि अज्ञान ही बस रोगो की जड है तो हमारे सब रोगो को काटने का उपाय भी 'ज्ञान' के सिवाय कुछ और नहीं है। यही कारण है कि शंकराचार्य के कथनानुसार गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विपय 'ज्ञानयोग' है। कर्म तो करना ही पड़ता है, परन्तु कर्म मुख्य नहीं ज्ञान मुख्य है। कर्म किया जाता है कर्म का त्याग करने के लिए, सन्यास के लिए, कर्मों से निवृत्ति के लिए। शंकराचार्य का कहना हैकि गीता के अध्याय 4, श्लोक 37 में लिखा है कि- 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन' हे अर्जुन! ज्ञान की अग्नि से सव कर्म भस्म हो जाते हैं। इसी प्रकार गीता के अध्याय 4, श्लोक 33 में लिखा है- 'सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' सब कर्मो का अन्त ज्ञान मे होता है; इससे सिद्ध है कि गीता का प्रतिपाद्य विषय 'कर्मयोग' नहीं, कर्मसन्यास है। उपासना के संबंध मे शंकराचार्य का कहना है कि भक्ति तो व्यक्ति के प्रति होती है, ब्रह्म कोई व्यक्ति विशेष नहीं, इसलिए उसकी उपासना नहीं हो सकती। शंकराचार्य के अनुसार गीता का प्रतिपाद्य विषय न कर्मयोग है, न भक्तियोग, गीता का प्रतिपाद्य विषय 'ज्ञान योग' है।

षष्ठम् अध्याय

मानव नियति के रूप में कर्ममार्ग

षष्ठम् अध्याय

मानव नियति के रुप में कर्ममार्ग

श्रीमद्भगवद्गीता मे कर्मों का विशेष महत्व बताया गया है। देवीय सेवा, अर्थात् कर्मों के द्वारा ही हम सर्वोच्च सत्ता तक पहुॅच सकते हैं। कर्मों के द्वारा ही अमूर्त भी मूर्तरुप धारण कर लेता है।[1] कर्म को 'अनादि' कहा गया है। जगत का कार्य ठीक किस प्रकार होता है यह समझना कठिन है।[2] सृष्टि के अन्त में समस्त जगत् एक सूक्ष्म कर्मरुपी बीज की अवस्था में विद्यमान रहता है और अगली सृष्टि में वह अंकुर के रुप में प्रस्फुटित होने के लिए उद्यत रहता है।[3] चूँकि संसार की प्रक्रिया भगवान के ऊपर निर्भर है, हम उसे कर्म का अधिपति भी कह सकते हैं।[4] हमें कोई कर्म करना ही है। किन्तु हमें यह देख लेना आवश्यक है कि हमारा आचरण धर्म का हित संपादन करने वाला हो, जिसका परिणाम आध्यात्मिक शान्ति और सन्तोष की प्राप्ति है। कर्ममार्ग आचरण का वह मार्ग है जिसके द्वारा सेवा के लिए उत्सुक व्यक्ति अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

गीता के समय में सदाचार के संबंध में अनेक प्रकार के मत प्रचलित थे, यथा कर्मकाण्ड तथा क्रियाकलाप संबंधी अनुष्ठान से संबंध रखने वाली वैदिक कल्पना, सत्य के अन्वेषण का उपनिषदों का सिद्धान्त, बौद्धधर्म का विचार अर्थात् समस्त कर्मों का त्याग और ईश्वर पूजा का अस्तिक विचार। गीता ने इन सबको एकत्र करके एक संगतिपूर्ण पद्धति में आबद्ध करने का प्रयत्न किया।

गीता का कहना है कि कर्म ही के द्वारा हमारा समस्त संसार के साथ संबंध स्थिर होता है। नैतिकता की समस्या केवल मानवीय जगत् से ही संबंध रखती है। जगत के समस्त पदार्थों में केवल मनुष्य की ही आत्मा ऐसी है जो अपनी जिम्मेदारी का विचार रखती है। मनुष्य की महत्वाकांक्षा आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति के लिए होती है। किन्तु वह इसे जगत के

---

1 श्रीमद्भगवद्गीता - 7/24-25
2. श्रीमद्भगवद्गीता - 4 17
3. श्रीमद्भगवद्गीता - 8 : 18-19
4. श्रीमद्भगवद्गीता - 7 : 22

भौतिक तत्वो से प्राप्त नहीं कर सकती। जिन सुखो की प्राप्ति के लिए वह प्रयत्न करते हैं वे विभिन्न प्रकार के हैं। भ्रान्त मन एवं मिथ्या प्रकार की इच्छाओं से जिन सुख की प्राप्ति होती है उनमें से अधिकतर तमाशा ही रहता है, और इन्द्रियों से जो सुख प्राप्त होता है उसमें रजोगुण अधिक रहता है, और आत्मज्ञान का जो सुख है उसमें सत्वगुण का भाव अधिकांश मे रहता है।[1] उसमें उन्नत कोटि का सन्तोष तभी हो सकता है कि जब मनुष्य अपने को एक स्वतन्त्रकर्ता समझना छोड़कर यह अनुभव करने लगता है कि ईश्वर अपनी अनन्तकृपा से जगत् का मार्गदर्शन करता है। मनुष्य की अन्तरात्मा को यह देखकर परम सन्तोष होता है कि जगत् मे भी आत्मा का निवास है।[2] सत्कर्म वह है जो मनुष्य को मोक्ष प्राप्त कराने और आत्मा को पूर्णता प्राप्त कराने में सहायक होता है।

जिससे हमारा ईश्वर, मनुष्य और प्रकृति के साथ यथार्थ ऐक्य अभिव्यक्त हो सके, वही शुद्ध आचरण है और अशुद्ध आचरण वह है जो यथार्थता के इस अनिवार्य संगठन के सम्पादन में असमर्थ हो। विश्व का एकत्व आधारभूत सिद्धान्त है। जिससे पूर्णता की ओर प्रगति हो सके, वही पुण्य है और जिसकी संगति इसके साथ न बैठे वह पाप है। बौद्ध धर्म और गीता के अन्दर यही तात्विक भेद है। बौद्ध धर्म ने नैतिकता को साधुजीवन के लिए प्रधानता दी, किन्तु उसने नैतिक जीवन और आध्यात्मिक पूर्णता पर बल नहीं दिया। गीता में हमें निश्चय दिलाया गया कि यद्यपि हम अपने प्रयत्न में असफल रह जायें, परन्तु प्रधान दैवीय प्रयोजन का कभी नाश नहीं होता है। इससे यह लक्षित होता है कि प्रकट्रुप में भले ही विरुद्धभाव प्रतीत होता हो, जगत की आत्मा न्यायकारी है। मनुष्य अपनी नियति को पूर्णता तक पहुँचा देता है, जब वह ईश्वर के बढते हुए प्रयोजन का साधन बन जाता है।

गीता वैयक्तिक दावों का खण्डन करती है। समाज में जो सर्वश्रेष्ठ मनुष्य है उनके ऊपर सबसे अधिक कर्तव्य का भार है। सान्त जीवों के उद्योग यह उपलक्षित करते हैं कि पाप पर विजय पाना है। पाप और अन्याय के विरुद्ध युद्ध करने से हम नहीं बच सकते। दुविधा में पड़े अर्जुन को कृष्ण ने युद्ध करने की प्रेरणा दी न तो यशप्राप्ति की आकांक्षा से और न राज्य की लालसा से, बल्कि धर्म के विधान को स्थिर करने के लिए। किन्तु जब हम

---

1 श्रीमद्भगवद्गीता - 2:72, 6 22, 15, 28, 12·12, 17.62; 18 : 36-38

2 प्लेटो- 'रिपब्लिक', 9

अन्याय के प्रति युद्ध करते है तो हमे न तो वासनावश और न अज्ञानवश ऐसा करना चाहिए जिससे शोक एव अशान्ति उत्पन्न होती है, अपितु ज्ञानपूर्वक और सबके प्रति प्रेम रखते हुए अन्याय के साथ युद्ध करना चाहिए।[1]

इन्द्रिय निग्रह धर्मात्मा पुरुष का विशेष लक्षण वन जाता है। वासना हमारे धार्मिक स्वरूप की स्वतन्त्रता का अपहरण कर लेती है। इसके कारण विवेक शक्ति चेतनाशून्य हो जाती है। तर्कशक्ति पर भी प्रतिबन्ध लग जाता है। मन की अनियन्त्रित प्रेरणाओं को उद्दाम रूप मे खुला छोड़ देने से शरीर के अन्दर निवास करने वाली आत्मा दास बन जाती है।[2] गीता हमें अनासक्ति के भाव को विकसित करने तथा कर्म फल के प्रति उपेक्षा का भाव रखने एवं योग की भावना अथवा निष्पक्षता को भी विकसित करने का आदेश करती है।[3] सच्चा त्याग इसी मे है। अज्ञान के कारण जो कर्म को छोड़ता है वह तमोगुण युक्त त्याग है। परिणामो के भय से जैसे शारीरिक कष्ट के भय से, कर्मों को छोडना भी त्याग है, किन्तु यह त्याग रजोगुण युक्त त्याग है, किन्तु अनासक्ति की भावना से और परिणामो के भय से सर्वथा रहित सबसे उत्तम रुप कर्म का है, क्योकि इसमे सात्विक गुण की अधिकता है।[4]

कर्म के विषय में गीता का क्या विचार है उसे समझना आवश्यक है। यह तपस्यापरक नीतिशास्त्र की समर्थक नहीं है। बौद्धधर्म के त्याग के सिद्धान्त की व्याख्या इसमें अधिकतर विध्यात्मक रुप में की गयी है। बिना किसी पुरुस्कार की आशा से जो कर्म किया जाता है वही त्याग (सच्चा त्याग) है। **कर्म के स्वरुप का विश्लेषण करते हुए गीता इसको दो विभागों में विभक्त करती है।** एक तो मानसिक पूर्ववृत्त अर्थात् पूर्व के कर्मों के संस्कार जो मन में पहले से रहते है, और दूसरा बाह्य कर्म। इसलिए गीता का आदेश है कि मानसिक पूर्ववृत्त को वश में करना जो स्वार्थपरता के भाव के दमन से ही संभव है।[5] कर्म का त्याग सदाचार का यथार्थ विधान नहीं, अपितु निष्कामता अर्थात् उदासीनता कर्मफल की

---

1 11 · 55
2 6 46; 8 27
3 6 46, 8 : 27
4. 17 7-9, 11-12
5 18 18

ओर से उदासीनता है।[1] काम, क्रोध और लोभ इन तीनों पर जो नरक के मार्ग है, विजय पाना ही चाहिए।[2] सभी प्रकार की कामनाएं बुरी नहीं है। धार्मिकता की कामना दैवीय है।[3] गीता यह नहीं कहती कि वासनाओं का मूलोच्छेदन कर दो, किन्तु उन्हे पवित्र करने का आदेश देती है। भौतिक प्राणधारक प्रकृति को स्वच्छ रखने की आवश्यकता है और इसी प्रकार मानसिक बौद्धिक प्रकृति को भी पवित्र करना आवश्यक है और इसके अनन्तर ही धार्मिक प्रकृति को सन्तोष प्राप्त हो सकता है। गीता को निश्चय है कि निष्क्रिय रहना स्वतन्त्रता नहीं, अर्थात् निष्क्रिय रहकर मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। "और न ही शरीरधारी जीव नितान्त रुप से कभी कर्म का त्याग कर सकते हैं।"[4]

आख अपने कार्य अर्थात् देखे बिना नहीं रह सकता। न कान को ही हम यह आदेश दे सकते है कि अपना काम बद करो हमारे शरीर जहां कहीं भी वे रहेंगे, हमारी इच्छा के विरूद्ध अनुभव करना नहीं छोड़ सकता।[5]

इस मर्त्यलोक में विश्राम नहीं है, यहां तो जीवनभर कर्म करते रहना चाहिए। कर्म ही संसार चक्र की गति को जारी रखता है, और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर से पूरा प्रयत्न इसकी गति को जारी रखने में करना चाहिए।[6] गीता की समस्त योजना यही संकेत करती है कि यह कर्म करने का ही उपदेश है। पहले तो हमें मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्म करना है और मोक्ष प्राप्त कर लेने पर दैवीय शक्ति के साधन के रुप में हमें कर्म करना है। मुक्तात्माओं के लिए किन्हीं विशेष नियमों का पालन करना आवश्यक नहीं है। वे यथेष्ट कार्य करते हैं किन्तु यह आवश्यक है कि वे कुछ न कुछ कर्म करते अवश्य रहें। गीता हमें ऐसे आदेश देती है कि हम इस प्रकार के कर्म करें कि कर्म हमें बन्धन में न जकड़ सके। स्वयं प्रभु भी मनुष्य जाति के लिए कर्म करते हैं। यद्यपि परमार्थ के दृष्टिकोण से वे स्वात्मनिर्भर तथा इच्छारहित है तो भी उन्हें संसार में कुछ न कुछ कार्य सम्पन्न करना ही होता है।[7]

---

1 5 11, 18 49
2. 2 62–63, 16 . 21
3. 7 . 11
4. 18 11
5. वड्र्सवर्थ ।
6. 3 : 10 , 16
7. वृहदारणयक उपनिषद्, 6 · 4, 22; वेदान्त सूत्रों पर शाकर भाष्य, 3 . 32

इसलिए अर्जुन को आदेश दिया गया कि युद्ध करो और अपने कर्तव्य का पालन करो। मुक्तात्माओं का भी यह कर्तव्य है कि वे दूसरो को अपने अन्तःस्थित दैवीय शक्ति की खोज करने में सहायता करें। मनुष्य जाति की सेवा ही ईश्वर की उपासना है।[1] निष्काम भाव से तथा विदेहवृत्ति से संसार एवं ईश्वर के निमित्त किया गया कर्म बन्धन का कारण नहीं होता। ''और इस प्रकार कर्म मुझे बधन मे नहीं जकड़ सकते, क्योंकि मै उक्त कर्मों के प्रति सर्वथा उदासीन भाव से ऊँचे स्थान पर अवस्थित हूँ।''[2]

गीता सन्यास और त्याग में भेद करती है : सब प्रकार के ऐसे कर्मों का त्याग जो फल की आकांक्षा को लेकर किये जाते हैं, सन्यास है तथा त्याग कर्मों के फल को छोड़ देने का नाम है।[3] इनमें से त्याग अधिक व्यापक है। गीता का आदेश है कि हमें साधारण जीवन के व्यवहार से घृणा नहीं करनी चाहिए, किन्तु सब स्वार्थमय इच्छाओं का दमन करना आवश्यक है। गीता का आदेश प्रवृत्ति अर्थात् कर्म करना और निवृत्ति अर्थात् उससे उपरामता दोनों का एकत्रीकरण है। कर्मों से केवल निवृत्त रहना सच्चा त्याग नहीं है। हाथ निश्चल रह सकते हैं, किन्तु इच्छाएं अपने कार्य में व्यस्त रहती है। यह कर्म नहीं है, जो हमें वन्धन में डालता है, किन्तु भाव ही है जिसको लेकर हम कर्म करते हैं जो वन्धन का कारण है। अज्ञानियों द्वारा किया गया कर्मों का त्याग वस्तुतः एक विध्यात्मक कर्म है, ज्ञानियों का कर्म वस्तुतः अकर्म है।[4] आत्मा का आंतरिक जीवन सांसारिक क्रियाशील जीवन के अनुरुप होता है। गीता दोनो का समन्वय उपनिषदों के भाव के अनुकूल करती है। जिस कर्म का संकेत गीता में किया गया है वह कौशलपूर्ण कर्म है। ''योग कर्मसु कौशलम्'', अर्थात् कर्मों में कुशलता का नाम ही योग है।[5]

यहां पर हम जो भी कर्म करें उसे किसी बाह्य विधान की अधीनता के अन्दर रहकर करना उचित नहीं, अपितु आत्मा के मोक्ष के लिए कृत आंतरिक संकल्प के आदेश के अनुसार करना चाहिए। यही उच्च श्रेणी का कर्म है। इस पर अरस्तु का कहना है कि 'जो

---

1 18 46
2 9 9, 4 13-14
3 18 2
4. अष्टावक्रगीता 18 : 61
5. 2 50, 48, 3 3, 4 : 42, 6 : 33, 46

अपने निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर काम करता है, वह सबसे उत्तम है एव उससे उतरकर वह है जो अन्यो के परामर्श के आधार पर कार्य करता है।[1] असस्कृत व्यक्तियों के लिए शास्त्र ही प्रमाण है। वेदो के आदेश केवल बाह्य है और जब हम उच्चतम श्रेणी मे पहुँच जाते है उस समय वह हमारे ऊपर लागू नहीं रहते। क्योंकि उस अवस्था में स्वभावत· हमें आत्मा के शब्द के अनुकूल ही कर्म करना होता है।

प्रत्येक कर्म पवित्र प्रेरणा के वश होकर ही करना चाहिए। हमें अपने मन में से स्वार्थपरता की सूक्ष्म छाया को भी निकाल देना चाहिए; कर्म के विशेष प्रकार को प्राथमिकता देने के भाव को एवं सहानुभूति अथवा प्रशंसा की आकांक्षा को त्याग देना चाहिए। यदि मन को पवित्र करके ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना है, तो सत्कर्म इसी भाव से करना चाहिए। स्वार्थी अहंकार की भावना लेकर जो अपने को इस लोक में देवता समझता है और इन्द्रियों के विषयभोग का शिकार रहता है, वह देवता नहीं दैत्य है जो अध्यात्मविद्या में भौतिकवाद को और नैतिकता मे विषयभोग को स्थान देता है।[2]

गीता के नीतिशास्त्र मे गुणों के सिद्धान्त का एक महत्वपूर्ण स्थान है।[3] गुणों का बन्धन ही परिमित शक्तिमत्ता का भाव उत्पन्न करना है। जिन बन्धनों का संबंध मन से है उनका संबंध भूल से आत्मा के साथ जोड़ा जाता है। यद्यपि सत्वगुण से आपूर्ण कर्म को सबसे उत्तम प्रकार का कर्म कहा गया है,[4] यह भी कहा गया है कि सत्वगुण भी बन्धन का कारण होता है, क्योंकि एक श्रेष्ठ अथवा उदार इच्छा भी शुद्धतर अहंकार के भाव को उपजाति है। पूर्ण मोक्ष के लिए अहंकार का सारा अस्तित्व मिट जाना उचित है। अहंकार कितना ही पवित्र क्यों न हो, एक बाधा उत्पन्न करने वाला आवरण है और उसका बन्धन ज्ञान और आनंद के साथ है। सब गुणों से ऊपर उठकर एक अमूर्त तथा विश्वव्यापी दृष्टिकोण को स्वीकार करना यही आदर्श अवस्था है।[5]

---

1. 24 एथिक्स, 1 4, 7
2. 16 8, 42
3. 14 · 5
4. 18 23
5. 14 · 19

गीता यज्ञो के संबंध में जो वैदिक कल्पना थी उसे परिवर्तित करके आध्यात्मिक ज्ञान के साथ उसका समन्वय प्रस्तुत करती है।[1] बाह्य उपहार आंतरिक भाव का प्रतीक मात्र है। यज्ञ आत्मनियन्त्रण और आत्मसमर्पण को विकसित करने के उद्‌देश्य से किए गए प्रयत्न है। सच्चा यज्ञ इन्द्रियो के सुख का होम कर देने में ही है। यह आहुति जिस देवता को समर्पित की जाती है, वह सर्वोपरि ब्रह्मतत्व है अथवा वही यज्ञपुरुष या यज्ञों का अधिष्ठाता है।[2] हमें यह अनुभव करने की आवश्यकता है कि सब पदार्थ दैवीय शक्ति के द्वारा नियुक्त उच्चतम लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए साधनरूप है और इसी दृष्टिकोण से सब कर्मों को ब्रह्मार्पण करके हमे कर्म करने में प्रवृत्त रहना चाहिए। हमारा खान-पान एवं अन्य सभी कार्य जो हम करें, ईश्वर के गौरव के लिए ही करे। एक योगी सदा ईश्वरार्पण करके कर्म करता है और इसलिए उसका आचरण ऐसा नमूना है जिसका अनुसरण अन्यो को भी करना चाहिए।[3]

मानवीय आचरण को नियमित करने के लिए गीता ने अनेक सामान्य नियमों का विधान किया है। कुछ वाक्यों में मध्यम मार्ग का उपदेश दिया है।[4] गीता मनुष्य समाज के वर्णपरक विभागों तथा जीवन की विभिन्न स्थितियों अर्थात् आश्रमों की व्यवस्था को स्वीकार करती है। मनोभाव एवं विचार की दृष्टि से निम्न श्रेणी के स्तर पर अवस्थित मनुष्य एकदम से ऊची अवस्था में नहीं पहुँच सकते। उन्हें यथार्थ मनुष्यता तक पहुँचाने की प्रक्रिया के लिए निश्चय ही एक दीर्घकालीन अवस्था और यहां तक कि कई पीढ़ियों के लिए जो चार अवस्थाओं अर्थात् चार आश्रमों का विधान किया गया है, और जो मौलिक रूप से चार प्रकार के व्यक्तियो के अनुकूल है, उसे गीता अगीकार करती है। वर्णों का आधार गुणों[5] को बताते हुए गीता प्रत्येक व्यक्ति को अपने वर्ण के कर्तव्यपालन का आदेश देती है।[6] स्वधर्म वह कर्म है जो अपनी आत्मा के विधान के अनुकूल हो। यदि हम धर्मशास्त्र विहित कर्तव्यों का पालन करते रहे तो वही सच्ची ईश्वर पूजा है।[7] ईश्वर के अभिप्राय के अनुसार प्रत्येक

---

1. 4 24 27
2. 4 . 33
3. 3 21
4. 6 . 16-17
5. 4 · 13
6. 2 31
7. 18 . 46-47

व्यक्ति का मनुष्य समाज के प्रति कुछ कर्तव्य कर्म है। सामाजिक व्यवस्था का संगठन दैवीय है ऐसा कहा जाता है। प्लेटो भी इसी के अनुरूप एक सिद्धान्त का समर्थन करता है। "विश्व के नियन्ता व शासक ईश्वर ने सब पदार्थों की व्यवस्था उत्कर्ष का विचार आगे रखते हुए की है और उनका आशय सम्पूर्ण की रक्षा करना है और प्रत्येक भाग जहॉ तक संभव है, अपने अनुकूल कार्य तथा मनोवेग रखता है, क्योकि प्रत्येक चिकित्सक और प्रत्येक कुशल कलाकार सब कुछ पूर्ण के प्रति ही करता है, अपने इस प्रयत्न को सर्वमान्य के कल्याण के लिए उसी दिशा मे मोडते हुए एक भाग को सम्पूर्ण सत्ता के लिए न कि पूर्ण को उसके भाग के लिए।"[1] यद्यपि प्रारम्भ मे तो वर्ण या जाति का विधान गुणों के ही आधार पर रखा गया था, किन्तु बहुत शीघ्र ही वह जन्म का विषय बन गया, क्योंकि यह जानना कठिन है कि कौन क्या गुण रखता है। इसलिए एकमात्र कसौटी जन्म ही रह जाती है। जन्म और गुणो की गडबड़ी के कारण ही वर्ण का जो धार्मिक आधार था उसका मूलोच्छेद हो गया। यह आवश्यक नहीं है कि एक जाति विशेष में जन्म लेने वाले सब व्यक्तियो का आचरण वही हो जिसकी उनसे आशा की जाती है। चूंकि जीवन के तथ्य तार्किक आदर्श के सदा अनुकूल नहीं होते, इसलिए सम्पूर्ण वर्णव्यवस्था की संस्था भंग होती जा रही है। यद्यपि आधुनिक वर्तमान समय के ज्ञान के आधार पर इस व्यवस्था को दूषित ठहराना आसान है, फिर भी हमे न्याय की दृष्टि से यह मानना पड़ेगा कि इसने मनुष्य समाज का निर्माण परस्पर सद्भावना तथा सहयोग के आधार पर करने का प्रयास किया तथा परस्पर प्रतिस्पर्धा के जो दुष्परिणाम हो सकते हैं उन्हे दूर करने का प्रयत्न किया। इसने यह माना कि श्रेष्टता धन सम्पत्ति की नहीं है अपितु ज्ञान की है, और महत्वविषयक जो इसका निर्णय है वह सही है।

जीवन के चारो अवस्थाओं या आश्रमों में अंतिम सन्यास की अवस्था है। इसमें आकर मनुष्य को यह आदेश दिया गया है कि वह अपने को ससार के व्यवहार से पृथक कर लें।[2] कभी-कभी यह कहा गया है कि इस आश्रम में तब प्रवेश करना चाहिए जबकि शरीर क्षीण होने लगे और मनुष्य अपने को कार्य करने के अयोग्य अनुभव करने लगे।[3] चूँकि स्वार्थमयी कामनाओं का त्याग ही सच्चा सन्यास है, इसलिए यह गृहस्थ आश्रम में रहते

---

1. लॉज (जावेट सस्करण), 10 · 903बी
2 मनु0 6 33-37; महाभारत शान्ति पर्व, 241, 15, 244, 3
3 मनु0 6 2; महाभारत, उद्योगपर्व, 36-39

हुए भी सम्भव है।[1] यह कहना उचित न होगा कि गीता के मत मे हम तब तक मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते जब तक कि अतिम आश्रम सन्यास को ग्रहण न कर लें।

गीता मे प्रतिपादित भाव से जो कर्म किया जाता है उसकी पूर्ति ज्ञान मे होती है।[2] अहंकार के भाव को दूर करके पैत्रीय भाव को जगाना चाहिए। यदि हम ऐसा कर सके तो हमे सिद्धान्त का अभिप्राय समझ में आ जाएगा और उस अवस्था मे हृदयानुभूत भक्ति भी दैवीय शक्ति के प्रति उत्पन्न हो जायेगी। इस प्रकार कर्ममार्ग हमे एक ऐसी दशा को प्राप्त कराता है, जहा भावना, ज्ञान और इच्छा सब विद्यमान रहते हैं।

सेवा का मार्ग ही मोक्ष प्राप्ति का भी मार्ग है, भेद केवल इतना ही है कि पूर्ण मीमासा की परिभाषा के अनुसार यह कर्म नहीं है। वैदिक यज्ञ हमे मोक्ष की ओर नहीं ले जाते। उनका उपयोग केवल इतना है कि वे साधन मात्र है। वे उच्च श्रेणी के ज्ञान की प्राप्ति के लिए भी मन को तैयार करते है। किन्तु ईश्वरार्पण के रूप में किया गया कर्म भी जो अनासक्ति और वैयक्तिक स्वार्थ से रहित भाव से किया गया है। उतना ही प्रभावकारी है जितना कि अन्य कोई उपाय हो सकता है और उसे ज्ञानरूपी उपाय की अपेक्षा निम्न स्तर का नहीं समझना चाहिए, जैसा कि शकराचार्य समझते है, और न भक्ति से नीचा समझना चाहिए जैसा कि रामानुज का विश्वास है। अपने मतों की उत्कृष्टता बताने के लिए ही उक्त दोनों विद्वानों ने कहा कृष्ण ने कर्म के मार्ग को सर्वश्रेष्ठ केवल इसलिए कहा, क्योंकि अर्जुन को फुसलाकर किसी न किसी विधि से कर्म करने के लिए प्रोत्साहित करना था।[3] हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि कृष्ण ने अपनी आत्मा में एक असत्यभाषण को स्थान देकर अर्जुन को कर्म करने की प्रेरणा की, और न ही वे ऐसे अज्ञानी थे जिसे अपने मन एवं हृदय की पवित्रता के लिए काम करना था। हमारे लिए यह भी संभव नहीं है कि हम जनक, कृष्ण एवं इसी कोटि के अन्यान्य महापुरूषों के विषय में ऐसा विचार रखें कि वे कर्म करने में इसलिए तत्पर थे कि उनका ज्ञान अपूर्ण था। न ही हमें ऐसा ही सोचने की आवश्यकता

---

1 भगवद्गीता, 5 3

2 अध्याय -4

3. भवगद्गीता पर शाकर भाष्य, 5 2, 6 :1-2; 18 · 11, रामानुज का गीता पर, 5 ·1; 3 · 1

है कि ज्ञान प्राप्त कर लेने के अनन्तर कर्म करने की कोई सम्भावना नहीं रहती। जनक का कहना है कि सच्चा उपदेश उसे जो मिला सो कर्म करने का उपदेश था और यह ज्ञान के द्वारा स्वार्थमयी कामनाओं का नाश करके ही हो सकता है। शकर ने भी इस विषय की छूट दी है कि ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर शरीर को धारण करने के लिए कर्म आवश्यक है।[1] यदि कुछ कर्मों की छूट दी गयी है तब प्रश्न केवल मात्रा का रह जाता है कि मुक्तात्मा कितना कर्म करता है। यदि कोई व्यक्ति फिर से कर्म के आधीन होने से भय खाता है तो इसका अर्थ यह है कि उसका अपनी इन्द्रियों के ऊपर पूर्ण रूप में शासन नहीं है।[2] जिस प्रकार ब्रह्म संसार से भिन्न है, यदि इसी प्रकार आत्मा को भी शरीर से पृथक माना जाये तो भी शरीर को कर्म करने से रोकने वाला कोई नहीं।[3]

गीता के मत मे मनुष्य भिन्न-भिन्न मनोवृत्ति वाले है जिनमे से कुछ का झुकाव संसार के त्याग के प्रति होता है और अन्य का सेवाभाव के प्रति होता है, उनको अपनी आत्मा के विचार के अनुसार कर्म करना पड़ता है।[4]

इससे पूर्व हमें मनुष्य के मोक्ष के विषय मे जानना चाहिए। मनुष्य की इच्छा का निर्णय पूर्वस्वभाव, पैत्रिक संस्कारों, प्रशिक्षण, तथा परिस्थिति इन सबके आधार पर होता है। समस्त संसार व्यक्ति के स्वरुप में केन्द्रित प्रतीत होता है। सिवाय अप्रत्यक्ष रूप के, स्वभाव के अनुरूप किया गया निर्णय ईश्वर का निर्देश नहीं कहा जा सकता। "सभी प्राणी अपनी प्रकृति का अनुसरण करते है और उसमें निग्रह क्या कर सकेगा?"[5] मनुष्य का अपना प्रयत्न व्यर्थ प्रतीत होता है, क्योंकि समस्त जगत् का केन्द्र ईश्वर सब प्राणियों को जो माने यन्त्र पर आरूढ़ हो, अपनी मायारूपी शक्ति से चक्कर दे रहा है।[6] यदि प्रकृति द्वारा नियन्त्रित इच्छा ही सब कुछ हो तब फिर मनुष्य को कर्म करने में स्वातन्त्र्य कहां रहा? बौद्ध लोग कहते हैं

---

1. 3 8
2. 18 7, 3 6
3. 4 21, 5 21
4. महाभारत, शान्तिपर्व, 339- 340
5. 18 · 59-60 और भी देखिए, 3 . 33, 36
6. 18 61

कि आत्मा कुछ नहीं है, कर्म ही कार्य करता है। गीता का मत है कि यान्त्रिक विधि से निर्णीत इच्छा से ऊपर और श्रेष्ठ एक आत्मा है। जीवात्मा की परम अवस्था के विपय मे सत्य चाहे कुछ भी क्यो न हो, भौतिक प्रकृति के बन्धन से मुक्त होने पर सदाचार के स्तर पर इसकी एक स्वतन्त्र पृथक सत्ता अवश्य है। मनुष्य के मोक्ष के विषय में गीता की निश्चय ही जीवन के सम्पूर्ण दार्शनिक ज्ञान की व्याख्या करने के अनंतर कृष्ण अंत में अर्जुन से यही कहते हैं 'जैसा कि तुम चाहो वैसा कर्म करो।''[1] मनुष्य की आत्मा के ऊपर कोई भी सर्वशक्तिमान प्रकृति नहीं है। हम प्रकृति के आदेशों का अनुसरण करने के लिए वाध्य नहीं है। वस्तुतः हमें अपनी रुचि तथा अरुचि के प्रति सावधान रहने को कहा गया है, क्योंकि 'यही जीवात्मा के मार्ग में बाधक बनती है।' प्रकृति की रचना में जो कुछ अनिवार्य है और जिसका हम दमन नहीं कर सकते, एवं मन की उन भ्रांतियों तथा दुविधाओं में जिनसे हम अपने को मुक्त कर सकते हैं, भेद किया गया है। वे प्राणी जिनकी आत्मा संघर्ष करने के पश्चात् उन्नत अवस्था को प्राप्त नहीं हुई भौतिक प्रकृति के प्रवाह में बह जाते हैं। मनुष्य, जिनमें बुद्धि का प्राधान्य है, प्रकृति की गति का सामना कर सकता है। उसके सब कर्म बुद्धिसम्पन्न इच्छा के अनुसार होते हैं। मनुष्य जब तक वासना के वश में न हो तब तक साधारण स्थिति में वह पशुओं का सा विवेक शून्य जीवन नहीं बिताता। ''वह कौन सी शक्ति है जो मनुष्य को बलात् पाप की ओर ले जाती है, और प्रायः प्रकट रूप में उसकी इच्छा के विरूद्ध मानों किसी गुप्त शक्ति के द्वारा बाधित हो?'' उत्तर में कहा गया है कि ''यह कामवासना है जो उसे उकसाती है। यही इस लोक में मनुष्य की शत्रु है।''[2] यह मनुष्य के सामर्थ्य की बात है कि वह अपनी वासना को वश में करके अपने आचरण को बुद्धि के द्वारा नियमबद्ध कर सके।

शंकर लिखते हैं कि- 'सभी इन्द्रियों के विषयों के संबंध में, यथा शब्द आदि के विषय में प्रत्येक इन्द्रिय में एक अनुकूल विषय के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है और प्रतिकूल विषय के प्रति अरुचि उत्पन्न होती है।

---

1. ''यथेच्छसि तथा कुरु'' 18 : 63
2. 3 37; 6 : 5-6

कर्म केवल एक अवस्था मात्र है, नियति नहीं। गीता का कर्म के सबध मे जो विश्लेषण दिया गया है उससे यही परिणाम निकलता है कि जहां पर भाग्य को पॉच अवयवों मे से अन्यतम बताया गया है। कर्म की सिद्धि के लिए पॉच अवयवों का होना आवश्यक है। वे है; अधिष्ठान अथवा आधार, या कोई ऐसा केन्द्र जहॉ से कर्म किया जा सके, कर्ता अर्थात् कर्म का करने वाला, कारण, अर्थात् प्रकृति का साधन, चेष्टा, अर्थात् प्रयत्न या पुरुषार्थ, और दैव अथवा भाग्य। यह अतिम घटक मनुष्य की शक्ति के अतिरिक्त एक शक्ति या शक्तिया है। यह एक सार्वभौम तत्व है जो कर्म के परिवर्तन की पृष्ठभूमि में सदा विद्यमान रहता है और इसी कारण कर्मफल का निर्णय कर्म के रुप मे अथवा पुरस्कार रूप मे होता है।[1]

श्रीमद्भगवद्गीता में कर्म सिद्धान्त का स्वरूप

स्मृति काल

संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों के समय में कर्म शब्द बहुत कुछ यागादि कर्म के लिए प्रचलित था, किन्तु उपनिषद् काल में ही कर्म के अर्थ विस्तार प्रारभ होने लगे और इन अनेक कर्मों में से कुछ कर्म का फल शुभ (अनुकूल) और कुछ का प्रतिकूल फल मिलने लगा, ऐसा बताया गया है। छन्दोग्योपनिषद् में कर्मानुसार मृत्यु के उपरान्त संगति या अधोगति तथा भावी जीवन के अनेक भोगों का एक विस्तृत एव प्रभावोत्पादक वर्णन मिलता है। वृहदारण्यकोपनिषद् मे भी कर्मो का शुभ फलदायक तथा अशुभ फलदायक उल्लेख किया गया है। किन्तु यह शुभाशुभ फल मृत्यु के उपरान्त मिलने वाले ही फल है। न तो अभी तक हम कर्मों का एवं जीवन मे मिलने वाला वेदनावेत्ता का विवेचन हुआ था और न कर्मो का प्रारब्ध कर्म, संचित कर्म या क्रियमाण कर्म जैसा ही कोई विभाजन ही हो पाया। इस प्रकार के भले ही उपनिषदकाल में कर्म शब्द एक व्यापक अर्थ को ग्रहण करता हुआ दिखाई पड़ता है और कर्मफल सिद्धान्त में से अदृष्टजन्म वेदनीयता वाले अश का सविस्तार वर्णन उपलब्ध होने लगता है, किन्तु कर्मफल सिद्धान्त का व्यापक निरुपण, कर्मो का वर्गीकरण उसका फल इत्यादि का चिन्तन नहीं हो सका। इसका सुनियोजित तथा क्रमिक प्रतिपादन महाभारत तथा

1. डा0 राधाकृष्णनन्, "भारतीय दर्शन" राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली-6, पृष्ठ स0- 522-530

रामायण में किया गया है। महाभारत में भी गोवतिवर्धन न्याय से पहले गीता और फिर महाभारत के अन्य अंशो का अनुशीलन करना ठीक होगा।

कर्म क्या है?

मनुष्य अभी तक कर्म और अकर्म के विषय मे निश्चय नहीं कर पाया है, अर्थात् कौन से कर्म अनुष्ठेय है और कौन से कर्म त्याज्य है। साधारण मनुष्य तो क्या, ज्ञानीजन भी नहीं जानते हैं कि कर्म क्या है? और अकर्म क्या है? इस विषय में शास्त्र ही प्रमाण है। शास्त्रों में देवताओं ने परम अक्षर (अक्षर उसे कहते हैं जिसका कभी किसी तरह नाश न हो) को 'ब्रह्म' कहते हैं। स्वभाव और जीव को 'अध्यात्म' कहते हैं। जीवों की उत्पत्ति और वृद्धि करने वाले त्याग रूप यज्ञ को 'कर्म' कहते हैं। ब्रह्म का कभी नाश नहीं होता, वह न कभी पैदा होता, न कभी मरता है, उसका कोई आकार भी नहीं होता। यद्यपि गीता मे 'ब्रह्म' शब्द प्रणव, वेद, प्रकृति आदि का वाचक है। तथापि यहा 'ब्रह्म' शब्द के साथ 'परम्' और 'अक्षर' विशेषण देने से यह शब्द सर्वोपरि, अविनाशी, निर्गुण निराकार परमात्मा का वाचक है। यह अविनाशी ब्रह्म, जिसका अभी वर्णन किया है प्रत्येक आत्मा के स्वरुप में शरीर में आश्रय लेने के कारण अध्यात्म कहलाता है, जो शरीर में वास करता है, उसे ही अध्यात्म कहते हैं। इसलिए जीव को भी अध्यात्म कहते हैं। यज्ञ हवन के समय अग्नि में जो आहुति दी जाती है, वह सूक्ष्म रूप से सूर्य मण्डल में पहुँचती है। उनसे जल की वर्षा होती है। वर्षा से अनेक प्रकार के अन्न उत्पन्न होते हैं। इसी अन्न से प्राणियों की उत्पत्ति और वृद्धि होती है। **सारे प्राणियों की उत्पत्ति और वृद्धि करने वाले उस त्यागरुपी यज्ञ को ही 'कर्म' कहते हैं।**[1]

श्रीमद् भगवद्गीता में चतुर्थ अध्याय में दो विषयों पर विशेष बल दिया गया है- अवतारवाद, कर्म-विकर्म तथा अकर्म। कर्म क्या है, अकर्म क्या है। इस विषय पर तो बड़े-बड़े विद्वानों को भ्रम है। मैं तुम्हें (स्वय कृष्ण) बतलाऊँगा कि कर्म क्या है? इसे जान लेने पर संसार में मानव अशुभ से मुक्त हो जायेगा। कर्म की गति गहन में है।

---

1. अक्षरं ब्रह्म परम स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते। भूतभावोद्भवकरोविसर्गः कर्मसंज्ञितः।। श्रीमद्0, अध्याय-8, श्लोक 3

श्रीकृष्ण ने कहा कि मनुष्य को कर्म, अकर्म, विकर्म इन तीनो मे भेद समझ लेना चाहिए और यह भी अच्छी तरह जान लेना चाहिए जिसे हम 'कर्म' कह रहे है, उसमे अकर्म तो नहीं छिपा या जिसे अकर्म कह रहे हैं उनमें कर्म तो नहीं छिपा। हमारा जीवन दो भागों मे बटा हुआ है- क्रिया तथा अक्रिया। क्रिया का अर्थ है कर्म अक्रिया का अर्थ अकर्म। कर्म या क्रिया को श्रीकृष्ण ने दो भागो में बाटा कर्म तथा विकर्म। कर्म जीवन की वह क्रिया है जो हमे करनी चाहिए जिसे श्रीकृष्ण ने 'स्व-धर्म' कहा 'निष्काम कर्म' भी कहा। विकर्म जीवन की वह क्रिया है जो हमे नहीं करनी चाहिए शास्त्रकारो ने कर्म के तीन प्रकार बताये- (1) नित्य कर्म (2) नैमित्तिक कर्म (3) काम्य कर्म। नित्य कर्म वह है जो सब देशकाल मे हमें करना चाहिए, जिसमें अपवाद हो ही नहीं सकता। उदाहरण माता-पिता की सेवा शरीर रक्षा आदि। नैमित्तिक कर्म वे है जो समय-समय पर आवश्यकता पड़ने पर हमे करना चाहिए। उदाहरण- स्नान करना, अतिथि का सत्कार। काम्य कर्म वह है जो हम किसी कामना के पूरा करने के लिए करते है। उदाहरण नौकरी पाने के लिए प्रार्थना करना। कर्म-विकर्म और अकर्म के विषय पर प्राचीन भाष्यकारो ने अपने-अपने विचार प्रकट किये। गीता के सब प्राचीन भाष्यकारो ने 'विकर्म' का अर्थ 'विकृत कर्म' किया है, परन्तु आचार्य विनोबा ने 'विकर्म' का अर्थ विशेष कर्म किया है। अन्य टीकाकारों ने 'विकर्म' को निषिद्ध माना है, परन्तु विनोबा भावे ने विकर्म को ही कर्म की आत्मा माना है। यहा अगर विकर्म का अर्थ विशेष कर्म माना जाये तो वह निषिद्ध हो ही नहीं सकता, क्योकि वह विशेष कर्म है।

गीता में कहा गया है 'कर्म-अकर्म-विकर्म' करते समय यह भ्रम उत्पन्न हो जाता है, हम समझते हैं कि हम 'कर्म' कर रहे है, परन्तु वास्तव में हम विकर्म कर रहे हो या अकर्म कर रहे हो, यह भी हो सता है कि हम समझते है कि हम अकर्म कर रहे हैं, परन्तु वास्तव में हम कर्म कर रहे हैं या विकर्म कर रहे हैं।

'कर्म' में विकर्म या अकर्म

एक व्यक्ति ईश्वर, भक्ति का नित्य कर्म करता हुआ सन्ध्या में बैठा है। उसके सामने कोई गो-बध करने लगा। उस समय अगर वह शान्त रहता है तो उसका कर्म विकर्म हो जाता है। इसी प्रकार अगर कोई नौकरी पाने के लिए किसी अफसर के पास प्रार्थना पत्र

लेकर जाता है, और अफसर के पूंछने पर कोई उत्तर नहीं देता, तो उसका कर्म अकर्म हो जाता है।

'अकर्म' में कर्म या विकर्म

कर्म सन्यास का उपदेश देने वाले वेदान्तियो का कहना है कि कर्म तो बन्धन का ही कारण है, इसलिए कर्म का त्याग करने से ही मोक्ष मिल सकता है। ये लोग अकर्म का उपदेश देते हैं। परन्तु श्रीकृष्ण का कहना है कि कर्म न करने से वह अकर्म नहीं हो जाता। कर्म छोड़ना स्वयं एक कर्म है। जो लोग शारीरिक कर्म छोड़कर बैठ जाते हैं उनका मन संकल्प-विकल्पों में डूबा रहता है। यह तो अकर्म में कर्म हुआ। इसके साथ अकर्म में विकर्म भी जुड़ा रह सकता है। उदाहरण जव हम आलस्यवश कुछ काम नहीं करते, यों ही पड़े रहते है, तब यू ही पड़े रहने दूषित कर्म है या विकर्म है।

''अष्टावक गीता'' (18, 61) में इसी बात का वर्णन करते हुए कहा गया- ''निवृत्तिरपि मूढ़स्य प्रवृत्तिरुपजायते। प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी।'' अर्थात् मूर्खो की निवृत्ति एक प्रकार की प्रवृत्ति है, और धीर व्यक्ति की प्रवृत्ति का भी फल निवृत्ति जैसा होता है। इसी कारण श्रीकृष्ण ने गीता में कहा मनुष्य को कर्म, अकर्म विकर्म इन बातों पर न ध्यान देकर मनुष्य को केवल कर्म करना चाहिए अकर्म तथा विकर्म से बचना चाहिए। इसके लिए निष्काम कर्म करना चाहिए। कर्म का रहस्य बड़ा ही गूढ़ है। जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म को देखता है वही कर्म के रहस्य को जानता है।

विनोबा भावे का कहना है कि गीता में 'कर्म' का अर्थ खाना-पीना आदि नहीं है। गीता मे कर्म का अर्थ स्वधर्म है। यहां पर प्रश्न उठता है कि स्वधर्म का कैसा आचरण होना चाहिए। स्वधर्म अर्थात् कर्म का आचरण करने के लिए निष्कामता आवश्यक है। स्वधर्म का पालन करे, परन्तु निष्काम भाव से। निष्काम भाव का अर्थ होता है कामना छोड़ देना। कामना छोड़ने का अर्थ हैं-काम और क्रोध को छोड़ना। कामना काम से, इच्छा से उत्पन्न होती है। इच्छा पूरी न होने पर क्रोध होता है। इन दोनों को छोड़ना ही निष्कामता है।

गीता कहती है कि निष्कामता तब तक नहीं आती जब तक कर्म के साथ विकर्म का साथ नहीं होता? कर्म के दो रूप होते हैं- बाह्य तथा आन्तरिक। उदाहरणार्थ, हम गुरु के

सामने सिर झुकाते है। यह कर्म का बाहरी रूप है, परन्तु सिर झुकने के साथ यदि भीतर मन न झुकता तो यह बाह्य क्रिया व्यर्थ है। बाहरी सिर के साथ विकर्म भी जुडा हुआ है। अगर गुरु के सम्मुख केवल सिर झुका और मन ने भीतर से विद्रोह किया तब समझना चाहिए कि कर्म तो हुआ, परन्तु विकर्म ने उसका साथ नहीं दिया इसी प्रकार हम भगवान् की प्राप्ति के लिए बाह्य उपवास तो करे, परन्तु अन्दर मन से भगवान् का चिन्तन न करे, तो उपवास व्यर्थ हैं। तन्त्र के साथ मत्र आवश्यक है। कर्म के साथ अकर्म मिल जाता है, बाह्य के साथ जब अन्तर का मेल होता है, जब तेल और बत्ती के साथ ज्योति का मेल होता है तब प्रकाश उत्पन्न होता है। विनोबा कहते हैं कि 'कर्म' के साथ जब 'विकर्म' का मेल होता है, तब निष्कामता आती है। बारुद में बत्ती लगा देने से विस्फोट होता है। बारुद मे एक शक्ति उत्पन्न होती है। कर्म को बन्दूक की बारुद समझना चाहिए। उसमे बत्ती विकर्म की होती है। जब तक विकर्म आकर नहीं मिलता तब तक वह कर्म जड है, उसमे चैतन्य नहीं। कर्म मे विकर्म के मिलते ही अहकार, काम, क्रोध के प्राण उड जाते हैं। कर्म में विकर्म डाल देने से कर्म दिव्य दिखलायी देने लगता है।

विनोबा कहते हैं कर्म के साथ विकर्म मिल जाता है तो शक्ति विस्फोट होता है, उसमें से अकर्म का निर्माण होता है। लकडी जलने पर राख हो जाती है। पहले लकड़ी का बड़ा टुकड़ा, अन्त में थोडी सी राख शेष बचती है। इस प्रकार कर्म में विकर्म की ज्योति जला देने से अन्त में अकर्म हो जाती है। इसका क्या अर्थ है इसका अर्थ है कि ऐसा मालूम होता है कि कोई कर्म किया है। उस कर्म का बोझ नहीं मालूम हुआ । गीता कहती है कि मार के भी तुम मरते नहीं हो। उदाहरण मा अपने बच्चे को मारती है, अगर तुम मारो तो वह बालक तुम्हारी मार सह नहीं सकेगा। मां के मारने के बाद भी बालक उसी के आंचल में मुंह छिपाता है। क्योकि मा के कर्म में विकर्म छिपा है; मां का मारना न मारना हो जाता है। कर्म अकर्म हो जाता है। उसका मारना निष्काम भाव से है।

सत्यव्रत सिद्धालंकार, द्वारा रचित श्रीमद् भगवद्गीता (शंकर, मध्व, तिलक, अरविन्द, विनोबा, सातवलेकर आदि के मन्तव्य सहित ग्रन्थ से लिया गया है।

श्रीमद् भगवद्गीता मे[1] अध्याय 4 के श्लोक 16 मे कर्मों के तत्वो के विषय को बताते हुए श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा कि साधारण मनुष्य शरीर और इन्द्रियो की क्रियाओ को ही कर्म मान लेता है और शरीर इन्द्रियों की क्रियाएं बद होने को अकर्म मान लेता है। परन्तु भगवान ने शरीर, वाणी, मन के द्वारा होने वाली मात्र क्रियाओं को कर्म माना है।[2] भाव के अनुसार ही कर्म की संज्ञा होती है। भाव बदलने पर कर्म की सज्ञा भी बदल जाती है, जैसे कर्म स्वरूप से सात्विक हो, किन्तु कर्ता का भाव राजस या तामस हो तो वह कर्म भी राजस या तामस हो जाता है। जैसे यदि कोई दैवी की उपासना रूप कर्म कर रहा है, जो स्वरुप से सात्विक है। परन्तु यदि कर्ता उसे कामना की सिद्धि के लिए करता है, तो वह राजस हो जाता है और किसी के नाश करने के लिए करता है, तो वही कर्म तामस हो जाता है। इसी प्रकार कर्ता मे फलेच्छा, ममता, और असक्ति नहीं है, तो उसके द्वारा किये गये कर्म 'अकर्म' हो जाते है अर्थात् फल मे बांधने वाले नहीं होते हैं। तात्पर्य यह है कि केवल बाहरी क्रिया करने अथवा न करने से कर्म के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। इस विषय मे शास्त्रों को जानने वाले बड़े-बड़े विद्वान भी मोहित हो जाते हैं।

कर्म के दो भेद होते हैं- कर्म और अकर्म। कर्म से जीव बंधता है और अकर्म से मुक्त हो जाता है। कर्मों का त्याग करना अकर्म नहीं है। श्रीकृष्ण ने मोहपूर्वक किये गये कर्मों के त्याग को 'तामस' बताया है, शारीरिक कष्ट के भय से किये गये कर्मों के त्याग को 'राजस' बताया है। तामस और राजस त्याग मे कर्मो का स्वरुप से त्याग होने पर भी कर्मों से सम्बन्ध विच्छेद नहीं होता है। सात्विक त्याग में स्वरुप से कर्म करना भी वास्तव में अकर्म है, क्योंकि सात्विक त्याग में कर्मो से सबध विच्छेद हो जाता है। अत· कर्म करते हुए भी उससे निर्लिप्त रहना वास्तव में अकर्म है। साधारण मनुष्यों को भी कर्म-अकर्म का पूर्ण ज्ञान नहीं है। कभी-कभी तो शास्त्रों के ज्ञाता बड़े-बड़े विद्वान भी इस विषय में भूलकर जाते है। कर्म-अकर्म का तत्व जानने में उनकी बुद्धि भ्रमित हो जाती है।

---

1 कि कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता । तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-4, श्लोक 6

2 'शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नर·।' गीता 18/15

इसके विषय में कर्मयोग से सिद्ध महापुरुष या भगवान ही जाते हैं। जीव कर्मों से बधा है तो कर्मों से ही मुक्त होगा। यहां पर भगवान प्रतिज्ञा करते हुए मैं वह कर्तव्य विद्या बताऊँगा, जिसे करके तुम जन्म-मरण रूप बंधन से मुक्त हो जायेगा।

कर्म करने के दो मार्ग हैं- प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग। प्रवृत्ति मार्ग को 'कर्म करना' कहते हैं और निवृत्ति मार्ग को 'कर्म न करना' कहते हैं। ये दोनों मार्ग बॉधने वाले नहीं है। बॉधने वाला तो कामना, ममता-आसक्ति है, चाहे यह प्रवृत्ति मार्ग में हो या निवृत्तिमार्ग में । यदि कामना, ममता और आसक्ति न हो तो मनुष्य प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्ति मार्ग दोनों में स्वतः मुक्त है।

कर्मों के तत्वों का वर्णन करते हुए श्रीमद् भगवद्गीता के अध्याय 4 के 17वें[1] श्लोक में कर्म करते हुए निर्लिप्त रहना ही कर्म के तत्व को जानना है। कर्म स्वरूप से एक दिखते है पर ये तीन है-कर्म, अकर्म और विकर्म। **सकामभाव से की गयी शास्त्रविहित क्रिया 'कर्म' बन जाती है।** फलेच्छा, ममता और आसक्ति से रहित होकर केवल दूसरों के हित के लिए किया गया कर्म 'अकर्म' बन जता है। विहित कर्म भी यदि दूसरे का अहित करने अथवा उसे दुःख पहुँचाने के भाव से किया गया हो तो वह भी 'विकर्म' बन जाता है। निषिद्ध कर्म तो 'विकर्म' है ही। कामना से कर्म होते हैं। जब कामना अधिक बढ़ जाती है तो विकर्म (पापकर्म) होते है। दूसरे अध्याय के अड़तालीसवें श्लोक में भगवान ने बताया कि अगर युद्ध जैसा हिंसायुक्त घोर कर्म भी शास्त्र की आज्ञा से समतापूर्वक (जय-पराजय, लाभ-हानि, सुख-दुःख को समान समझकर) किया जाये, तो उससे पाप नहीं लगता। तात्पर्य यह है कि समतापूर्वक कर्म करने से दिखने में विकर्म होता हुआ भी वह अकर्म हो जाता है।

शास्त्रनिषिद्ध कर्म का नाम 'विकर्म' है। विकर्म के होने में कामना ही हेतु होती है। अतः विकर्म का तत्व है कामना, और विकर्म के तत्व को जानना है। विकर्म का स्वरुप से त्याग करना तथा उसके कारण कामना का त्याग है। कौन सा कर्म मुक्त करने वाला है और कौन सा कर्म बाँधने वाला है इसका निर्णय करना बड़ा कठिन है। कर्म क्या है और अकर्म क्या है, विकर्म क्या है? यहां पर यज्ञ को कर्म रूप में बताया गया है। इसलिए मनुष्य को

---

1. कर्मणो ह्यपि बोद्धव्य बौद्धव्यं च विकर्मणः। अकर्मणक्ष बोद्धव्य गहना कर्मणो गतिः।। गीता 4/17

कर्म और अकर्म के विषय में शास्त्र को ही प्रमाण मानना चाहिए। इसे अध्याय 16 के श्लोक 24 में[1] कहा कि जिन मनुष्यों को अपने प्राणों से मोह होता है, वे प्रवृत्ति और निवृत्ति अर्थात् कर्तव्य और अकर्तव्य को न जानने से विशेष रूप से आसुरी सम्पत्ति में प्रवृत्त होता है। इसलिए कर्तव्य और अकर्तव्य का निर्णय करने के लिए शास्त्र को सामने रखना चाहिए। जिनकी महिमा शास्त्रों में की गयी है और जिनका व्यवहार शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार होता है, ऐसे ही सन्त-महापुरुषों के आचरण और वचनों के अनुसार चलना ही शास्त्रों के अनुसार चलना है। शास्त्रों का अनुसरण जिन महापुरूषों ने किया है वे श्रेष्ठ पुरुष बन गये है। वास्तव में देखा जाये तो जो महापुरुष परमात्मतत्व को प्राप्त हुए है, उनके आचरणों, आदर्शों, भावों आदि से ही शस्त्र बनते हैं। लोक-परलोक का आश्रय लेकर चलने वाले मनुष्यों के लिए कर्तव्य अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है।

गीता के अनुसार कर्मों के विभिन्न प्रकार- गीता के अनुसार कर्मों के अनेक प्रकार होते हैं:-

1. इस बात को श्रीमद् भगवद्गीता के अध्याय 18, श्लोक 41[2] बताया गया है 'ब्राह्मणक्षत्रियविंशा शूद्राणा च परन्तप' यहां ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य- इन तीनों के लिए एक पद और शूद्रों के लिए अलग एक पद देने का तात्पर्य यह है ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये द्विजाति है और शूद्र द्विजाति नहीं है। इसलिए इनके कर्मों का विभाग अलग-अलग है, कर्मों के शास्त्रीय अधिकार भी अलग-अलग है।

'कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैर्गुणैः'- मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है, उसके अन्त.करण मे उस कर्म के संस्कार पड़ते हैं और उन संस्कारों के अनुसार उसका स्वभाव बनता है। इस प्रकार पहले के अनेक जन्मों में किये गये कर्मों के संस्कारों के अनुसार मनुष्य का जैसा स्वभाव होता है, उसी के अनुसार उसमें सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों की वृत्तियां उत्पन्न होती है। इन गुण वृत्तियों के तारतम्य के अनुसार ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्मों का विभाग है।[3] इसका कारण है कि मनुष्यों की जैसी गुणवृत्तियां होती है वैसा ही वह कर्म करता है।

---

1. तस्माच्छास्त्र प्रमाण ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्त कर्मकर्तुमिहार्हसि।। गीता 16/24
2. ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणा च परन्तप। कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।। गीता (18/41)
3. चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्मविभागश.। तस्य कर्तारमपि मा विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।। गीता (4/13)

कर्म दो तरह के होते है-(1) जन्मारम्भक कर्म (2) भोगदायक कर्म, जिन कर्मो से ऊँच-नीच योनियो मे जन्म होता है, वे 'जन्माद्म्भक कर्म' कहलाते है और जिन कर्मो से सुख-दुःख का भोग होता है, वे 'भोगदायक कर्म' कहलाते हैं। योगदायक कर्म अनुकूल प्रतिकूल परिस्थिति को पैदा करते है, जिसे गीता में अनिष्ट, इष्ट, और मिश्र कहा गया है।[1] गहरी दृष्टि से देखा जाये तो मात्रा कर्म भोगदायक होते हैं, अर्थात् जन्मारम्भक कर्मो से भोग होता है और भोगदायक कर्मो से भी भोग होता है। जैसे जिसका उत्तम कुल में जन्म होता है, उसका आदर होता है, और जिसका नीच कुल में जन्म होता है उसका निरादर होता है।

ऐसे ही अनुकूल परिस्थिति वाले का आदर और प्रतिकूल परिस्थिति वाले का निरादर होता है। शास्त्रों में कहा गया है कि पुण्यों की अधिकता होने से जीव स्वर्ग में जाता है, और पापों की अधिकता होने से नरकों में जाता है तथा पुण्य पाप समान होने से मनुष्य बनता है। इस दृष्टि से किसी भी वर्ण, आश्रम, देश, वेश आदि का कोई भी मनुष्य सर्वथा पुण्यात्मा या पापात्मा नहीं हो सकता। पुण्य पाप समान होने पर भी जो मनुष्य बनता है, उसमें भी अगर देखा जाये तो पुण्य पापों का तारतम्य रहता है, अर्थात् किसी के पुण्य अधिक होते हैं और किसी के पाप अधिक होते हैं। ऐसे ही गुणों के विभाग होते हैं। कुल मिलाकर सत्वगुण की प्रधानता वाले उर्ध्वलोक में जाते हैं, रजोगुण की प्रधानता वाले मध्यलोक में और तमोगुण की प्रधानता वाले अधोगति में जाते हैं। इन तीनों में गुणों के तारतम्य से अनेक तरह के भेद होते हैं।

सत्वगुण की प्रधानता से ब्राह्मण, रजोगुण की प्रधानता और सत्वगुणं की गैणता से क्षत्रिय, रजोगुण और तमोगुण की प्रधानता गैणता से वैश्य तथा तमोगुण की प्रधानता से शूद्र होता है। यह सामान्य रीति से गुणो की बात बतायी। रजोगुण प्रधान मनुष्यों में सत्वगुण की प्रधानता वाले ब्राह्मण हुए। इन ब्राह्मणों में भी जन्म के भेद से ऊँच-नीच ब्राह्मण माने जाते हैं और परिस्थिति रूप से कर्मो का फल भी कई तरह का आता है अर्थात् सब ब्राह्मणों की एक समान अनुकूल प्रतिकूल परिस्थिति नहीं आती। इस दृष्टि से ब्राह्मण योनि में भी तीनों गुण मानने पड़ेंगे। ऐसे ही क्षत्रिण, वैश्य और शूद्र भी जन्म से ऊँच-नीच माने जाते हैं और

1 अनिष्टमिष्ट मिश्रं च त्रिविधं कर्मण फलम्।। गीता (18/12)

अनुकूल प्रतिकूल परिस्थिति भी कई तरह की आती है। इसलिए गीता मे कहा गया है कि तीनो लोक में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जो तीनो गुणों से रहित हो। अब जो मनुष्येतर योनि वाले पशु-पक्षी आदि है, उनमे भी ऊँच-नीच माने जाते हैं, जैसे गाय आदि श्रेष्ट माने जाते हैं और कुत्ता, गधा, सुअर आदि नीच माने जाते हैं। कबूतर आदि श्रेष्ट माने जाते हैं और कौआ, चील आदि नीचे माने जाते हैं।

यहां पर चारों वर्णों की रचना मैंने गुणों और कर्मों के विभागपूर्वक की है- 'गुर्णकर्मविभागशः' (4/13) और यहां कहते हैं कि चारों वर्णों के कर्म स्वभाव से उत्पन्न हुए तीनों गुणों के द्वारा विभक्त किये गये हैं-'स्वभावप्रभवैर्गुणै.'। चौथे अध्याय में तो चारों वर्णों के पैदा होने की बात है और यहां चारो वर्णों के कर्मों की बात है। वर्ण के अनुसार किये कर्म स्वाभाविक कर्म कहलाते हैं। शम, दाम, तप, पवित्रता, शान्ति, सरलता, ज्ञान, विज्ञान, ईश्वर में अस्तित्व बुद्धि रखना इत्यादि कर्म ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म कहलाते हैं।[1] **'शमः'**- मन को जहां लगाना चाहे, वहा लग जाये और जहां से हटाना चाहें, वहां से हट जाये इस प्रकार मन के निग्रह को शम कहते हैं। **'दमः'**- जिस इन्द्रियों से जब जो काम करना चाहें, तब वह काम कर लें और जिस इन्द्रिय को जब जहॉ से हटाना चाहें, तब वहां से हटा ले इस प्रकार इन्द्रियों को वश में करना दम है। **'तपः'**- गीता में शरीर वाणी, और मन के तप का वर्णन आता है,[2] उस तप को लेते हुए भी वास्तव में यहां तप का अर्थ है-अपने धर्म का पालन करते हुए जो कष्ट हो अथवा कष्ट आ जाये, उसको प्रसन्नतापूर्वक सहना अर्थात् कष्ट के आने पर चित्त में प्रसन्नता का होना। **'शौचम्'**- अपने मन, बुद्धि, इन्दियॉं, शरीर आदि को पवित्र रखना तथा अपने खान-पान, व्यवहार आदि की पवित्रता रखना, इस प्रकार शौचाचार सदाचार का ठीक पालन करने का नाम शौच है। **'क्षान्ति'**- कोई कितना ही अपमान करें, निन्दा करें, दुःख दें और अपने में उसको दण्ड देने की योग्यता, बल, अधिकार भी हो फिर भी उसको दण्ड न देकर उसके क्षमा मांगे बिना ही उसको

---

1. शमो दमस्तप· शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्य ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।। श्रीमद् भगवद्गीता- 18/42
2. देवद्विज गुरुप्राज्ञपूजन शौचमार्जवम्। ब्रह्मचर्यमहिसा च शारीर तप उच्यते।। 17/14
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्। स्वाध्यायाभ्यसन चैव वाङ्मय तप उच्यते।। 17/15
मनः प्रसाद. सौम्यत्व मौनमात्मविनिग्रहः। भावसशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।। 17/16

प्रसन्नतापूर्वक क्षमा कर देने का नाम 'क्षति है। **'आर्जवम्'**- शरीर, वाणी आदि के व्यवहार मे सरलता हो और मन में छल, कपट, छिपाव आदि दुर्भाव न हो अर्थात् सीधा सादापन हो उसे अजीव कहते है। **'ज्ञानम्'** वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास आदि का अच्छी तरह अध्ययन होना और उसके भाव ठीक तरह से बोध होना तथा कर्तव्य अकर्तव्य का बोध होना ज्ञान है। **'विज्ञानम्'** यज्ञ में स्त्रुक-स्त्रुवा आदि वस्तुओं का किस अवसर पर किस्मी विधि मे प्रयोग करना चाहिए। यज्ञ और अनुष्ठान विधि का अनुभव कर लेने का नाम विज्ञान है। **आस्तिक्यम्**-परमात्मा, वेदादि शास्त्र, परलोक आदि का हृदय मे आदर हो, श्रद्धा हो, और उसकी सत्यता में कभी सन्देह न हो, तथा उनके अनुसार अपना आचरण हो इसी का नाम आस्तिक्य है। 'ब्रह्मकर्म स्वभावजम्'- ये शम, दम आदि ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म (गुण) है, अर्थात् इन कर्मों (गुणों) को धारण करने में ब्राह्मण को परिश्रम नहीं पड़ता। जिन ब्राह्मणों में सत्वगुण की प्रधानता है, जिनकी वश परम्परा परम शुद्ध है और पूर्व जनित कर्म भी शुद्ध है, उनके लिए शम, दम आदि गुण स्वाभाविक होते हैं। यदि उनमें किसी गुण की कमी हो तो उस कमी को पूरा करना ब्राह्मणों के लिए सहज होता है।

क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म शूर-वीरता, तेज, धृति, कुशलता, युद्ध से पीठ करके न भागना, दान देना और स्वामीभाव है। ये सभी क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म है।[1] अब क्षत्रियो के स्वाभाविक कर्मो का वर्णन करते हुए कहा कि **'शौयम्'**- मन में अपने धर्म का पालन करने की तत्परता हो, धर्ममय युद्ध (अपना युद्ध करने का विचार भी नहीं है, कोई स्वार्थ भी नहीं है, पर परिस्थितिवश केवल कर्तव्य रुप से प्राप्त हुआ है, वह धर्ममय युद्ध है) प्राप्त होने में युद्ध मे मर जाने का भय न हो, यही शौर्य। (शूरवीरत) है। **'तेजः'**- जिस शक्ति के सामने पापी दुराचारी मनुष्य भी पाप करने में हिचकते है। स्वाभाविक रुप से मर्यादा में चलने को तेज कहते हैं। **'धृतिः'**- विपरीत से विपरीत अवस्था में अपने धर्म से विचलित न होना ही धैर्य (धृति) कहलाता है। **'दाक्ष्यम्'**- प्रज्ञा पर शासन करने की विशेष योग्यता, चतुराई का नाम दाक्ष्य है। **'युद्धे चाप्यपलायनम्'** युद्ध में कभी पीठ नहीं दिखाना और मन में कभी हार न स्वीकार करना, युद्ध छोड़कर न भागना ही अपलायन है। **'दानम्'** क्षत्रिय लोग दान करते

---

1 शोर्यं तेजो धृतिदक्ष्यि युद्धे चाप्यपलायनम्। दानमीश्वरमावश्च क्षात्र कर्म स्वभावजम्।। 18/43

है तो दान मे कभी कमी नहीं रखते, उदारता से दान देते हैं। इसलिए यहा दान क्षत्रियो के स्वभाव मे आता है। **'ईश्वरभावश्च'**- क्षत्रियो में स्वाभाविक ही शासन करने की प्रवृत्ति होती है। लोगो के द्वारा धर्म, नीति और मर्यादा के विरूद्ध आचरण देखने पर उनके मन मे स्वाभाविक ही ऐसे विचार आते है कि ऐसा लोग क्यो करते है। अपने शासन द्वारा सबको अपनी मर्यादा के अनुसार चलाने का भाव रहता है। इस ईश्वर मात्र में अभिमान नहीं होता, क्योकि क्षत्रिय जाति में नम्रता सरलता आदि गुण देखने में मिलते हैं। 'क्षात्रं कर्म स्वभावजम्' जो मात्र प्रजा की दु खो से रक्षा करे, उसका नाम 'क्षत्रिय' है, 'क्षतात् प्रायत इति क्षत्रिय'' उस क्षत्रिय के जो स्वाभाविक कर्म है, वे क्षात्रकर्म कहलाते हैं।

इसी प्रकार कृषि, गौरक्षा, वाणिज्य आदि वैश्य जाति के स्वाभाविक-कर्म हैं और शूद्रों का भी सेवा रूपी कर्म स्वाभाविक-कर्म ही है।[1] खेती करना, गायों की रक्षा करना उनकी सेवा वंश वृद्धि करना, शुद्ध व्यापार करना ये कर्म वैश्य मे स्वाभाविक रहता है। शुद्ध व्यापार करने का यहां तात्पर्य है, लोगों के हित की भावना से उस वस्तु को (जहा वह मिल रही हो, वहां से ला करके) उसी देश में पहुचाना, वस्तु के अभाव में कोई कष्ट न हो पाये इस भाव से सच्चाई के साथ वस्तुओ का वितरण करना। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों के अनुसार सहज कर्म या स्वाभाविक कर्म है।

(2) सत्व, रजस्, तमस् प्रकृति के इन तीन गुणों के भेद से कर्म भी सात्विक राजस, तामस प्रकारो के होते हैं। सात्विक कर्म का वर्णन करते[2] हुए श्रीमद् भगवद्गीता में, अध्याय 18 के श्लोक 23 में कहा गया है कि जिस व्यक्ति के लिए वर्ण और आश्रम के अनुसार जिस परिस्थिति मे और जिस समय शास्त्रों ने जैसा करने के लिए कहा है, उसके लिए वह कर्म नियम हो जाता है। यहां नियतम् पद से एक तो कर्मो का स्वरुप बताया है और दूसरे, शास्त्र निषिद्ध कर्म का निषेध किया गया है। सङ्गरहितम् का तात्पर्य है कि वह नियत कर्म कर्तव्य अभिमान (कर्तत्वाभिमान) रहित होकर किया जाये। कर्तृत्वाभिमान से रहित कहने का भाव है, कि जैसे वृक्ष आदि में मूढ़ता होने पर कर्तव्य का मान नहीं होता, पर उनकी भी

---

1 कृषि गौरक्ष्यवाणिज्य वैश्यकर्म स्वभावजम्। परिचर्यात्मक कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-18, श्लोक 44

2. नियत सङ्ग रहितमरागद्वेषत कृतम्। अफलप्रेप्सुना कर्म यन्तसात्विकमुच्यते।। 18/23

ऋतु आने पर पत्तों का झड़ना, नये पत्तों का आना, शाखा कटने पर घाव का मिल जाना, शाखाओं का बढ़ना, फल-फूल का लगना, आदि सभी क्रियाएं समष्टि शक्ति के द्वारा अपने-आप ही होती है, ऐसे ही इन सभी शरीरों का बढ़ना-घटना, खाना-पीना, चलना-फिरना आदि सभी क्रियाएं भी समष्टि शक्ति के द्वारा अपने ही संबंध है न पहले ही कोई संबंध था और न आगे कोई संबंध होगा। इस प्रकार जब साधक को प्रत्यक्ष न रहने पर उसके द्वारा जो कर्म होता है, वह कर्तत्वाभिमान रहित ही होता है। रागद्वेष से रहित होकर कर्म किये जाते हैं अर्थात् कर्म का रागपूर्वक ग्रहण न हो और कर्म का त्याग द्वेषपूर्वक न हो तथा कर्म करने के जितने साधन है, उनमे भी रागद्वेष न हो। अरागद्वेषतः पद से वर्तमान में राग का अभाव बताया है और अफलप्रेत्सुना पद से भविष्य मे राग का अभाव बताया है। तात्पर्य यह है कि भविष्य में मिलने वाले फल की इच्छा से रहित मनुष्य के द्वारा कर्म किया जाये, अर्थात् क्रिया और पदार्थो से निर्लिप्त रहते हुए असंगतापूर्वक कर्म किया जाये तो वह सात्विक कहा जाता है। इस सात्विक कर्म में सात्विकता तभी तक है, जब तक अत्यन्त सूक्ष्म रूप से भी प्रकृति के साथ संबंध है। जब प्रकृति के साथ संबंध विच्छेद हो जाता है तब यह कर्म 'अकर्म' हो जाता है।

निष्काम होकर कर्ता के द्वारा जो नित्य, आसक्ति से रहित, राग-द्वेष के बिना किया हुआ कर्म सात्विक कर्म कहलाता है। अर्थात् फलाभिलाषा से रहित होकर जो यज्ञ, दान और तपादि कर्म किये जाते हैं, वे कर्म **'सात्विक'** कहे जाते हैं।

राजस कर्म का वर्णन करते हुए[1] कहा गया है कि जब हम कर्म करेंगे तो हमें पदार्थ मिलेंगे, सुख-आराम मिलेगा, भोग मिलेगा आदि फल की इच्छा से कर्म किया जायें। लोगों के सामने कर्म करने से लोग देखते हैं और वाह-वाह करते है तो अभिमान आता है और जहां लोग सामने नहीं होते, वहॉ कर्म करने से दूसरों की अपेक्षा अपने में विलक्षणता, विशेषता देखकर अभिमान आता है। जैसे दूसरे आदमी हमारी तरह सुचारु रूप से साङ्गोपाङ्ग कार्य नहीं कर सकते, हमारे में काम करने की जो बात, योग्यता, चतुराई आदि है, वह प्रत्येक आदमी में नहीं मिलती, हम जो भी काम करते हैं, उसको बड़ी ईमानदारी से करते हैं, इस प्रकार अहंकारपूर्वक किया गया कर्म **राजस** कहलाता है। आगे भविष्य में मिलने वाले फल को

---

1. यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः। क्रियते बहुलायास तद्राजसमुदाहृतम्।। श्रीमद् भगवद्गीता- 18/24

लेकर (फलेच्छापूर्वक) कर्म किया जाये, अथवा वर्तमान में अपनी विशेषता को लेकर (अहंकारपूर्वक) कर्म किया जाये इन दोनों भावों मे से एक भाव होने पर भी वह कर्म राजस हो जाता है। कर्म को करते समय प्रत्येक मनुष्य के शरीर मे परिश्रम तो होता है है पर जिस व्यक्ति मे शरीर के सुख की इच्छा मुख्य होती है, उसको कर्म करते समय शरीर मे ज्यादा परिश्रम मालूम होता है। जिस व्यक्ति में कर्मफल की इच्छा तो मुख्य है पर शारीरिक सुख-आराम की इच्छा मुख्य नहीं है। इसका कारण यह है कि भीतर मे भोगों और सग्रह की जोरदार कामना होने से उसकी वृत्ति कामनापूर्ति की तरफ ही लगी रहती है, शरीर की ओर नहीं। तात्पर्य यह है कि शरीर के सुख-आराम की मुख्यता होने से फलेच्छा की अवहेलना हो जाती है, और फलेच्छा की मुख्यता होने से शरीर के सुख-आराम की अवहेलना हो जाती है। ऐसे फल की इच्छा वाले मनुष्य के द्वारा अहंकार और परिश्रमपूर्वक किया हुआ जो कर्म है, वह राजस कहा गया है। राजस कर्म वह होता है, जो फलाभिलाषा अथवा अहंकार से और परिश्रमपूर्वक किया जाता है। यह कर्म सुख और दु.ख देने वाला होता है।

'राजस कर्म' इस श्लोक की व्याख्या करते हुए (18/24) **डा0 राधाकृष्णनन्** ने बताया कि 'जिस कर्म मे बहुत परिश्रम लगता है, उसे 'राजसिक कर्म' क्यों कहते हैं? उसे राजसिक कहने का यह कारण है कि यह भावना कि हम किसी कष्ट में से गुजर रहे हैं, कर्म के मूल्य को समाप्त कर देती है। चेतनापूर्वक यह अनुभव करना कि हम कोई बडा काम कर रहे हैं, कोई महत्वपूर्ण बलिदान कर रहे है, स्वय बलिदान की विफलता है। परन्तु जब कोई काम किसी आदर्श के लिए किया जाता है, तब वह श्रम श्रम नहीं लगता, बलिदान-बलिदान नहीं लगता। उसे पूर्णतया आत्मचेतन रहित होकर, अहकार की भावना को छोड़कर मुस्कराते हुए करना, जैसे सुकरात ने विष पिया था, सात्विक कर्म का ढंग है।

तामस कर्म वह है जो कर्म, परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य को न देखकर मोहपूर्वक आरंभ किया जाता है, **तामस कर्म** कहलाता है।[1] ऐसे मनुष्य जिसे फल की कामना होती है, वह मनुष्य तो फल प्राप्ति के लिए विचारपूर्वक कर्म करता है, परन्तु तामस मनुष्य में मूढ़ता की प्रधानता होने से वह कर्म करने में विचार ही नहीं करता। इस कार्य को करने से मेरा तथा दूसरे प्राणियों का अभी और परिणाम मे कितना नुकसान होगा इस अनुबन्ध

---

1 अनुबंध क्षय हिंसामनवेक्ष्य च पौरूषम्। मोहादारम्यते कर्म यत्ततामसमुच्यते।। 18/25

अर्थात् परिणाम को न देखकर कार्य आरम्भ कर देता है। इस कार्य को करने से अपने और दूसरों के शरीर को कितनी हानि होगी, धन, समय कितना खर्च होगा, संसार में अपमान, निंदा की चिन्ता न करते हुए। इस कर्म से कितने जीवों की हत्या होगी, श्रेष्ठ मनुष्यों के सिद्धान्तों और मान्यताओं की हत्या, दूसरे मनुष्यो के मनुष्यता की हत्या होगी आदि हिंसाओ को न देखते हुए कार्य आरम्भ करना। इस काम को करने की मेरे मे कितनी योग्यता, कितना बल, सामर्थ्य, समय, बुद्धि, कला, ज्ञान है आदि पौरूष (पुरूषार्थ) को न देखकर कार्य आरम्भ कर देना। तामस मनुष्य कर्म करते समय उसके परिणाम, उससे होने वाली हिंसा पर विचार न करके, उस समय जब जैसा मन में भाव आये, उसी समय बिना विवेक विचार के वैसा कर बैठता है। इस प्रकार किया गया कर्म तामस कहलाता है। यह कर्म तमोगुण से प्रेरित तामस कर्म कहा जाता है। ऐसे कर्म बन्धन कारक होते हैं और इनका फल सुख और दु.ख विनाशी होता है।

इस प्रकार से सत्व, रजस्, और तमस् प्रकृति के इन तीनों गुणों के भेद से कर्म भी सात्विक राजस् और तामस् इन तीन प्रकार का होता है।

(3) शरीर वाणी और मनरुप अधिष्ठान के भेद से भी कर्म शारीरिक व वाचिक और मानसिक तीन प्रकार का होता है। चूँकि तपरुप कर्म के ये तीन प्रकार बताये गये हैं। इससे पता चलता है कि कर्म अधिष्ठान भेद से तीन प्रकार का होता है।

श्रीमद् भगवद्गीता अध्याय 17 के 14वें श्लोक में[1] कहा गया देवता, ब्राह्मण, गुरु एवं अन्य ज्ञानियों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा का पालन आदि शरीर से सम्पन्न होने वाला ही शारीरिक तप (शरीर संबंधी तप) कहलाता है। वाणी के द्वारा जो कर्म किया गया है उसमें उद्वेग नहीं उत्पन्न होता है। जो सत्य होता है और सुनने वाले को प्रिय लगने वाला होता है, और जिसके परिणाम भी हितकारी होते हैं। इसी प्रकार से वेदाभ्यास और स्वाध्यायाभ्यास भी वाणी द्वारा किया जाने वाला तपस्या रुपी कर्म है। वाणी रुप अधिष्ठान के भेद से यह वाचिक तप रूप कर्म होता है।[2] इसी प्रकार से मन की स्वस्थता,

---

1. देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजन शौचमार्जवम्। ब्रह्मचर्यमहिसा च शरीर तप उच्यते।। गीता 17/14
2 अनुद्वेगकर वाक्य सत्य प्रियहित च यत्। स्वाध्यायाभ्यसन चैव वाङ्मय तप उच्यते।। गीता 17/15

अक्रूरता, मनन, विषयो से मन को हटाकर रखना व्यवहार में छल-कपट आदि माया के व्यवहार से रहित होना ही मानसिक तपरूप कर्म है। मनरूपाधिष्ठान के भेद से तपरूप कर्म भी मानसिक तप कहलाता है।

इस प्रकार अधिष्ठान त्रय के भेद से भी कर्म शारीरिक, मानसिक और वाचिक तीन प्रकार का होता है। संक्षेप रुप से हम कह सकते हैं स्वाभाविक कर्म के रूप मे भी कर्म वर्णानुसार, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चार प्रकार का होता है एव प्रकृति के गुण सत्व, रज्, और तमस् के भेद से भी कर्म सात्विक, राजस, तामस तीन प्रकार का होता है।

कामना का कर्म कारणत्व

इस विषय पर प्रारम्भ से ही सन्देह रहा है कि कर्मों मे हमारी प्रवृत्ति का कारण क्या है? हम कर्म क्यो करते है? इस सन्देह का निराकरण गीता मे किया गया है रजोगुण का कार्य रुप, तृष्णा, कामना या आसक्ति ही मनुष्य की कर्मो मे प्रवृत्ति का कारण है।[1] अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की कामना ही तृष्णा है और प्राप्त वस्तु के सदा रहने की या विनष्ट न होने की कामना ही आसक्ति है। रजोगुण से आसक्ति और तृष्णा का जन्म होता है। जीव जिन-जिन विषयों की कामना करता है, उन-उन विषयों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। रजोगुण से उत्पन्न तृष्णा और आसक्ति ही मनुष्यो को कर्मो मे प्रवृत्त करती है। इस रजोगुण से ही प्रवृत्त होकर मनुष्य को विभिन्न योनियों की प्राप्ति होती है। गीता मे विभिन्न प्रकार के कर्मों को करने की इच्छा को तृष्णा कहा गया है, यह लालसा का ही दूसरा नाम है। व्यष्टि और समष्टि दोनों इस लालसा से ग्रस्त हैं। व्यक्ति की इच्छाओं का कोई अन्त नहीं है। उदाहरण पैदल चलो तो साइकिल की इच्छा आदि। समाज की इच्छाएं भी अनन्त है। रजोगुण में शान्ति नहीं अशान्ति है, लालसा व्यक्ति तथा समाज को बेचैन रखती है। रजोगुण का दूसरा दोष कर्माशक्ति (कर्म करने में अपार आसक्ति है। छोटा बच्चा जैसे एक कतरन को लेकर उसे फाड़ता है, फिर बनाता है, फिर फाड़ता है ऐसे निरर्थक दौड़-धूप करने की प्रवृत्ति व्यक्ति तथा समाज मे रजोगुण के कारण पायी जाती है। इसी प्रकार पर्वत के शिखर पर गिरने वाला पानी यदि विविध दिशाओ में बहने लगे तो फिर वह कहीं का नहीं रहता, सारा

1 श्रीमद् भगवद्गीता 13/22, 21, श्रीमद् भगवद्गीता 14/7, 8, 12, 15

का सारा बेकार हो जाता है। यदि वही एक दिशा में बहेगा तो आगे चलकर एक नदी बन जायेगा, उसमें एक शक्ति उत्पन्न हो जायेगी।

विनोबाभावे का कहना है कि रजोगुण को जीतने का उपाय स्वधर्म का पालन करना, अपनी मर्यादा मे बने रहता है। रजोगुण के कारण मनुष्य विविध कार्यों मे टांग अड़ाता है, ऐसे कार्यो को करता है जो स्वधर्म के अनुकूल नहीं होते, इसीलिए किसी में भी सफल न होने के कारण अशान्त, चंचल बना रहता है। जब हम स्वधर्म में मग्न रहते हैं तो रजोगुण फीका पड जाता है, क्योकि तब चित्त एकाग्र रहने लगता है। वह स्वधर्म को छोड़कर कहीं नहीं जाता, इससे चंचल रजोगुण का महत्व कम हो जाता है। नदी जब शान्त, गहरी होती है, तब कितना ही पानी उसमे बढ़ जाये, वह अपने मे उसे समा लेती है। स्वधर्म मे शान्ति लगा देने से रजोगुण की वृत्ति समाप्त हो जायेगी लगेगा, मानो आपने चचलता को समाप्त कर दिया। यह रीति हैं-रजोगुण को जीतने की।[1]

यहां पर कामना को ही कर्मो का कारण कहा गया है। कर्मों से ही बन्धन होता है और कर्म किये बिना कोई रह भी नहीं सकता, कामना सदैव अनित्यतत्व (उत्पत्ति विनाशशील वस्तु) की होती है। भक्त में सदैव उद्देश्य होना चाहिए कामना नहीं। परमात्मा ने मनुष्य शरीर की रचना बड़े ही विचित्र ढंग से की है। मनुष्य के जीवन निर्वाह और साधन के लिए जो-जो आवश्यक सामग्री है वह उसे अधिक प्राप्त है। उसमें विवेक भी है। उस विवेक (भगवत्प्रदप) को महत्व न देकर मनुष्य प्राप्त वस्तुओं का ठीक-ठीक सदुपयोग नहीं करता प्रत्युत उन्हें अपना मानकर उनका उपयोग करता है एव प्राप्त वस्तुओं मे ममता तथा अप्राप्त वस्तुओ की कामना करने लगता है, तब वह जन्ममरण के बन्धन मे बंध जाता है। वर्तमान समय में जो वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना, योग्यता, शक्ति, शरीर, इन्द्रियां, मन, प्राण, बुद्धि आदि मिले हैं, वे पहले भी हमारे पास नहीं थे और बाद में भी हमारे पास नहीं रहेगे, क्योकि वे एकरुप नहीं रहते, प्रतिक्षण बदलते रहते हैं, इस वास्तविकता से मनुष्य परिचित है। शरीरादि पदार्थों को अपना न मानकर और उसके आश्रित न रहे और उन्हे महत्व देकर

---

1 सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, कृत ''श्रीमद् भगवद्गीता'' पृ0स0- 448-449

उनकी पराधीनता स्वीकार न करे। पदार्थो को महत्व देना महान मूल है। इन नष्ट होने वाले पदार्थो से कामनाए उत्पन्न होती है। कामना सम्पूर्ण पापों, तापों, दु:खो, अनर्थो की जड़ है। कामना से पदार्थ मिलते नहीं, इसलिए मनुष्य को कामना का त्याग करके कर्तव्य कर्म करना चाहिए।

अब प्रश्न उठता है कि कामना के बिना कर्मों मे प्रवृत्त कैसे हो सकती? इसका उत्तर है कामना की पूर्ति और निवृत्ति दोनो के लिए कर्मों में प्रवृत्ति होती है। साधारण मनुष्य कामना की पूर्ति के लिए कर्मो मे प्रवृत्त होते है और साधक आत्मशुद्धि हेतु कामना की निवृत्ति के लिए।[1] वास्तव मे कर्मो मे प्रवृत्ति कामना की निवृत्ति के लिए ही है, कामना की पूर्ति के लिए नहीं।

मानव शरीर उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही मिला है। उद्देश्य की पूर्ति होने पर कुछ भी करना शेष नहीं रहता। कामनापूर्ति के लिए कर्मों में प्रवृत्ति उन्हीं मनुष्यों की होती है, जो अपने वास्तविक उद्देश्य (नित्यतत्व परमात्मा की प्राप्ति) को भूले हुए हैं। ऐसे मनुष्यो को भगवान 'कृष्ण' (दीन या दया का पात्र) कहते हैं। इसके विपरीत जो मनुष्य के उद्देश्य को (कामना की निवृत्ति के लिए) सामने रख कर कर्मों को करते है, उन्हे 'मनीषी' (बुद्धिमान) कहा गया। नाशवान पदार्थो को प्राप्त करना ही कामना है। अतः कोई भी काम कामना के बिना नहीं होता ऐसा मानना भूल है। उद्देश्य की पूर्ति के लिए भी कर्म सुचारू रूप से होते है।

आगे चौदहवे अध्याय के सातवें श्लोक मे बताया है कि तृष्णा (कामना) और आसक्ति से रजोगुण उत्पन्न होता है।[2] यहां रजोगुण से काम उत्पन्न होता है। ''रजोगुणसमुद्भवः एषः कामः'' (रजोगुण से उत्पन्न यह काम अर्थात् कामना ही पाप का कारण है) इससे यह समझना चाहिए कि राग से काम (कामना) उत्पन्न होता है, जिससे अन्तःकरण मे उसका महत्व दृढ़ हो जाता है। फिर उन्हीं पदार्थों का संग्रह करने और उनसे सुख लेने की कामना उत्पन्न होती है। पुनः कामना से पदार्थों में राग बढ़ता है। यह क्रम जब तक चलता है, तब तक पाप कर्म से सर्वथा निवृत्ति नहीं होती।

---

1. कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि। योगिन कर्म कुर्वन्ति सङ्ग व्यक्त्वात्मशुद्धये।। श्रीमदभगवद्गीता - 5/11
2 काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव । महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्।। श्रीमदभगवद्गीता - 3/37

कामना सम्पूर्ण पापो, सन्तापो, दु:खों आदि की जड है। कामना वाले व्यक्ति को जाग्रत मे सुख मिलता तो दूर रहा, स्वप्न मे भी कभी सुख नहीं मिलता।[1] जो चाहते है वह न हो और जो नहीं चाहते वह हो जाये इसी को दुःख कहते है। यदि 'चाहते' और 'नहीं चाहते को' छोड़ दे, तो फिर दुःख है ही नहीं। 'नाशवान पदार्थो की इच्छा ही कामना कहलाती है।' अविनाशी परमात्मा की इच्छा कामना के समान प्रतीत होती हुई भी वास्तव में कामना नहीं है, क्योकि उत्पत्ति विनाशशील पदार्थो की कामना कभी पूरी नहीं होती, बल्कि बढती ही रहती है। परमात्मा की प्राप्ति होने पर पूरी हो जाती है। कामना सदैव अपने से भिन्न वस्तु की होती है, परन्तु परमात्मा अपने से अभिन्न है। इसी प्रकार सेवा (कर्मयोग), तत्वज्ञान (ज्ञानयोग) और भगवत्प्रेम (भक्तियोग) की इच्छा भी कामना नहीं है। परमात्मा प्राप्ति की इच्छा ही वास्तव मे जीवन की परम आवश्यकता है। जीव इच्छा तो परमात्मा की प्राप्ति भी करता है पर विवेक दब जाने पर वह नाशवान पदार्थो की कामना करने लगता है। यहां पर शंका है कि कामना के बिना ससार का कार्य कैसे चलता? संसार का कार्य वस्तुओं से क्रियाओं से चलता है, मन की कामना से नहीं। वस्तुओं का सबंध कर्मो से होता है, चाहे वे कर्म प्रारब्ध हो या वर्तमान के। कर्म हमेशा बाहर के होते हैं कामनाए भीतर की होती है। बाहरी कर्मो का फल भी बाहरी होता है। कामना का संबंध फल की प्राप्ति से नहीं है। जो वस्तु कर्म के आधीन है वह कामना करने से कैसे प्राप्त हो सकती है। ससार मे मनुष्यो को धन की कामना होने पर भी लोगो की दरिद्रता नहीं मिटती। कामना करें या न करे हमें जो फल मिलने वाला है वह तो मिलेगा ही। जो होने वाला है वह तो होकर ही रहेगा, और जो नहीं होने वाला है वह कभी नहीं होगा। चाहें उसकी कामना करें या न करें। कर्म और विकर्म दोनों ही कामनाओं के कारण होते है। कामना के कारण 'कर्म' होते हैं। कामनाओं के अधिक बढ़ने पर 'विकर्म' होते हैं। कामना के कारण ही असत् में आसक्ति होती है। कामना न रहने पर संबंध विच्छेद हो जाता है।

---

1 'काम अछत सुख सपनेहूँ नाही' (मानस 7/90/1)

कामनाए चार प्रकार की होती है-

1. शरीर निर्वाह मात्र की आवश्यकता कामना को पूरा कर दें।[1]

2. जो कामना व्यक्तिगत एवं न्याययुक्त हो और जिसको पूरा करना हमारी सामर्थ्य से बाहर हो, उसके भगवान् के अर्पण करके मिटा दें।

3. दूसरो की वह कामना पूरी कर दें, जो न्याययुक्त और हितकारी हो तथा जिसको पूरा करने पर हमारे में कामना त्याग की सामर्थ्यथता आती है।

4. उपर्युक्त तीनों प्रकार की कामनाओं के अतिरिक्त दूसरी सब कामनाओं को विचार के द्वारा मिटा दें।

'महाशनो महापाप्मा'- कोई वैरी ऐसा होता है, जो भेंट पूजा से शान्त हो जाता है, पर यह काम ऐसा बैरी होता है, जो किसी से शान्त नहीं होता। इस काम की कमी तृप्ती नहीं होती।[2] जैसे धन मिलने पर धन की कामना और बढ़ती चली जाती है, ऐसे ही ज्यो-ज्यों भोग मिलता है, त्यो ही कामना बढ़ती जाती है। इसलिए कामना को 'महाशनः' कहते हैं। कामना ही सम्पूर्ण पापो का कारण है। चोरी, डकैती, हिंसा आदि समस्त (कार्य) पाप कामना से ही होते हैं इसलिए कामना को 'महापाप्मा' कहते हैं।

संसार में जितने भी पाप, दुःख, नरक आदि है उनके मूल में एक ही कामना है। इस लोक और परलोक में जहॉ कहीं कोई दुःख पा रहा है, उससे असत् की कामना ही कारण है। कामना से केवल दुःख ही मिलता है, सुख नहीं। इसलिए कामना का परित्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। कामना ज्ञानी पुरुषो का तो नित्यशत्रु है ही, परन्तु अज्ञानी पुरुष तो विषयोपभोग के समय काम को मित्र के समान देखता है और जब उसे करने से दुःख मिलता है तो उसे शत्रु समझता है। अतः समस्त पापो एवं पुण्यो का मूल कारण, ज्ञान और विज्ञान कर देना चाहिए और समस्त दुःखों एवं सुखों की कामना को त्याग देना चाहिए।[3]

---

1. कामना में चार बातों का होना आवश्यक है- जो कामना वर्तमान में उत्पन्न हो (जैसे भूख लगने पर भोजन की कामना), जिसकी पूर्ति की सामग्री वर्तमान में उपलब्ध हो, जिसकी पूर्ति किये बिना जीवित रहना सभव न हो, जिसकी पूर्ति से अपना तथा दूसरों का किसी का भी अहित न होता हो। इस प्रकार शरीर निर्वाह मात्र की आवश्यक कामनाओं की पूर्ति कर लेनी चाहिए। आवश्यक कामनाओं को पूरा करने से नावश्यक कामनाओं के त्याग का बल आ जाता है। परन्तु आवश्यक कामनाओं की पूर्ति का सुख नहीं लेना है, क्योंकि पूर्ति का सुख लेने से नयी-नयी कामनाएं उत्पन्न होती रहती है जिसका अन्त कभी नहीं होता।
2. बुझै न काम अगिनि तुलसी कहूँ, विषय भोग बहुधी ते।। (विनय पत्रिका, 198)
3. श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय-3, श्लोक- 39, 41, 43

कर्मों की सिद्धि में पांच कारण

संसार मे सभी कर्म शरीरादि से ही किये जाते हैं, आत्मा उन कर्मों को नहीं करती है। ज्ञान, ज्ञेय, और परिज्ञाता-इन तीनों से ही कर्म, प्रेरणा (क्रिया) होती है। ज्ञान से यहां तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य की कोई प्रवृत्ति होती है तो प्रवृत्ति में सबसे पहले ज्ञान होता है। जैसे, जल पीने की प्रवृत्ति में सबसे पहले ज्ञान होता है, फिर वह जल से प्यास बुझाता है। जल आदि जिस विषय का ज्ञान होता है, वह ज्ञेय कहलाता है, जिसको ज्ञान होता है, वह परिज्ञाता कहलाता है। ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता-तीनो के होने से ही कर्म होता है न कि आत्मा द्वारा। इन तीनों में से एक भी न हो तो कर्म करने की प्रेरणा नहीं होती। कर्म संग्रह के तीन हेतु है - करण, कर्म, तथा कर्ता। इन तीनो के सहयोग से ही कर्म पूरा होता है। करण, उसे कहते है जिस साधनों से कर्ता कर्म करता है। खाना-पीना, उठना-बैठना, चलना-फिरना आदि जो चेष्ठाएं की जाती है उसको कर्म कहते हैं। करण और क्रिया से अपना सम्बन्ध जोड़कर कर्म करने वाले को कर्त्ता कहते हैं। इस प्रकार करण, कर्म, कर्ता के मिलने से कर्म बनता है।[1]

कर्मों के पांच हेतु इस प्रकार है- अधिष्ठान या शरीर, अहंकार या कर्ता और करण अर्थात् विषयों को ग्रहण करने वाली विभिन्न प्रकार की ग्रन्थियां, विविध प्रकार की शारीरिक चेष्टाएं और पॉचवां हेतु दैव (संस्कार) आदि।[2] **अधिष्ठानम्** शरीर और जिस देश में यह शरीर स्थित है, वह देश ये दोनों अधिष्ठान है। **कर्ता** सम्पूर्ण क्रियाएं और प्रकृति के कार्यों के द्वारा ही होती है। वे क्रियाएं चाहे समष्टि हो, चाहे व्यष्टि हो, परन्तु उन सभी क्रियाओं का कर्ता 'स्वयं' नहीं है। केवल **अहंकार** से मोहित अन्तःकरण वाला अर्थात् जिसको चेतन और जड़ का ज्ञान नहीं है ऐसा अविवेकी पुरुष ही जब प्रकृति से होने वाली क्रियाओं को अपनी मान लेता है, तब वह 'कर्ता' बन जाता है।[3] ऐसे कर्ता ही कर्मों की सिद्धि में हेतु बनता है।

---

1 ज्ञान ज्ञेय परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना। कारणं कर्म कर्तेति विविध कर्मसङ्ग्रह ।। श्रीमद्0 18/18

2 अधिष्टाना तथा कर्ता करण च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैव चैवात्र पञ्चमम्।। 18/14

3 सम्पूर्ण क्रियाए प्रकृति के द्वारा होती है। इसका वर्णन गीता में कई बार किया गया है। जैसेः सब कर्म प्रकृति के द्वारा किये जाते हैं- 'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमावानि सर्वश ' (13/29), सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के द्वारा ही किये जाते हैं- 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वश'' (3/27)। गुण ही गुणों में बरतते हैं- 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (3/28); दृष्टा गुणों के सिवाय अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता नान्य गुणेभ्य कर्तार यदा द्रष्टानुपश्यति (14/19)। सब इन्द्रिया अपने-अपने अर्थों (विषयों) में बरतती हैं-'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते' (4/9)।

कारण च पृथग्विधम्- कुल 13 करण है। पाणि, वाक्, पाद्, उपस्थ, पायु- ये पाच कर्मेन्द्रियॉ और श्रोत्र, चक्षु, त्वक्, रसना और घ्राण- ये पाच ज्ञानेन्द्रियां ये दस बहिःकरण है तथा मन, बुद्धि और अहंकार ये तीन अन्तःकरण है। विविधाश्च पृथक्चेष्टा उपर्युक्त 13 कारणों की अलग-अलग चेष्टाएं होती है; जैसे पाणि (हाथ) आदान-प्रदान करना, पाद (पैर) आना-जाना, चलना-फिरना, वाक् बोलना, उपस्थ मूत्र का त्याग करना, पायु (गुदा) मल का त्याग करना, श्रोत्र-सुनना, चक्षु-देखना, त्वक्-स्पर्श करना, रसना, चखना, ध्राण-सूॅघना, मन-मनन करना, बुद्धि निश्चय करना और अहकार मै ऐसा हूॅ आदि अभिमान करना। दैवं चैवात्र पञ्चमम्-कर्मो की सिद्धि मे पॉचवां हेतू दैव है। मनुष्य जैसा कर्म करता है वैसा ही संस्कार उसके अन्त.करण पर पड़ता है। संस्कार अच्छे बुरे दोनो ही सभी मनुष्य के भीतर होते है। सग, शास्त्र और विचार इन तीनो से अच्छे या बुरे संस्कारो को बल मिलता है, जिसके द्वारा नये कर्म होते हैं।[1] ये पांचों कारण शरीर, वाणी और मन के द्वारा कृत शास्त्रीय और अशास्त्रीय समस्त कार्यों की सिद्धि के लिए अत्यन्त आवश्यक है।[2] 'प्रवृत्तिवग्बुिद्धिशरीरारम्भः' अर्थात् शारीरिक, वाचिक और मानसिक समस्त कर्मों का कारण ये पंच समुदाय ही है।[3] इस प्रकार आत्मा तो अकर्ता ही हुआ। वस्तुतः समस्त कर्म शरीर, वाणी, आदि के रुप मे परिणत हुई प्रकृति के द्वारा ही किये जाते है कर्मों का प्रेरक और कर्म का आश्रय दोनो ही कारकरूप और त्रिगुणात्मक है।

कर्ता के तीन प्रकार

सत्व, रजस् और तमस् प्रकृति के इन तीन गुणो के अनुसार कर्मों का कर्ता भी सात्विक राजस, तामस के भेद से तीन प्रकार होते हैं।

सात्विक कर्ता के लक्षणों को बताते हुए भगवान ने कहा कि[4] जो मनुष्य फल की इच्छा से शून्य, कर्तव्य के अभिज्ञान से रहित, धैर्य और उत्साह से युक्त होता है, तथा जो कर्म की सफलता और असफलता पर हर्ष और विषादान्वित नहीं होता, वही **'सात्विक कर्ता'**

---

1 'सुमति कुमति सब के उर रहहीं' (मानस, सुन्दरकाण्ड 40/3)

2 शरीरवाड्गनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नर.। न्याय्य वा विपरीत वा पञ्चैते तस्य हेतव ।। श्रीमद्0 18/15

3 ''न्याय-दर्शनम्'8 - 9/9/7

4 मुक्तसङ्गोऽनहवादी धृत्युत्साहसमन्वित । सिद्धयसिद्धयोर्निर्विकार कर्ता सात्विक उच्यते।। श्रीमद्0 18/26

है। जैसे सांख्य योगी का कर्मो के साथ राग नहीं होता, ऐसे ही सात्विक कर्ता का भी राग नहीं होता। कामना, वासना, आसक्ति, स्पृहा, ममता आदि से अपना सम्बन्ध जोडने के कारण ही वस्तु व्यक्ति, पदार्थ, परिस्थिति, घटना आदि मे आसक्ति तथा लिप्तता रहती है। सात्विक कर्ता इस लिप्तता से दूर रहता है। पदार्थ, वस्तु और परिस्थिति आदि को लेकर अपने में जो एक विशेषता का अनुभव करना है-यह अहंवदनशीलता है। यह असुरी सम्पत्ति होने से अत्यन्त निकृष्ट है। सात्विक कर्ता मे यह नहीं रहता। इस प्रकार का अहकार, अभिमान सात्विक कर्ता में नहीं रहता है। कर्तव्य कर्म करते हुए विघ्न- बाधाएँ आ जाये, उस समय जैसा धैर्य रहता है वैसा ही रहे इसे धृति कहते है। सात्विक कर्ता में इस प्रकार का धैर्य और उत्साह सदैव रहता है। सिद्धि और असिद्धि में अपने कार्य मे किसी प्रकार का विघ्न न आ जाये और यदि आ भी जाये तो मन में हर्ष, शोक और प्रसन्नता, खिन्नता न हो, यही सिद्धि-असिद्धि मे निर्विकार होना है। ऐसा आसक्ति, अहंकार से रहित, धैर्य तथा उत्साह से युक्त और सिद्धि, असिद्धि मे निर्विकार कर्ता 'सात्विक' कहलाता है। गीता मे सिद्धि-असिद्धि मे निर्विकार, सम रहने की बाते तीन बार आयी है-'सिद्धयोसिद्धयो समो भूत्वा' (2/48) 'समः सिद्धावसिद्धौ च' (4/22), और यहां पर सिद्धयसिद्धयोर्निर्विकारः। तात्पर्य है कि सिद्धि-असिद्धि हाथ की बात नहीं है, पर उसमें निर्विकार रहना हाथ की बात है। जो हाथ की बात है, उसको ठीक करना है।

जो कर्ता आसक्ति से युक्त, कर्मो के फल को चाहने वाला और लोभी है तथा दूसरों को कष्ट देने के स्वभाव वाला, अशुद्धाचारी और हर्ष-शोक से लिप्त है वह राजस कर्ता है।[1] यहां राजसी कर्ता के लक्षणों का वर्णन करते हुए बताया है कि जो मनुष्य रागी अर्थात् कर्मों में, कर्मों के फलों में तथा वस्तु, पदार्थ आदि में मन आ जाता है वह रागी होता है। ऐसा मनुष्य कोई भी काम करता है तो वह उसके फल की इच्छा अवश्य करता है जैसे; मैं किसी को दान दे रहा हूँ तो उससे मेरा धन, मान बढ़ेगा और परलोक में भी सुख मिलेगा या मैं दवाई खा रहा हूँ तो मेरा शरीर निरोग होगा। राजसी मनुष्य लोभी होता है उसे जो कुछ मिलता रहे उसी मे सन्तोष नहीं मिलता, प्रत्युत 'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई' की तरह 'और मिलता रहे और मिलता रहे।' वह हिंसा के स्वभाव वाला होता है, इसलिए दूसरो के

1. रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिसात्मकोऽशुचि । हर्षशोकान्वित कर्ता राजस परिकीर्तित ।। श्रीमद्0 18/27

दुःख की परवाह नहीं करता है। राजस मनुष्य अशुद्ध (अपवित्र) और सफलता-असफलता, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति, घटना आदि को लेकर वह हर्ष-शोक, राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि मे उलझा रहता है।

इस प्रकार राजसकर्ता सात्विक कर्ता के विपरीत है इसमें मनुष्य फलामिलाषी, कर्तव्य के अभिनिवेश से युक्त होता है, तथा जो कर्मों की सफलता-असफलता पर हर्षित तथा विषादान्वित होता है, दूसरों के धन को प्राप्त करने की इच्छा रखता है राजसकर्ता है।

इन दोनो प्रकार के मनुष्यो सात्विककर्ता और राजसिककर्ता से भिन्न तामसकर्ता वह होता है? जो अपने कर्मों के विषयों से असावधान रहता है तथा विवेक ज्ञान और नम्रता से शून्य, जो अपनी शक्ति को छिपाकर रखता है और जिद्दी, दूसरो का अपमान करने वाला, आलसी, विषादी होता है।[1] जो मनुष्य अयुक्त है, वह कर्तव्य-अकर्तव्य के विषय में सोचता नहीं, उसका चित्त कहीं एक जगह नहीं स्थिर रहता है। जिस मनुष्य ने शास्त्र, सत्सग, अच्छी शिक्षा, उपदेश आदि से न तो अपने जीवन को ठीक बनाया है और न अपने जीवन पर कुछ विचार ही किया है, मा-बाप ने जैसा पैदा किया, वैसा ही कोरा अर्थात् कर्तव्य-अकर्तव्य की शिक्षा से रहित है, अशिक्षित है। तमोगुण की प्रधानता के कारण मन में, शरीर में अकड़ रहती है इसलिए वह अपने वर्ण-आश्रम में बड़े-बूढ़े माता-पिता, गुरु, आचार्य आदि के सामने झुकता नहीं। वह मन, वाणी, शरीर से कभी सरलता और नम्रता का व्यवहार नहीं करता, बल्कि कठोर व्यवहार करता है। ऐसा मनुष्य स्तब्ध या ऐंठ-अकड़वाला कहलाता है। अपनी जिद् के कारण ही दूसरों की दी हुई शिक्षा को, अच्छे विचार को नहीं मानता, उसे अज्ञानता के कारण अपने ही विचार अच्छे लगते हैं। इसलिए वह हठ[2] (जिद्दी) कहलाता है। दूसरों के काम को काटना या छेद करना ही नैष्कृतिक है। अपने वर्णाश्रम के अनुसार आवश्यक कर्तव्य कर्म प्राप्त हो जाने पर भी तामस मनुष्य को मुढ़ता के कारण वह कर्म करना अच्छा नहीं लगता, प्रत्युत सांसारिक निरर्थक बातो में पड़े-पड़े सोचते रहना, अथवा

---

1. आयुक्तः प्राकृत· स्तब्ध शठोऽनैष्कृतिकोऽलस·। विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते।। श्रीमद्0 11/28
2. मूर्खस्य पञ्च चिह्मनि गर्वी दुर्वचनी तथा। हठी चाप्रियवादी च परोक्त चैव मन्यते।।

नींद में पड़े रहना अच्छा लगता है। इसलिए उसे आलसी कहते हैं। यद्यपि तामस मनुष्य मे यह विचार होता ही नहीं कि क्या कर्तव्य होता है और क्या अकर्तव्य होता है तथा निद्रा, आलस, प्रमाद आदि में शक्ति का, मेरे जीवन का अमूल्य समय नष्ट हो रहा है, तथापि अच्छे मार्ग से और कर्तव्य से च्युत होने से उसके भीतर स्वाभाविक ही एक विषाद (दुःख, अशान्ति) होता रहता है। हर समय केवल दुःख ही दुःख देखता है, वह विषादी कहलाता है। हर काम को या तो टालता रहता है। या हर काम देर लगा देता है ऐसा मनुष्य दीर्घसूत्री कहलाता है।

इस प्रकार उपयुक्त आठ लक्षणों वाला तामसकर्ता कहलाता है। 26, 27, 28वे श्लोक में जितनी बातों का वर्णन किया गया है वह सभी कर्ता को लेकर है। कर्ता के जैसे लक्षण होते है, उन्हीं के अनुसार वह काम करता है। कर्ता जिन गुणों को स्वीकार करता है, उन गुणों के अनुसार ही कर्मो का रुप होता है। कर्ता जिस साधन को करता है, वह साधन कर्ता का रुप हो जाता है। कर्ता के आगे जो कारण होते हैं, वे भी कर्ता के अनुरुप हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जैसा कर्ता होता है वैसा ही कर्म, करण आदि। कर्ता सात्विक, राजस अथवा तामस होगे।

सात्विक कर्ता अपने कर्म, बुद्धि को सात्विक बनाकर सात्विक सुख का अनुभव करते हैं और असंगतापूर्वक परमात्मा से अभिन्न हो जाते हैं।[1] कारण यह है कि सात्विक कर्ता का ध्येय परमात्मा की प्राप्ति होती है। इसलिए वह कर्तृत्वमोक्तृत्व से रहित होकर चिन्मय तत्व से भी अभिन्न हो जाता है, क्योंकि वह तात्विक स्वरुप से अभिन्न ही था। परन्तु राजस-तामस कर्ता राजस-तामस कर्म, बुद्धि आदि के साथ तन्मय होकर राजस-तामस सुख में लिप्त हो सकता है। इसलिए वह परमात्मतत्व से अभिन्न नहीं हो सकता। कारण कि राजस-तामस कर्ता का उद्देश्य परमात्मा नहीं होता और उसमें जड़ता का बन्धन अधिक होता है। इस प्रकार गीता में तीन प्रकार के कर्म बताये, सात्विक राजस और तामस। कर्म करने वाला भव सात्विक होगा तो वे कर्म सात्विक, भाव राजस होगा तो कर्म राजस, भाव तामस होगा तो वे कर्म तामस हो जायेंगे। इसलिए केवल रजोगुण ही क्रिया नहीं है।

---

1 'दुखान्त च निगच्छति'- गीता (18/36)

कर्म-अकर्म का ज्ञान कराने वाली बुद्धि के तीन प्रकार

कर्म करने में इन्द्रियो को आदि करण माना, और उन इन्द्रियों मे बुद्धि की प्रधानता रहती है। सभी इन्द्रियॉ बुद्धि के अनुसार ही काम करती है। मानव जो कुछ भी करता है बुद्धिपूर्वक ही करता है अर्थात् ठीक सोच-समझकर ही किसी कार्य में प्रवृत्त होता है। मनुष्य के सात्विक, राजस और तामस कर्म करने का कारण यह भी है कि वह सात्विक, राजस और तामस बुद्धियो से प्रेरित होकर कार्य करता है। इसलिए तीन प्रकार के कर्ताओं के समान कर्मों में प्रवृत्त कराने वाली बुद्धि भी तीन प्रकार की होती है।

श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय 18 के तीसवे श्लोक[1] मे सात्विक बुद्धि के लक्षणों को बताते हुए कहा प्रवृत्ति और निवृत्ति साधक की दो अवस्थाएं है। कभी वह संसार मे काम करता है तो यह प्रवृत्ति अवस्था है, कभी वह काम छोड़ देता है और एकान्त में भजन ध्यान करता है, तो यह निवृत्ति अवस्था है। केवल बुद्धि ही प्रवृत्ति और निवृत्ति के भेद को समझती है। शास्त्र, वर्ण, आश्रम की मर्यादा के अनुसार जो काम किया जाता है, वह **'कार्य'** है और शास्त्र आदि मर्यादा के विरूद्ध जो काम है वह **'अकार्य'** है। जिसको हम कर सकते है, उसे जरूर करना चाहिए, और जिसको करने से जीव का जरूर कल्याण होता है, वह कार्य अर्थात् **कर्तव्य** कहलाता है, जिसको हमें नहीं करना चाहिए तथा जिससे जीव का बन्धन होता है, वह अकार्य अर्थात् **अकर्तव्य** कहलाता है। जो इस बात को समझती है किससे डरना (भय) चाहिए और किससे नहीं डरना (अभय) चाहिए। जो बाहर से तो यज्ञ, दान, तीर्थ, व्रत आदि उत्तम से उत्तम कार्य करता है। भीतर से असत्, जड़, नाशवान पदार्थों को और स्वर्ग आदि लोकों को चाहता है, उसके लिए वे सभी कर्म बन्धन होते है। केवल परमात्मा से ही संबंध रखना और परमात्मा के अलावा कभी किसी से भी संबंध नहीं रखना **मोक्ष** है। निष्कर्ष यह है कि सांसारिक वस्तुओं की कामना से ही बन्धन होता है और परमात्मा के सिवाय किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, देश, काल आदि की कामना न होने से मुक्ति होती है। यदि मन में कामना है तो वस्तु पास मे हो तो बन्धन और पास में न हो तो बन्धन। यदि मन में कामना नहीं है तो वस्तु पास में हो तो मुक्ति और पास में न हो तो मुक्ति।

---

1 प्रवृत्ति च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयामये। बन्ध मोक्ष च या वेत्ति बुद्धि सा पार्थ सात्विकी।। श्रीमद्0 18/30

इस प्रकार जो प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय और बन्धन मोक्ष का वास्तविक तत्व को जानती है, वह बुद्धि सात्विकी है। क्योंकि उस बुद्धि के द्वारा मनुष्य सात्विक विषयों का ज्ञान करता है।

राजसी बुद्धि के लक्षणों को श्रीमद् भगवद्गीता के अध्याय 18, श्लोक 31 में[1] कहा शास्त्रों ने जो कुछ विधान किये है वह **'धर्म'** है अर्थात् शास्त्रों ने जिसकी आज्ञा दी है वह धर्म और जिसका निषेध किया वह **'अधर्म'** है अर्थात् शास्त्रों ने जिसकी आज्ञा नहीं दी। वास्तव में धर्म वह है जो जीव का कल्याण कर दे और अधर्म वह है जो जीव को बन्धन में डाल दें। वर्ण, आश्रम, देश, काल, लोक, मर्यादा, परिस्थिति आदि के द्वारा शास्त्र की आज्ञानुसार जो कर्म किये जाते हैं, वह हमारे लिए कर्तव्य है। न करने लायक काम को करना अकर्तव्य है। जैसे; भीख माँगना, यज्ञ, विवाह आदि कराना कर्म ब्राह्मण के लिए तो कर्तव्य है, पर क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के लिए अकर्तव्य है। राजसी बुद्धि मे राग होने से स्वार्थ, पक्षपात, विषमता आदि दोष आ जाते हैं। इन दोषों के रहते हुए बुद्धि धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य, भय-अभय, बन्धन-मोक्ष आदि वास्तविक तत्व को ठीक-ठीक नहीं जान सकता।

ईश्वर की निन्दा करना, शास्त्र, वर्ण, आश्रम, और लोक मर्यादा के विपरीत काम करना, माता-पिता के साथ अच्छा बर्ताव न करना, सन्त, महात्मा, गुरु आचार्य आदि का अपमान करना, झूठ, कपट, बेइमानी, आदि शास्त्रनिषिद्ध पाप-कर्मों को धर्म मानना-यह सब अधर्म को धर्म मानना है। इसके विपरीत शास्त्र, वर्ण, आश्रम की मर्यादा में चलना, माता-पिता की आज्ञा का पालन करना, तन-मन धन से सेवा करना, सन्त महात्मा, गुरु आदि के उपदेशों के अनुसार कर्म करना, आदि शास्त्रविहित कर्मों को उचित न मानना यह धर्म को अधर्म मानना है। आत्मा को स्वरुप न मानकर शरीर को स्वरूप मानना, ईश्वर को न मानकर दृश्य जगत् को सच्चा मानना, दूसरो को नीच समझकर अपने में उच्च्य समझना, दूसरों को मूर्ख और अपने को ज्ञानी आदि को उल्टा मानना। इस प्रकार तमोगुण से आवृत्त जो वृद्धि अधर्म को धर्म, धर्म को अधर्म, अच्छे को बुरा, सीधे को उल्टा मानती है वह

---

1. यथा धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च। अयाथवत्प्रजानाति बुद्धि सा पार्थ राजसी।। श्रीमद्0 (18/31)

तामसी बुद्धि है।[1] यह तामसी बुद्धि ही मनुष्य को अधोगति (पत्तन) में ले जाती है।* इसलिए अपना उद्धार चाहने वाले को इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

जिनकी बुद्धि तामसी हो जाती है उनको व्यवहार में और परमार्थ में सब जगह उल्टा दिखता है। इसका उदाहरण वर्तमान समय में स्पष्ट दिखता है जैसे- पशु के विनाश को 'मांस का उत्पादन' कहा जाता, स्त्रियों की मर्यादा के नाश को 'नारी मुक्ति', पहले स्त्री घर की स्वामिनी होती थी, अब घर से बाहर नौकरी करने लगी इसे 'नारी की स्वाधीनता' कहा। इस प्रकार पराधीनता को स्वाधीनता का लक्षण माना जाता है। नैतिक पत्तन को उन्नति की सज्ञा दी जाती है। पशुता को सभ्यता का चिन्ह माना जाता है। जब विनाशकाल समीप आता है, तभी ऐसी विपरीत, तामसी बुद्धि पैदा होती है-'विनाशकाले विपरीत बुद्धि', 'बुद्धिनाशात्प्रणश्यति' गीता (2/63)। मनुष्य इन्हीं विभिन्न प्रकार की बुद्धियों के द्वारा धर्माधर्म में प्रवृत्त होता है।

कर्म से फल प्राप्ति एवं कर्म फल का अनित्यत्व

मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसको वैसा ही फल मिलता है। यदि मनुष्य शुभ कर्म करता है तो उसे शुभ-फल की प्राप्ति होती है और यदि अशुभ कर्म करता है। तो उसे अशुभ फल की प्राप्ति होती है। कर्मो का फल मनुष्य को अवश्य मिलता है। कर्मों का फलरूप शरीरादि मनुष्य को भोग रुप से प्राप्त होता है। इससे पता चलता है कि मनुष्य को उसके कृत कर्मों का फल आवश्य मिलता ही है। यह <u>'कर्मों का फल' तीन प्रकार का होता है-</u>[2] (1) **इष्ट** (2) **अनिष्ट** (3) **मिश्र**। जिस परिस्थिति को मनुष्य चाहता (इच्छा) है, वह 'इष्ट' कर्मफल है, जिस परिस्थिति को मनुष्य नहीं चाहता वह 'अनिष्ट (अनिच्छा) कर्मफल है और जिसमें कुछ भाग इष्ट का और कुछ भाग अनिष्ट का है, वह 'मिश्रित' कर्म फल है। वास्तव में देखा जाये तो संसार में मिश्रित फल ही होता है; जैसे-धन होने से अनुकूल (इष्ट) और प्रतिकूल (अनिष्ट) दोनो ही परिस्थितियां आती है। धन से जीवन चलता है यह अनुकूलता है और टैक्स लगता है, धन नष्ट हो जाता है, छिन जाता है- यह प्रतिकूलता है।

---

1. अधर्म धर्मामिति या मन्यते तमसावृता। सर्वार्थानिवपरीताश्च बुद्धि: सा पार्थ तामसी।। (18/32)

* 'अधो गच्छन्ति तामसा' गीता (14/18)

2 "अनिष्ट इष्टं मिश्र च त्रिविध कर्मण फलम्।" श्रीमद्0 (18/12)

तात्पर्य यह है कि इष्ट में आंशिक अनिष्ट और अनिष्ट में आशिक इष्ट रहता ही है। इस प्रकार मनुष्य को उसके पाप एवं पुण्य कर्मों के फल तीन प्रकार से मिलते हैं। वैसे तो मनुष्य पाप या पुण्य जैसा भी कर्म करता है, उसको उसके कर्म का अशुभ या शुभ वैसा ही फल मिलता है। पुण्य कर्मों को फल भी सत्व, रजस् और तमस् प्रकृति के इन तीन गुणो के अनुसार सात्विक, राजस् और तामस् तीन प्रकार का होता है। यह ऐसा सुख होता है कि दीर्घकाल तक रहने के कारण मनुष्य इसमे लीन हो जाता है जिससे उसके दुःख का अन्त हो जाता है।

[1]सुख तीन प्रकार का होता है। इन तीनों में सात्विक सुख ही ग्रहण करने योग्य है। राजस-तामस् सुखों का मनुष्य को त्याग करना चाहिए। क्योंकि सात्विक सुख ही मनुष्य को परमात्मा की तरफ ले जाता है और राजस्-तामस सुख संसार में फंसाकर पतन करने वाला होता है। सात्विक सुख में अभ्यास से रमण होता है। साधारण मनुष्य को अभ्यास के बिना इस सुख का अनुभव नहीं होता। राजस्-तामस् सुख में अभ्यास नहीं करना पड़ता। उसमें तो प्राणिमात्र का स्वतः स्वाभाविक ही आकर्षण होता है। यहां पर रमण करने का अर्थ है सात्विक सुख मे अभ्यास से ही रुचि, प्रियता, रुचि बढ़ती जाती है, तब परिणामों में दुःखों का नाश लेता जाता है और प्रसन्नता, सुख तथा आनद बढ़ते जाते हैं। जब सात्विक सुख में रमण होगा, अर्थात् साधक सात्विक सुख लेता रहेगा, तब तक दुःखों का अत्यन्त अभाव नहीं होता। कारण है सात्विक सुख भी परमात्म विषयक बुद्धि की प्रसन्नता से पैदा हुआ-आत्मबुद्धिप्रसादजम् जो उत्पन्न होता है, वह नष्ट भी अवश्य होता है। ऐसे सुख से दुःखों का अन्त कैसे होगा? इसलिए सात्विक सुख में भी आसक्ति नहीं होनी चाहिए। सात्विक सुख से भी ऊँचा उठने से मनुष्य दुःखों के अन्त को प्राप्त हो जाता है, गुणातीत हो जाता है। सात्विक सुख परोक्ष है उसका अभी अनुभव नहीं हुआ। अभी तो केवल उस सुख का केवल उद्देश्य बनाया है, जबकि राजस-तामस सुख का अभी अनुभव होता है। इसलिए अनुभवजन्य राजस और तामस सुख का त्याग करने में कठिनता आती है और लक्ष्य रुप में जो सात्विक सुख है, उसकी प्राप्ति के लिए हुआ रसहीन परिश्रम (अभ्यास) आरम्भ मे विष

1. अभ्यासाद्रमते यत्र दु.खान्त च निगच्छति।।
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्। तत्सुख सात्त्विक प्रोक्तात्मबुद्धिप्रसादजम्।। श्रीमद्0 (18/36-37)

की तरह लगता है। तात्पर्य यह है कि अनुभवजन्य राजस और तामस सुख का तो त्याग कर दिया और लक्ष्य वाला सात्विक सुख मिला नहीं उसका रस अभी मिला नहीं, इसलिए वह सात्विक सुख आरम्भ में जहर की तरह प्रतीत होता है।

राजस और तामस सुख को अनेक योनियों में भोगते हैं और इसे जन्म में भी भोगा है। उस भोगें हुए सुख की स्मृति आने से राजस और तामस सुख मे स्वाभाविक ही मन लग जाता है। परन्तु सात्विक सुख उतना भोगा हुआ नहीं है, इसलिए इसमे जल्दी मन नहीं लगता। इस कारण सात्विक सुख आरम्भ मे विष की तरह लगता है।

वास्तव में सात्विक सुख विष की तरह नहीं है, बल्कि राजस और तामस सुख का त्याग विष की तरह होता है। जैसे, बालक को खेल-कूद छोडकर पढ़ाई में लगाया जाये तो उसको पढ़ाई में कैदी की तरह होकर अभ्यास करना पड़ता है। पढ़ाई में मन नहीं लगता तथा इधर उच्छृङ्खलता, खेलकूद छूट जाता है, तो उसको पढ़ाई विष की तरह मालूम देती है। परन्तु वही बालक पढ़ता रहे और एक दो परीक्षाओ में पास हो जाये तो उसका मन पढ़ाई में लग जाता है अर्थात् उसको पढ़ाई अच्छी लगने लगती है। तब उसकी पढ़ाई में रुचि, प्रियता हो जाती है। वास्तव में देखा जाये तो सात्विक सुख आरम्भ में विष की तरह उन्हीं लोगों के लिए होता है, जिनका राजस और तामस सुख में राग है। परन्तु जिनको सांसारिक भोगों से स्वाभाविक वैराग्य है, जिनकी पारमार्थिक शास्त्राध्ययन, सत्संग, कथा कीर्तन, साधन-भजन आदि मे स्वाभाविक रुचि है और जिनके ज्ञान, कर्म, बुद्धि और धृति सात्विक है। उन लोगों को सात्विक सुख आरंभ से ही अमृत के समान लगता है। आनन्द प्रदान करता है। उनको इससे कष्ट, परिश्रम कठिनता आदि मालूम ही नहीं देते। साधन करने से साधक में सत्वगुण आता है। सत्वगुण आने से इन्द्रियाँ, ज्ञान आदि सद्गुण प्रकट होते हैं। इन सद्गुणों के प्रकट होने का अर्थ है सात्विक सुख के परिणाम में अमृत का होना। यहां तीन प्रकार के सुख का वर्णन करते हुए जिसमें अभ्यास से रमण होता और जिससे दुःखो का अन्त हो जाता है, ऐसा वह परमात्मविषयक, बुद्धि की प्रसन्नता से पैदा होने वाले जो सुख (सांसारिक आसक्ति के कारण) आरम्भ में विष के समान और परिणाम में अमृत की तरह होता है वह सुख **'सात्विक सुख'** कहा जाता है।[1]

1. विषयेन्द्रियसयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्। परिणामे विषमिव तत्सुख राजस स्मृतम्।। श्रीमद्०, अध्याय 18, श्लोक 38

श्रीमद् भगवद्गीता में अध्याय 18 के श्लोक 38 में राजसुख का वर्णन करते हुए जो सुख इन्द्रियों और विषयो के संयोग से होता है, वह आरम्भ में अमृत की तरह सुख और परिणाम मे विष की तरह घातक प्रतीत होता है, वह सुख **'राजस सुख'** कहलाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि विषयों और इन्द्रियों के संयोग से होने वाले सुखों में अभ्यास नहीं करना पड़ता। इसका कारण यह है कि प्राणी किसी भी योनि में जाता है, वहां उसको विषयो और इन्द्रियों के संयोग से होने वाले सुख तो मिलते ही है। शब्द, स्पर्श आदि पांचों सुख पशु-पक्षी, कीट पतंग आदि सभी प्राणियो को मिलते ही है। अत· इस सुख मे प्राणिमात्र का आभास रहता है। मनुष्य जीवन मे भी बचपन से देखा जाये तो अनुकूलता मे राजी होना और प्रतिकूलता मे नाराज होना स्वाभाविक होता है। इसलिए इस राजस सुख मे अभ्यास की जरुरत नहीं पड़ती। इस राजस सुख को आरम्भ मे अमृत के समान लगता है ऐसा कहने का भाव यह है कि सांसारिक विषयों की प्राप्ति की सम्भावना के समय मन में जितना सुख होता है, उतना सुख किसी अन्य (मस्ती) के समय नहीं होता। अमृत की तरह कहने का दूसरा भाव यह है कि जब मन विषयों मे खिंचता है, तब मन को वे विषय बड़े प्यारे लगते है। विषयो और भोगो की बातें सुनने मे जितनी अच्छी लगती है, उतना भोगों में अच्छी नहीं लगती। इसलिए गीता में कहा गया।[1] राजस सुख स्वर्ग के भोगो का सुख सुनते हैं तो उनको वह सुख बड़ा प्रिय लगता है और वे उसके लिए ललचा उठते हैं। आरम्भ में तो विषय बड़े ही सुन्दर लगते है, उनमें बड़ा सुख मालूम पड़ता है, परन्तु उनको भोगते-भोगते जब परिणाम मे वह सुख नीरसता में परिणत हो जाता है, उस सुख में बिल्कुल अरुचि हो जाती है तब वहीं विष की तरह मालूम देता है। अर्थात् दुःख देता है।

राजस सुख के बाद 'तामस सुख' वह है जो सुख आरम्भ में भी और परिणाम में भी अपने को मोहित करने वाला है, क्योंकि यह सुख निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न होता है।[2] जब राग अत्यधिक बढ़ जाता है तब वह तमोगुण का रुप धारण कर लेता है। इसी को 'मोह' कहते हैं। मोहवश मनुष्य अधिक सोता है। अधिक सोने वाले मनुष्यों को

---

1. ''यामिमा पुष्पिता वाच प्रवदन्त्यविपश्चितः।।'' श्रीमद्0 2/42
2 यदग्रे चानुबन्धे च सुख मोहनमात्मन·। निद्रालस्यप्रमादोत्थ तत्तामसमुदाहृतम्।। श्रीमद्0 18/39

गहरी नींद नहीं आती और स्वप्न अधिक आते है। तामस मनुष्यो को इसी में सुख मिलता है। तमोगुण बढ़ जाने पर मनुष्य की वृत्तियां भारी हो जाती है। फिर वह आलस्य में समय बरबाद कर देता है। आवश्यक काम आने पर कह देता है फिर कर लेगे। अभी तो आराम कर रहे हैं। इस प्रकार आलस्य अवस्था मे उसे सुख मालूम पड़ता है। तमोगूढ़ के अत्यधिक बढ़ जाने पर मनुष्य प्रमाद करने लगता है। 'प्रमाद' दो प्रकार का होता है- **'अक्रिय प्रमाद'** और **'सक्रिय प्रमाद'**। प्रमाद के कारण तामस पुरुषों को निरर्थक समय बरबाद करने मे तथा झूठ, कपट, बेइमानी आदि करने में सुख मिलता है।

जब तमोगुणी में प्रमाद वृत्ति आती है, तब वह सत्व गुण के विवेक ज्ञान को ढक देती है और जब निद्रा आलस्य वृत्ति आती है, तब वह सत्वगुण के प्रकाश को ढक देती है। विवेक ज्ञान के ढकने पर प्रमाद होता है तथा प्रकाश के ढकने पर आलस्य, निद्रा आदि होती है। तामस पुरुष को निद्रा, आलस्य और प्रमाद तीनों से सुख मिलता है, इसलिए तामस सुख को इन तीनों से उत्पन्न बताया गया है। यदि मनुष्य पुण्य कर्म करता है तो उसे शुभ-फल की प्राप्ति होती है और यदि पाप कर्म करता है, तो उसे अशुभ फल की प्राप्ति होती है। मनुष्य अपने पुण्य कर्मों के फल स्वरूप ही इन्द्रलोक या स्वर्गलोक को पाकर देवताओ के दिव्य भोगों को भोगता है।[1]

प्रकृति के सत्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों के अनुरूप होने वाले सात्विक, राजस् और तामस् इन तीन प्रकार के कर्मों का फल भी अलग-अलग होता है। सात्विक राजस् और तामस् इन तीन प्रकार के कर्मों का फल भी उच्च्य, मध्यम और अधम इस तीन श्रेणियों का होता है। सत्वगुण का स्वरूप निर्मल, स्वच्छ, निर्विकार है। अतः सत्वगुण वाला कर्ता जो कर्म करेगा, वह कर्म सात्विक ही होगा, क्योंकि कर्म कर्ता का ही रूप होता है। सात्विक कर्म करने वाले लोग सध्यलोक पर्यन्त देवलोक में जाते हैं। वे कर्म और ज्ञान के तारतम्य से देवताओं में जन्म लेते है। रजोगुण का स्वरूप रागात्मक है। अतः राग वाले कर्ता के द्वारा जो कर्म होगा, वह कर्म भी राजस ही होगा, और राजस कर्म का फल भोग होगा। तात्पर्य यह है कि राजस कर्म से पदार्थों का भोग होगा, शरीर में सुख-आराम आदि का भोग

1. "ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यन्दिवि देवभोगान्।।" श्रीमद्0, 9/20

होगा, संसार मे आदर-सत्कार आदि का भोग होगा, और मरने के बाद स्वर्गादि लोकों के भोगों की प्राप्ति होगी। ये सारे सम्बन्ध जन्य भोग दुःख के कारण है।[1] राजस कर्म जन्म मरण देने वाले है इसी दृष्टि से राजस कर्म का फल दु.ख कहा जाता है। तमोगुण का स्वरूप मोहनात्मक है। अतः तमोगुण या तामस कर्म का फल अज्ञान या मूढ़ता ही होता है। तामस कर्म करने वाले पुरूष पशु आदि निष्कृष्ट योनियो में जन्म लेते हैं। इस श्लोक का निष्कर्ष यह है कि सात्विक पुरुष के सामने कैसी परिस्थिति आ जाये, पर उसको दुःख नहीं हो सकता। राजस पुरुष के सामने कैसी भी परिस्थिति आ जाये, उसे सुख नहीं हो सकता। तामस पुरुष के सामने कैसी ही परिस्थिति आ जाये, पर उसका विवेक जागृत नहीं होता।[2] कल्याणकारी कर्म करने वाले मनुष्य की दुर्गति नहीं होती। अर्थात् जो मनुष्य कल्याण करने वाला है, किसी भी साधन से सच्चे हृदय से परमात्मतत्व की प्राप्ति करना चाहता है, ऐसे किसी भी साधक की दुर्गति नहीं होती। शुभ कर्मों को करने वाले कर्ता को शुभ फल की प्राप्ति होती है। शुभ कर्म करने वाला होने से योगभष्ट का दोनों लोकों में ही नाश नहीं होता। अर्थात् न तो वह इस लोक मे ही अपकीर्ति को प्राप्त करता है और न परलोक में ही कीटादि रुप नरक को प्राप्त होता है। शास्त्रविहित कर्मों का आचरण करने वाला पुरुष अशुभ कर्मों के फलस्वरूप दुर्गति को कभी नहीं प्राप्त होता है। शुभ आचरण करने वाला होने से सदैव शुभ फल की ही प्राप्ति करता है।[3]

जो लोग शास्त्रीय विधि से यज्ञ आदि कर्मों का सागोपान करते हैं, उन लोगों का स्वर्गादि लोकों पर अधिकार होता है, इसलिए उन लोकों को **'पुण्यकर्म करने वालों के लोक'** कहा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि उन लोकों में पुण्य कर्म करने वाले ही जाते हैं, पाप कर्म करने वाले नहीं। परन्तु जिन साधकों को पुण्य-कर्मों के फलस्वरूप सुख भोगने की इच्छा नहीं है, उनको वे स्वर्गादि लोक विघ्न रुप में और मुक्त मे मिलते हैं। स्वर्गादि ऊँचे लोकों में यज्ञादि शुभ कर्म करने वाले भी (भोग भोगने के उद्देश्य से) जाते हैं और योग भष्ट भी हो जाते हैं। भोग भोगने के उद्देश्य से स्वर्ग में जाने वालों के पुण्य क्षीण होते है। और पुण्यों

---

1 'ये हि सस्पर्शजा भोगा दु:खयोनय एवते।' गीता 5/22

2 कर्मण सुकृतस्याहुः सात्विकं निमल फलम्। रजसस्तु फल दु खमज्ञान तमस. फलम्।। श्रीमद्0 14/16
उर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था मध्येतिष्ठन्ति राजसा । जघन्यगुणवृत्तिस्था अधोगच्छन्ति तामसा·।। 14/18

3 'न हि कल्याणकृत्कश्चिदुर्गतिं तात गच्छति।।' गीता 6/40

के क्षीण होने पर उन्हें लौटकर मृत्युलोक में आना पड़ता है। इसलिए वे वहां सीमित वर्षों तक ही रह सकते हैं। परन्तु जिसका उद्देश्य भोग-भोगने का नहीं है, प्रत्युत परमात्म प्राप्ति का है। वह भोग भ्रष्ट किसी सूक्ष्म वासना के कारण स्वर्ग मे चला जाये, तो वहां उसकी साधन सम्पत्ति क्षीण नहीं होती। इसलिए वह वहॉ असीम वर्षों तक रहता है अर्थात् उसके लिए वहां रहने की कोई सीमा नहीं होती। स्वर्गादि लोकों में भोग भोगने पर जब भोगों से अरुचि हो जाती है, तब वह योगभ्रष्ट लौटकर मृत्युलोक में आता है और शुद्ध श्रीमानों के घर में जन्म लेता है।

अर्थात् अश्वमेघादि यज्ञरुप पुण्य कर्म जो मनुष्य करते है वे स्वर्गादि लोको को जाते है, शुभ कर्मों को करने वाला योगभ्रष्ट पुरुष उन लोकों को पाकर वहां बहुत वर्षों तक निवास करके सदाचारी धनवानों के घर में जन्म लेते हैं। यह जन्म उसे उसके पुण्य कर्मों के फलस्वरूप ही मिलता है।[1]

जो परमात्मतत्व को प्राप्त कर चुका है जिसकी बुद्धि परमात्मतत्व में स्थिर हो गयी, ऐसे तत्वज्ञ जीव मुक्त बुद्धिमान योगियों के कुल मे वैराग्यवान योग भ्रष्ट जन्म लेता है। यहां पर श्रुति कहती है कि ब्रह्मज्ञानी के कुल मे कोई भी ब्रह्मज्ञान से रहित नहीं होता अर्थात् सभी ब्रह्मज्ञानी होते हैं।* उसका जन्म साक्षात् जीवन्मुक्त योगी महापुरुष के कुल में ही होता है। योगभष्ट साधकों का योगियों के कुल में जन्म होना इस लोक में बहुत ही दुर्लभ है। तात्पर्य है कि शुद्ध सात्विक राजाओं के धनवानों के और प्रसिद्ध गुणवानों के घर में जन्म होना भी दुर्लभ माना जाता है, पुण्य का फल माना जाता है, फिर तत्वज्ञ जीवन्मुक्त योगी महापुरुषों के यहॉ जन्म लेना तो दुर्लभतर बहुत ही दुर्लभ है। कारण यह है कि उन योगियो के कुल में, घर में स्वाभाविक ही पारमार्थिक, वायुमण्डल रहता है। वहॉ सांसारिक भोगों की चर्चा ही नहीं होती। इसलिए शुभाचारी योगभष्ट साधक अपने पुण्यकर्मों के फलस्वरूप बुद्धिमान् ज्ञानियों के कुल में जन्म लेता है। इस प्रकार से योग भष्ट साधक की साधना व्यर्थ नहीं जाती है, उसके शुभ कर्मों का शुभ फल उसे अवश्य मिलता है। ऐसा जन्म दुर्लभ है।

---

1 प्राप्य पुण्यकृता लोकानुषित्वा शाश्वती समाः। शुचीना श्रीमता गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।। श्रीमद्0 6/41

* 'नास्याब्रह्मवित् कुले भवति' (मुण्डक0 3/2/9)

पुर्नजन्म को प्राप्त होते है। अतः कर्मों द्वारा प्राप्त ब्रह्मलोक वाले मनुष्य मोक्ष प्राप्त नहीं करते हैं, क्योंकि कर्मों के फल रुप से प्राप्त होने वाले ब्रह्मलोक पर्यन्त समस्त लोक विनाशी ही है। मनुष्य अपने शुभ कर्मों के फलस्वरूप धूम का अभिमानी देवता, रात्रि के अभिमानी देवता, कृष्णपक्ष के अभिमानी देवता, दक्षिणापथ के 6 प्राधिपति देवता, चन्द्रमा की ज्योति को पाकर वहाँ (चन्द्रलोक में) इष्ट एवं पूर्वादि कर्मों का फल भोगकर वापस लौट आता है। इससे पता चलता है कि कर्मफल विनाशी है।[1]

कर्मफल विनाशी ही है, क्योकि काम्य कर्मो के फलरूप से स्वर्गभोग के बाद भी मनुष्यों को लौटना पड़ता है, निर्षिद्ध कर्मों के फलरूप नरक भोग के बाद भी लौटना पड़ता है। जो क्षुद्र कर्म करते हैं उन्हें अन्य-अन्य योनियों मे यहीं बार-बार जन्म लेना पड़ता है। अतः स्पष्ट है कि कर्म फल विनाशी ही है, क्योंकि तभी तो मनुष्य को विभिन्न लोकों की कर्म के फलरूप से प्राप्ति होती है और कर्मफल का क्षय होने पर उन्हे वापस लौटना पड़ता है। मनुष्य अपने पुण्य कर्मों के फलरुप से प्राप्त विशाल स्वर्ण लोक को भोगकर उस भोग की उत्पत्ति करने वाले पुण्य कर्म का क्षय होने पर पुनः देह धारण करने के लिए इस मृत्युलोक में प्रवेश करते हैं। अतः कर्मफल विनाशी है।[2] अग्निष्टोमादि काम्य कर्म और वेद में प्रतिपादित कर्मों को करने वाला मनुष्य दिव्य भोगो की कामना से युक्त होकर आवागमन को प्राप्त होता है। कर्म करके उसके फलरुप से स्वर्गादि भोगों की प्राप्ति करता है और कर्मफल का क्षय होने पर वहां से लौटकर पुनः कर्म करता है। क्योकि कर्मफल विनाशी है। कर्मफल के विनाशी होने से उसकी यातनाओं का अहर्निशि चलता रहता है।[3]

बन्धनहीन निष्कामकर्मी का अनुष्ठेयत्व

मनुष्य जो कर्म कामना को युक्त होकर करता है, वे कर्म बन्धन कारक होते है, क्योंकि इस संसार वृक्ष की शाखाए प्रकृति के सत्व, रजस, तमस् गुणों से ही वृद्धि को प्राप्त करती है। यह संसार वृक्ष मनुष्यों को उनके शुभा-शुभ कर्मों द्वारा बाँधता है। क्योंकि ऊपर के स्वर्गादि लोकों और नीचे के लोक अर्थात् नरक आदि लोकों में मनुष्य जो कुछ भी भोगता

---

1. धूमो रात्रिस्तथा कृष्ण षण्मासादक्षिणायमनम्। तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्त निवर्तते।। गीता 8/25
2. "ते त भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशाल क्षीणे पुण्येमृर्त्यलोके विशान्ति। श्रीमद्0 9/21
3. एव त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागत कामकामा लभन्ते।। श्रीमद्0 9/21

है, उस भोग द्वारा तत्स भोग प्रापक कर्मों का विनाश हो जाने पर भी अवशिष्ट कर्मों से मनुष्य लोक को प्राप्त हुए जीवों की कर्मानुसार प्रवृत्ति होती है। केवल मनुष्य लोक मे ही कर्म करने का अधिकार होता है, अन्य लोकों में नहीं। इसी कारण से वे संसाररूपी वृक्ष की शाखाओ से इस मनुष्य लोक में ही कर्मों के द्वारा बन्धने वाले हैं।[1] इसी कारण कहा गया है कि सकाम कर्म अत्यन्त निष्कृष्ट है, अतः मनुष्य को सकाम कर्मों का परित्याग कर देना चाहिए और निष्काम भावना से समस्त कार्य करने चाहिए। जो मनुष्य मनोगत समस्त कामनाओं का परित्याग कर देता है, वह "स्थितप्रज्ञ" कहलाता है।[2] यह स्थित प्रज्ञ बुद्धियुक्त साधक स्वर्गादि की प्राप्ति कराने वाले सुकृत और नरकादि की प्राप्ति कराने वाले दुष्कृत समस्त कर्मो का परित्याग कर देता है।[3] ऐसा कर्मयोगी साधक बॉधने वाले कर्मो को भी ईश्वराधना का रुप देकर मोक्षप्रद बना देता है। वह साधक कर्म के फल रुप देकर मोक्षप्रद बना देता है। वह साधक कर्म के फल रुप जन्म बन्धन से छूटकर अनामय ब्रह्म को प्राप्त होता है। यहां पर "आयम" नामक रोग को इंगित करता है। रोग एक प्रकार का विकार है। जिसमें किञ्चिन्मात्र भी किसी प्रकार का विकार न हो, उसको 'अनामय' अर्थात् निर्विकार कहते हैं।[4] क्योंकि ईश्वर द्वारा समस्त जगत के कर्मों आदि की रचना हुई पर उसका उनसे कोई संबंध नहीं है। उनके कर्मों में विषमता, पक्षपात आदि दोष लेशमात्र भी नहीं है। उसका कर्मों के फल मे भी आसक्ति, ममता या कामना नहीं है। इसलिए वे कर्म भगवान् को लिप्त नहीं करते। इसी प्रकार उत्पत्ति विनाशशील वस्तु मात्र कर्मफल है। जैसे कर्मफल में मेरी स्पृहा नहीं है, वैसे ही तुम्हारी भी कर्मफल में स्पृहा नहीं होनी चाहिए। कर्मफल में यदि स्पृहा नहीं हो तो तुम कर्मों में बधोगे नहीं। ईश्वर स्वयं सृष्टि आदि समस्त कर्मो का कर्ता होते हुए भी मैं अकर्ता हूँ अर्थात् कर्तव्याभिमान नहीं है और कर्मफल में स्पृहा नहीं है अर्थात् फलासक्ति नहीं है। अतः साधक को दोनो से रहित होना चाहिए। मनुष्य में जब कामनाएं उत्पन्न होती है, तब उसकी दृष्टि उत्पत्ति विनाशशील पदार्थों पर रहती है। उत्पत्ति विनाशशील (अनित्य) पदार्थों पर दृष्टि रहने से वह नित्य भगवान को तत्व से नहीं जान सकता। पर कामनाओं के मिटते ही अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। तब भगवान की ओर स्वतः दृष्टि जाती है। भगवान

---

1 अधश्चोर्ध्वं प्रसृतातस्यस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवाला । अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्य लोके।। श्रीमद् भगवद्गीता- 15/2

2 यः सर्वत्रानभिस्नैहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्। नाभिनन्दन्ति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। 2/57 गीता।

3. श्रीमद् भगवद्गीता, 2/50-51

4. 'जन्मबन्धविनिमुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।' श्रीमद् भगवद्गीता 2/51

की ओर दृष्टि जाने से वह जान जाता है उनके द्वारा होने वाली क्रियाएं प्राणिमात्र के हित के लिए है। ईश्वर ने जीवों को कर्म बन्धन से रहित करने के लिए मनुष्य शरीर दिया है। इस बात को न मानने से जीव कर्मो से नये-नये सम्बन्ध और बन्धन उत्पन्न कर लेता है। इसलिए कर्तापन और फलेच्छा न होने पर भी वे केवल कृपा करके जीवो को कर्म बन्धन से रहित करके उनका उद्धार करने के लिए ही सृष्टि रचना का कार्य करता है। ईश्वर का इस प्रकार का ज्ञान होने से मनुष्य ईश्वर की ओर खिंच जाता है।

उमा राम सुभाऊ जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना।। (मानस 5/34/2)

ईश्वर के कर्म तो दिव्य होते हैं साथ ही साथ सन्त महात्माओं के कर्म भी दिव्य हो जाते है और मनुष्यों के कर्म भी दिव्य है। जब कर्मों मे मलिनता (कामना, आसक्ति, ममता) होती है, तब वे कर्म बन्धन में पड़ जाते है। जब यह मलिनता दूर हो जाती है तब वे कर्म बन्धन में नहीं पड़ते। इतना ही नहीं वे कर्म उस कर्ता को और दूसरों को भी (उसके अनुसार आचरण करने से) मुक्त करने वाले हो जाते हैं।

निष्कषर्तः कर्ता यदि फल प्राप्ति की स्पृहा का परित्याग करके कर्म करें तो कर्म फलों में लिप्त नहीं होता। यद्यपि ईश्वर भी विश्व संरचना, संहार आदि कर्म करता है, फिर भी उन कर्मों से वह लिप्त नहीं होता, क्योकि वह ईश्वर कर्तव्याभिनिवेश और फलासक्ति से रहित होता है। इसी प्रकार, मनुष्य भी निरहंकारता और निस्पृहतापूर्वक तो कर्म करता है, उन कर्मों से वह लिप्त नहीं होती। यही कारण है कि युग-युगान्तर से मुमुक्षजन कर्म करते आये हैं।[1] इसी रहस्य को जानकर ही जनकादि मुमुक्षुओं ने भी युगों से पहले निष्कामपूर्वक कर्म किये थे। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष निष्काम होकर, शरीर निर्वाह के लिए भिक्षा माँगना, विचरण करना आदि समस्त कार्य करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता है, क्योंकि वह उन समस्त कर्मों को आसक्ति का भाव रखकर नहीं करता है। जैसे कमल के पत्ते पर गिरे हुए पानी से कमल-पत्र लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार फलासक्ति और कर्तृत्वपन के अभिमान से रहित होकर जो मनुष्य कर्म करता है, वह भी उन कर्मों से बन्धन में नहीं बंधता है।[2]

---

1. न मां कर्माणिलिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा। इति मा योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।। श्रीमद्0 4/14
श्रीमद् भगवद्गीता 9/9, 4/14, 4/15
2. श्रीमद् भगवद्गीता, 4/20, 21, 23। श्रीमद् भगवद्गीता 5/8, 9, 10, 11

वह योगी साधक फलप्राप्ति के लिए कर्म नहीं करता, अपितु अपनी आत्मशुद्धि के लिए ही शरीर, वाणी और मन से सुनना, चलना इत्यादि कर्म करता है।

मायावी और स्वप्न द्रष्टा के समान उदासीनतापूर्वक किये गए कर्म बन्धन कारक नहीं होते है। इसी से निर्विकार होने के कारण, वे सृष्टि आदि कर्म अनासक्त ईश्वर को नहीं बाधते हैं। ईश्वर के समान ही कर्तव्य और फल की आसक्ति का अभाव होने पर कर्म किसी दूसरे पुरुष के भी बन्धन कारण नहीं बन सकते। कर्तत्वाभिमान और फलासक्ति कहने पर मूढ़ पुरुष रेशम के कीड़े के समान उनसे बंधा रहता है। जिस मनुष्य के सारे कर्म-फल की कामना या फल के सकल्प से रहित है या जो मनुष्य फल विषयक काम और कर्म की संकल्प इन दोनो से रहित है, उसके कर्म बन्धन कारक नहीं होते हैं।[1] इसलिए मनुष्यों को निष्काम भावना से ही कर्मानुष्ठान करना चाहिए। कर्तव्याभिमान और फलाभिलाषा से मुक्त होकर वही मनुष्य कर्म कर सकता है, जो स्थितप्रज्ञ है, अर्थात् जो दु:खों मे उद्विग्न नहीं होता है, और सुखो मे जिसकी स्पृहा नहीं है। निष्काम भावना से कृत कर्मो की काम्य कर्मों के समान निष्फलता नहीं होती है, जैसे कभी-कभी विघ्न बाहुल्य के कारण खेती आदि काम्य कर्मों के फल मे व्यभिचार हो जाता है, लेकिन निष्काम कर्म का फल तो अन्त:करण की शुद्धिमात्र है और अन्त:करण की शुद्धि पापक्षय रुपा है। फलेच्छापरित्यागपूर्वक कृत कर्म का थोड़ा सा अंश कर्म करने वाले की इस महान संसार से रक्षा करता है।[2] गीता में-सकाम कर्म को अत्यन्त निष्कृष्ट माना गया है। फल की इच्छापूर्वक कर्म करने वाले को दीन कहा गया है, वह मनुष्य जन्म मरणादि घटी यन्त्र में घूमते रहने के कारण अत्यन्त पराधीन होता है। जो कर्मों के फलो का त्याग करने वाला है, वही वास्तव में योगी या सन्यासी है, यह निष्कामकर्ता ही पंडित कहा जाता है। सम्पूर्ण कर्मो एवं उनके फलों का त्याग सन्यास नहीं है, अपितु कर्मों के फलो का परित्याग ही या कर्तव्याभिमान का त्याग और तृष्णा का त्याग ही 'सन्यास' है।[3] कर्म सन्यासी को ही योगारुढ़ कहा जाता है। वास्तविकता तो यह है कि हमारी

---

1 यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयकर्मवन्धन । तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसड्ग समाचर।। श्रीमद्0 3/9,
अनन्याश्चिन्तयन्तो मा ते जना पर्युपासते। तेषा नित्याभियुक्ताना योगक्षेम वहाम्यहम्।। श्रीमद्0 9/22

2 "स्वल्पमस्य धर्मस्यत्रायते महतो भयात्।" श्रीमद् भगवद्गीता 2/40

3 श्रीमद् भगवद्गीता 2/49, 50-51
श्रीमद् भगवद्गीता 3/25, 32
श्रीमद् भगवद्गीता 4/20,19
अनाश्रित· कर्मफल कार्यम् कर्म करोति य· । स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्व चाकिय ।। श्रीमद्0 6/1

आत्मा समस्त कर्मों से असंग ही है, क्योकि कर्म शरीर, वाणी और मन आदि के रुप में परिणत प्रकृति के द्वारा किये गये है। पहले ही यह बताया जा चुका है कि प्रकृति के सत्व, रजस और तमस् नामक तीनों गुण ही कर्मों के मूल कारण हैं।[1]

अतः अशुद्ध अन्तःकरण वाले जो मनुष्य है उन्हें निष्काम भावना से अन्तःकरण की शुद्धि हेतु कर्म करना चाहिए। क्योकि जिसकी बुद्धि कर्मों में आसक्ति शून्य है, जिसने आत्मा को जीत लिया है, जो कर्तव्यभिनिवेश से रहित है, जिसका फलविषयक इच्छा या कामना दूर हो चुकी है, वह योगी साधक मोक्ष साधक नैष्कर्म्यसिद्धि को या अन्तःकरण की शुद्धि को प्राप्त करता है।[2]

ज्ञानी पुरुष के लिए निष्काम कर्मों का अनुष्ठेयेत्व

निष्काम भावना से कर्मों का अनुष्ठान ज्ञानी पुरुष को भी करना चाहिए। फल कामना का त्याग करके शरीर निर्वाह मात्र के लिए कर्म करते रहने से ज्ञानी मनुष्य कर्म बन्धन में नहीं बंधते हैं। ज्ञानी यद्यपि जीवनयापन के लिए कर्म करते हैं, लेकिन उनमें आसक्ति (कामना) का भाव नहीं रखने से उन कर्मों से बन्धन को प्राप्त नहीं होते है, उस योगी के समस्त कर्म अकर्मभाव को प्राप्त हो जाते हैं।[3] विद्वान यद्यपि यह जानता है कि इन्द्रियां रुपगुण ही विषयों में व्यस्त रहती है, क्योंकि इन्द्रियां ही विकारी है, आत्मा तो वस्तुतः निर्विकार है।[4] इतना ज्ञान होते हुए भी ज्ञानी को अज्ञानी की कर्मविषयक श्रद्धा कम नहीं करनी चाहिए। जो कर्म में आसक्त अज्ञानी पुरुष है, उनको ज्ञान का उपदेश देकर उनकी बुद्धि को विचलित नहीं करना चाहिए, अपितु ज्ञानी पुरुष को भी उन समस्त कर्मों का सेवन करना चाहिए, जो अज्ञानी पुरुष करते हैं, इस प्रकार का सेवन करना चाहिए जो अज्ञानी पुरुष करते हैं, इस प्रकार अज्ञानियों की उन कर्मों में श्रद्धा उत्पन्न कराके, उनसे भी कर्म करवाना चाहिए। क्योंकि यदि अज्ञानियों को आत्मा का उपदेश दिया जायेगा तो उनको कर्म में श्रद्धा न रहने के कारण और पूर्ण रूप से ज्ञान की भी उत्पत्ति न होने के कारण वे दोनों

---

1 श्रीमद् भगवद्गीता, 18/17, 49। श्रीमद् भगवद्गीता 3/17

2 श्रीमद् भगवद्गीता, 18/17, 49। श्रीमद् भगवद्गीता 2/47

3. श्रीमद् भगवद्गीता 4/18, 19, 20

4 श्रीमद् भगवद्गीता 3/27, 28

ओर से गिर जायेगे। अतः विद्वानो को भी मूढ़ो के समान जीवन निर्वाहक नित्यादि कर्म करने चाहिए, लेकिन निष्काम भावना से।[1]

इस प्रकार विद्वान और अविद्वान के कर्मानुष्ठान में समानता रहने पर भी कर्तव्य के अभिनिवेश और उसके अभाव के कारण ज्ञानी और अज्ञानी मे बहुत अन्तर है। इसलिए परित्यक्त आसक्ति, नित्यनिजानन्द से तृप्त ज्ञानी पुरुष प्रसंसनीय है।

ज्ञानी के लिए कर्म सन्यास की श्रेष्ठता

यह समस्त मृत्युलोक कर्ममय है। कर्म के द्वारा ही हमारा समस्त संसार के साथ सम्बन्ध स्थिर होता है। यह कर्म मनुष्य को अपने बन्धन में बुरी तरह से जकड़े हुए हैं। इस कर्म जंजाल से छुटकारा पाने के दो उपाय है। (1) **कर्मन्सन्यास,** (2) **कर्मयोग**। गीता कर्म सन्यास और कर्मयोग का भेद करती है- सब प्रकार के ऐसे कर्मों का परित्याग, जो फल की आकांक्षा को लेकर किये जाते हैं, कई विद्वानों का कहना है कि काम्य कर्मों के त्याग का नाम ही **'सन्यास'** है अर्थात् इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति के लिये जो कर्म किये जाते हैं, उनका त्याग करने का नाम सन्यास है। कर्मों के फलों का त्याग कर देना ही **कर्मयोग** है। दूसरे शब्दों में कई विद्वानों का कहना है कि सम्पूर्ण कर्मों के फल की इच्छा का त्याग करने का नाम 'त्याग' है अर्थात् फल न चाहकर कर्तव्य कर्मों को करते रहने का नाम त्याग है। यह त्याग ही कर्मयोग है।[2] साधारणतः तो अशुद्धान्तःकरण संसारी मनुष्यों के लिए कर्म सन्यास की अपेक्षा कर्म योग अधिक श्रेष्ठ है। गीता का आदेश भी प्रवृत्ति और निवृत्ति का एकत्रीकरण ही है। कर्मों से निवृत्त रहना सच्चा त्याग नहीं है। पूर्ण ज्ञानाभाव में हमारा शरीर तो निश्चल रह सकता है, लेकिन इच्छाएं तो अपने कार्य में व्यस्त ही रहेगी। वास्तव में कर्म बन्धनकारी नहीं होते है, अपितु फल प्राप्ति का भाव ही बन्धन का कारण होता है। यही कारण है कि निष्काम भावना से कृत कर्म बन्धनकारी नहीं होते हैं। अज्ञानी यदि कर्मों का स्वरुपत· त्याग कर भी देते हैं तब भी वह एक प्रकार का विध्यात्मक कर्म ही होगा और ज्ञानियों द्वारा कृत कर्म भी वास्तविक रुप से अकर्म ही है, क्योंकि उनमें कर्तापन का

---

1. श्रीमद् भगवद्गीता 3/25
प्रकृतैर्गुणसमूढा सज्जन्ते गुणकर्मसु। तान्कृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्नविचात्येत्।। श्रीमद् भगवद्गीत, 3/29
2 काम्यानां कर्मणा न्यास सन्यासं क्वयो विदु·। सर्वकर्मफलत्याग प्राहुस्त्यागं विवक्षणा·।। श्रीमद् भगवद्गीता 18/2

अभिमान नहीं होता है। विद्वान पुरुष यह जानता है कि समस्त कर्म माया के गुणो द्वारा या प्रकृति के कार्य कारण रुप विकारों द्वारा किये जाते हैं। वह ज्ञानी यह जानता है कि इन्द्रियां अपने-अपने विषयों में व्यस्त है, वह गुण, कर्म और आत्मा के विभाग को जानता है।[1] ऐसा जानने के कारण ही वह कर्तत्वाभिनिवेश नहीं करता है। कर्तव्याभिनिवेश का परित्याग ही वास्तव में कर्म सन्यास है, वैसे तो उसे ब्रह्मवेता, 'आत्मन्येव सन्तुष्टस्य' वैरागी मनुष्य के लिए लौकिक या वैदिक कोई भी कार्य नहीं रहता है। उस आत्मस्मणीय पुरुष को अभ्युदय, निःश्रेयस अथवा पापों की निवृत्ति के लिए कर्मों की आवयकता नहीं होती है, क्योंकि वह आत्माराम पुरुष अहंकार का अभाव होने के कारण न तो स्वय ही कर्म करता है और ममता का अभाव होने के कारण शरीर द्वारा भी कर्म नहीं करवाता है अर्थात् न तो उसे कर्म करने में ही कोई प्रयोजन रहता और कर्म न करने में ही। उस ब्रह्मज्ञानी के कर्मों का अभाव हो जाता है।[2] अतः जिसका चित्त शुद्ध है, जिसकी इन्द्रियॉ उसके वश में है, उस ज्ञानी पुरुष के लिए तो कर्म योग की अपेक्षा कर्मसन्यास ही श्रेयष्कर है। वैसे यदि देखा जाये तो कर्म सन्यासी और कर्मयोगी दोनों ही श्रेष्ठ है, क्योंकि इनमें से किसी एक का भी आश्रय लेने वाला साधक दोनों के ही फल को प्राप्त कर लेता है जैसे कर्मयोग का भलीभॉति अनुष्ठान करके शुद्ध चित्त हुआ साधक का ज्ञान द्वारा कैवल्य को प्राप्त करता है, उसी प्रकार कर्म सन्यास में स्थित हुआ साधक भी पूर्वकृत कर्म योग का एवं ज्ञान द्वारा कैवल्य को प्राप्त करता है। कर्म सन्यास की प्राप्ति भी कर्मयोग के द्वारा ही सम्भव हो सकती है।[3] कर्मयोग के बिना चित्र की शुद्धि नहीं होती है, और अशुद्धचित्त पुरुष को ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति नहीं होती, और अज्ञानी कर्म सन्यासी नहीं हो सकता है। कर्मयोग के अभाव में कर्म सन्यास की प्राप्ति, असम्भव तो नहीं है, दुष्कर अवश्य हैं। अतः मेरे मत से तो पूर्ण ज्ञानी योगी साधक को भी कर्मयोग को ही अपनाना चाहिए, क्योकि सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग करने वाला ही वास्तविक योगी या सन्यासी कहा जाता है, न कि वह जो कर्म का त्याग कर देता है।[4]

---

1. तत्वर्वित्तु महात्राहो गुणकर्मविभागयो.। गुणा गुणेषु वर्तन्त इतिमत्वा न सज्जते। श्रीमद्0 3/28
   श्रीमद् भगवद्गीता- 3/29, 27, 4/20
2. ''आत्मन्येव च सतुष्टस्यकार्यम् न विद्यते''- श्रीमद्0 3/17
   ''नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्नकारयन्।'- श्रीमद् भगवद्गीता 5/13
   श्रीमद् भगवद्गीता 5/12, 12/16, 17
3. यत्साख्येः प्राप्यते स्थानतयोगेरपि गम्यते।''- श्रीमद् भगवद्गीता, 5/4
4. अनाश्रित कर्मफलकार्यषु कर्मकरोति य । स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।। श्रीमद् भगवद्गीता, 6/1
   श्रीमद् भगवद्गीता - 6/4, 2, 12/12

कर्तव्य के अभिनिवेश का परित्याग साधारण मनुष्यों के वश की बात नहीं है, समस्त कर्म करते हुए भी यह सोचना कि मै इन समस्त कर्मों का कर्ता नहीं हूँ, यह इन्द्रियां ही अपने गुणो मे कार्यरत है ऐसा अज्ञानी मनुष्य नहीं कर सकता है। अपितु फल भावना का परित्याग करके कर्मों का अनुष्ठान करना जन-साधारण के लिए आसान है। यहीं कारण है कि कर्तत्वाभिनिवेश का परित्याग या कर्म सन्यास ज्ञानी मनुष्यों के लिए श्रेयस्कर है और कर्मयोग अर्थात् फल भावना का परित्याग ज्ञानी एवं अज्ञानी दोनों प्रकार के मनुष्यों के द्वारा ही अनुष्ठेय है।

कर्म त्याग का अनौचित्य

यद्यपि सन्यास और त्याग शब्द पर्यायवायी है, फिर भी कर्मत्याग और कर्म फलत्याग रुप से उनकी विलक्षणता है। फल सहित काम्य कर्मों का परित्याग ही कर्म सन्यास कहा जाता है। कामनाविहित कर्म अन्तःकरण की शुद्धि में अनुपयुक्त होते हैं। कर्म सन्यासी की अपेक्षा कर्मयोगी ही अधिक श्रेष्ठ है, अतः मनुष्य को कर्मयोग का ही आश्रय लेना चाहिए।

कर्मत्याग की भावना भी प्रकृति के सत्व, रजस् और तमस् गुणों के अनुसार तीन प्रकार का होता है।

(1) प्रथम प्रकार का कर्म त्याग वह होता है, जिसमें फल की कामना का त्याग कर दिया जाता है और कर्म होता रहता है, यह फलाभिसन्धिपूर्वक कर्म त्याग कहा जाता है। यह त्याग सात्विक होता है।[1]

(2) द्वितीय प्रकार का कर्म त्याग वह होता है, जिसमें कामना तो बनी रहती है, लेकिन कर्म का त्याग कर दिया जाता है जो अशुद्धान्तःकरण वाले मनुष्य कर्मों को दुःख रूप समझकर केवल शारीरिक परिश्रम के भय से त्याग कर देता है।यह त्याग राजस त्याग कहलाता है।[2]

(3) तृतीय प्रकार का तामस त्याग वह होता है जिसमें कर्म और कर्म फल दोनों का त्याग कर दिया जाता है। ऐसा त्याग मोहवश किया जाता है।[3] कर्मत्यागी अज्ञानी मनुष्य

---

1 कार्यमित्येव यत्कर्म नियत क्रियतेऽर्जुन। सङ्ग व्यक्त्वा फल चैव स त्याग॰ सात्विको मत ।। श्रीमद्0 18/9

2. एतान्यपि तु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा फलानि च। कर्तव्यानीति में पार्थ निश्चित मतमुत्तमम् ।। 16/6

3. नियतस्य तु सन्यास॰ कर्मणो नोपपद्यते। मोहात्तस्य परित्यागस्तामस परिकीर्तित॰।। 18/7

निन्दनीय है, इसलिए मनुष्य को कर्मों का स्वरुपतः त्याग नहीं करना चाहिए। गीता में स्पष्ट अक्षरों मे कहा गया है जो मनुष्य वाणी, हाथ, पैर इत्यादि कमेन्द्रियो को संयत करके, मन से भगवान के ध्यान के बहाने इन्द्रियो के विषयों का स्मरण करता हुआ बैठा रहता है, उसका मनशुद्ध नहीं होता है।[1] इसी कारण उसकी आत्मा में स्थिरता भी नहीं आती है। अतः मनुष्य को कर्मों का परित्याग नहीं करना चाहिए। जो मनुष्य ज्ञानेन्द्रियों को मन में रोककर उन्हें ईश्वर परायण करके, कर्म रुप योग का अनुष्ठान करता है, वही मनुष्य श्रेष्ठ माना जाता है। कर्म करने वाला ज्ञानी पुरुष ही श्रेष्ठ माना जाता है। अतः मनुष्य को नियमित रूप से सन्ध्योपासनादि नित्यकर्म अवश्य करते रहना चाहिए।[2]

अकर्म की अपेक्षा सकाम कर्म की श्रेष्ठता

वैसे तो कार्म्य कर्म नित्य श्रेय की प्राप्ति मे बाधक होते है, लेकिन कर्म न करने से तो सकाम कर्म ही अधिक श्रेष्ठ है। इसी कारण प्रजापति ने भी यज्ञादि काम्य कर्म करने का उपदेश किया है। फलेच्छा न होने पर भी यदि वस्तु के स्वभाव से ही फलो की उत्पत्ति हो जाती है तो उनसे कार्य में कोई विघ्न नहीं पड़ता है। कर्मकाण्डी मनुष्यों का मत है कि सकाम कर्म से बढ़कर दूसरा कोई ईश्वरीय तत्व नहीं है।[3] मनुष्य को निष्काम होकर द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, ज्ञानयज्ञादि का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए। जो मनुष्य इस प्रकार कर्म करता है उसके समस्त कर्म लीन हो जाते हैं।[4] कर्मों के फलों का त्याग करने वाला ही वास्तविक योगी या सन्यासी कहलाता है। शास्त्रविहित नित्यादि कर्मों का परित्यागकरने वाला वास्तविक योगी नहीं है। जो नित्य, नैमित्तिक, काम्य और प्रतिषिद्ध कर्मों में आसक्ति का भाव नहीं रखता है, लेकिन अनुष्ठान आश्रमविहित समस्त कर्मों को करता है, वही 'योगारूढ' कहा जाता है।[5]

---

1. कर्मेन्द्रियाणि सयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचार स उच्चयते।। 6
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन। कर्मेन्द्रियै कर्मयोगमसक्त स विशिष्यते।। 7
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्याकर्मण·। शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मण·।।8
श्रीमद् भगवद्गीता (अध्याय-3, 6-7-8)
2 श्रीमद् भगवद्गीता 3/10, 11, 12, 13
3 श्रीमद् भगवद्गीता 2/41, 42, 43, 44
4. यज्ञायाचरतः कर्मसमग्रंप्रविलीयते।' श्रीमद् भगवद्गीता, 4/31, 32, 28, 30
5. अनाश्रित· कर्मफल्न कार्यं कर्म करोति य । स सन्यासी च योगी च न निरमिर्न चाक्रियः। श्रीमद् भगवद्गीता 6/1
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते। सर्वसकल्पसन्यासी योगारुढस्तदोच्यते।। 6/4
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पों योगी भवित कश्चन।। 6/2

मनुष्य को कर्म करते हुए फलाशा रूपी त्यागी कार्मों का सात्विक त्याग ही करना पडता है। फिर यज्ञ, दान और तप आदि कर्मों का स्वरूपत· परित्याग तो अन्तःकरण शुद्धि की दृष्टि से और ज्ञान प्राप्ति की दृष्टि से भी नहीं करना चाहिए।[1]

स्वकर्म ओर सहजकर्मो के परित्याग का अनौचित्य

मनुष्य को वर्णाश्रम से प्राप्त और जन्मसिद्ध के रूप मे प्राप्त कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए।[2] क्योंकि अपने वर्णाश्रम द्वारा विहित और श्रृति स्मृति द्वारा बताए गए कर्मो में अभिरत रहने वाला मनुष्य ही सम्यग् ज्ञान की योग्यता प्राप्त कर लेता है। ईश्वर भी उसी पर कृपालु होता है, जो अपने वर्णाश्रमविहित कर्मों का पालन करता है। स्वधर्म, वर्णाश्रमविहित कर्मो का त्याग करके परधर्म का पालन भी कभी नहीं करना चाहिए। क्योकि स्वधर्म चाहे सम्पूर्ण अंगो को सम्मिलित करके विधिपूर्वक न किया गया हो, फिर भी सर्वांग सम्मिलित विधिपूर्वक कृत पर धर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ ही होता है। यद्यपि कर्म बन्धनकारक होते हुए भी वे उपासना द्वारा किये जाते हैं।[3]

पुण्यों से पापों का क्षय हो जाने से कर्म त्यागानौचित्य

मनुष्य द्वारा किये गये शुभ कर्मों से उसके अशुभ कर्मो का विनाश हो जाता है। गीता मे कहा गया है कि, जिन कर्मियो के समस्त पाप उनके पुण्य कर्मों से क्षीण हो गये है, वे मनुष्य ही दृढ़वान होकर ईश्वर का भजन करते है।[4]

मोक्षार्थी के लिए कर्म त्याग का अनौचित्य

मनुष्य समस्त पापों के नष्ट हो जाने पर मोक्ष को अवश्य प्राप्त करता है।[5] ऐसा कहा जाता है तथा पापों का नाश ज्ञान द्वारा होता है। ज्ञान चित्तशुद्धि होने पर होता है, और

---

1 श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानादहयान विशिष्यते। ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।। श्रीमद्0 12/12
श्रीमद् भगवद्गीता अध्याय-11/श्लोक 20, 9
श्रीमद् भगवद्गीता अध्याय 18/ श्लोक 5, 10

2 श्रीमद् भगवद्गीता 18/47, 45

3 श्रीमद् भगवद्गीता 3/35
श्रीमद् भगवद्गीता 18/45, 46

4 श्रीमद् भगवद्गीता 7/8

5 "लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषय क्षीणकल्मषा - श्रीमद् भगवद्गीता 5/25

चित्त शुद्धि वर्णाश्रमविहित कर्मों को निष्काम होकर करने से होती है। जो मनुष्य मोक्ष के लिए प्रयत्न करता है, वे ब्रह्म को जान लेता है, साथ ही साधनभूत कर्मों को भी जान लेता है। निष्काम कर्मयोग के द्वारा या ईश्वर बुद्धि से कृत, फल की आशा शून्य तत्तद्वर्णाश्रमोचित कर्म-कलाप से आत्म दर्शन किया जा सकता है। अत· मुमुक्षु को भी निषिद्ध एवं काम्य कर्मों का त्याग तो कर देना चाहिए, लेकिन आत्मदर्शन केसाधनभूत और प्रत्यवाय की निवृत्ति के लिए नैमित्तिक कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए।

ज्ञानप्राप्ति के उपाय भूत होने से कर्म परित्याग का अनौचित्य

श्रुति से यह बात सिद्ध होती है पाप कर्मों का विनाश होने पर ज्ञान की उत्पत्ति होती है, अतः ज्ञान की प्राप्ति के लिए मनुष्य को नित्यादि आश्रमविहित कर्म अवश्य करना चाहिए। ऐसा कहना गलत होगा कि ज्ञान की प्राप्ति के लिए नित्य कर्मों का विनियोग करना व्यर्थ है, क्योंकि यदि नित्य कर्मों का ज्ञान के लिए विनियोग किया जायेगा, तो उससे ज्ञान अवश्य ही उत्पन्न होगा। अतः आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए मनुष्य को निष्काम भावना से स्वाश्रयोचित कर्मानुष्ठान करना चाहिए। इसी से ज्ञान निष्ठा की योग्यता की प्राप्ति होती है।

प्रकृति के गुणकृत होने से कर्म त्याज्य नहीं है

समस्त कर्म प्रकृति के गुणों से या प्रकृति के कार्यरूप में परिणत इन्द्रियों द्वारा किये जाते हैं। लेकिन अज्ञानी मनुष्य मोहवश ऐसा समझता है कि इन समस्त कर्मों का कर्ता मैं हूँ और थोड़ा सा ज्ञान होने पर वह कर्मों से रिक्त होने लगता है। इसके विपरीत विद्वान पुरुष यह समझता है कि मेरी आत्मा गुण रूप नहीं है, मेरी आत्मा कार्य रुप नहीं है, इस प्रकार गुणो और कर्मों से आत्मा को विभक्त जानकर वह उन कर्मों में कर्तृत्व का अभिमान नहीं रखता है। अज्ञानी पुरुष प्रकृति के सत्वादि गुणों से मोहित होने के कारण इन गुणों में और गुणों के कर्मों में अत्यन्तासक्त हो जाते हैं। कर्मों के प्रकृति के गुणों द्वारा कृत होने से अनासक्त भाव से समस्त कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए, उनका पूर्ण त्याग नहीं करना चाहिए।

लोक संग्रह की दृष्टि से कर्म परित्याग का अनौचित्य

लोक संग्रह की दृष्टि से भी कर्मों का परित्याग नहीं करना चाहिए। अन्यथा ज्ञानी का उद्धाहरण लेकर अज्ञानी भी कर्मो का परित्याग करते हुए गिर जायेगे।[1] अतः साधारण मनुष्यों की पतन से रक्षा के लिए कर्मों के अनुष्ठान आवश्यक है। जनक, अजातशत्रु आदि विद्वानो ने भी कर्म के ही साथ ज्ञाननिष्ठा प्राप्त की थी, कर्म परित्याग करके नहीं। ज्ञानी पुरुषों की भोजनकादि के समान जनसाधारण को कर्मों में प्रवृत्त कराने के लिए कर्म करना चाहिए, कर्म त्याग नहीं, क्योकि श्रेष्ठ पुरूष जिस-जिस शुभ या अशुभ कर्म का आचरण करते है, उसी-उसी कर्म का साधारण मनुष्य भी आचरण करते हैं। अतः ज्ञानी होने पर भी लोक संग्रह की दृष्टि से कर्म अवश्य करना चाहिए, क्योकि जब संसार को बनाने वाला ईश्वर तक कर्म करता है, तो उसकी सृष्टि के हेतुभूत कर्मों का परित्याग नहीं करना चाहिए।[2]

संसार चक्र की प्रवृत्ति का हेतु होने के कारण भी कर्म त्यागानौचित्य

संसार चक्र की प्रवृत्ति के लिए भी मनुष्य को कर्म करना चाहिए, क्योकि अन्न से प्राणियों के शरीर उत्पन्न होते हैं, वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है और वृष्टि यज्ञ से होती है, और यज्ञ एक प्रकार का कर्म ही होता है। अतः मनुष्य को अपने शरीर निर्वाह की दृष्टि से कर्म परित्याग नहीं करना चाहिए।[3] जो मनुष्य परमात्मा द्वारा प्रवर्तित इस चक्र 'कर्म-चक्र' का अनुवर्तन नहीं करता है, वह मनुष्य पाप का भागी होता है। उसका जीवन विषय भोगो में रमण करते हुए व्यर्थ ही बीत जाता है, अतः मनुष्य को कर्म अवश्य करना चाहिए।

वेद प्रमाणित होने से कर्मों का अत्याज्यत्व

वेद प्रमाणित होने से भी मनुष्य को कर्मों का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए। कर्म वेद से प्रमाणित और वेद परमात्मा से आविर्भूत है, अत. वेद प्रतिपादित पाखण्डों को छोड़कर विहित कार्यों का अवश्य अनुष्ठान करना चाहिए।[4]

---

1 श्रीमद् भगवद्गीता 3/21
2 श्रीमद् भगवद्गीता 3/20, 22, 23, 24, 25, 26
3 श्रीमद् भगवद्गीता 13/14, 16
4 कर्म ब्रह्मोद्भव विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम्। तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्य यज्ञे प्रतिष्ठितम्।। श्रीमद् भगवद्गीता 3/35

बुद्धि योग की सिद्धि में हेतु होने से कर्म त्याज्य नहीं है

कर्म बुद्धियोग की सिद्धि में साधक होने से त्याज्य नहीं है, क्योंकि योगाभ्यास रूप कर्म करने से ही रजोगुण शान्त होता है रजोगुण की शान्ति होने पर ही मन भलीभाँति शान्त होता है और मन की शुद्धि होने पर ही अविधा की निवृत्तिपूर्वक ब्रह्साक्षात्कार रुप सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति कराने वाले बुद्धियोग की सिद्धि होती है।[1]

कर्मत्याग की असम्भाव्यता

मनुष्य को कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए। वैसे भी यदि मनुष्य कर्म परित्याग करना चाहे तब भी नहीं कर सकता, क्योंकि 'प्रकृति त्वां नियोदयति' रजोगुणे के रूप में परिणत हुई प्रकृति उसे कर्मों मे नियुक्त कर देगी। दूसरा कारण यह भी है कि मनुष्य वर्णाश्रम विहित कर्मों से स्वतः ही बद्ध है, मनुष्य उन कर्मों से नैसर्गिक रूप से बंधा हुआ है। ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी मनुष्य किसी भी काल में, किसी भी अवस्था में, किसी भी क्षण बिना कर्म किये हुए नहीं रह सकता। वह वाचिक, शारीरिक और मानसिक कोई न कोई कर्म हमेशा करता ही रहता है। अतः कर्म त्याग सर्वथा असम्भव है।[2] कर्मत्यागी मनुष्य निन्दनीय है। बुद्धि और कर्म जन्म-जन्मान्तर तक मनुष्य का पीछा नहीं छोड़ते हैं। योग भष्ट साधक जब जन्म लेता है,तो उसे पूर्वजन्मोपार्जित बुद्धि का संयोग प्राप्त होता है। इस चरमजन्मय की प्राप्ति होने पर साधक फिर मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है और इस चरमजन्य में ही परमगति को प्राप्त करता है। अतः जीवित रहते कर्मत्याग असंभव है।[3]

कर्मयोग की अपेक्षा ज्ञानयोग की श्रेष्ठता

यद्यपि कर्मज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही मनुष्य करते है, लेकिन जो अज्ञानी है, वे शीघ्र फल देने वालेहैं देवयज्ञादि का ही अनुष्ठान करते हैं, और जो ज्ञानी पुरुष है, वे समस्त इन्द्रियों के कर्मों को ज्ञान से प्रज्जवलित योगाग्नि में होमते हैं। इसलिए ज्ञानयोग को कर्मयोग

---

1. युञ्जत्रैव सदात्मान योगी विगतकल्मष । सुखेन ब्रह्मसस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।। गीता, 6/28
2. स्वभावजेन कौन्येय निबद्ध.स्वेन कर्मणा। कर्तुं नेच्छासि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्।। श्रीमद् भगवद्गीता 18/60
   न हि देहभृता शक्य तयुक्त कर्माण्यशेषत.। यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्याभिधीयते।। श्रीमद् भगवद्गीता 18/11
   न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। कार्यते ह्यवश. कर्म सर्वः प्रकृतिजैगुणै·।। श्रीमद् भगवद्गीता 3/5
3. श्रीमद् भगवद्गीता 6/43, 45

की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ माना जाता है, क्योकि ज्ञाननिष्ठा को पाकर मनुष्य फिर इस संसार मे आकर भी मोहित नहीं होता[1] और मोक्ष के अन्तरंग साधन होने से भी कर्मयज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अधिक श्रेष्ठ है। समस्त फल सहित कर्म ज्ञान में सब प्रकार से समाप्त हो जाते है, अतिशय पाप करने वाला मनुष्य भी पाप समुद्र को ज्ञान रूपी नौका द्वारा पार कर जाता है जिस प्रकार से प्रज्जवलित अग्नि समस्त काष्ठ समुदाय को जला देती है, उसी प्रकार से ज्ञान रूपी अग्नि भी प्रारब्ध कर्मों के अलावा समस्त कर्मों को भस्म कर देती है।[2] यही कारण है कि ज्ञानयोग, तपयोग, कर्मयोग, दानयोगादि में सर्वश्रेष्ठ है।

कर्मयोग और कर्म सन्यास का मोक्षासाधनत्व

समस्त कर्म बन्धन कारक नहीं होते हैं, अपितु जो सकाम होकर किये जाते है, केवल वे ही मनुष्य को इस जन्म-मरण रूप संसार बन्धन मे बांधते हैं। कर्मबन्धन से छुटकारा पाने का अर्थात् मोक्ष प्राप्ति का एक उपाय यह भी है कि मनुष्य निष्काम होकर कर्म के अनुष्ठान को करे। जो लोग निष्काम होकर कर्मानुष्ठान करते हैं, वे लोग जन्म-मृत्यु रूपी कर्म बन्धन से भली-भाँति छूटकर अनामय ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। क्योकि जो कर्म निष्काम होकर किये जाते हैं, वे समस्त कर्म, चित्तशुद्धि और ज्ञान प्राप्ति द्वारा मुक्ति रूप फल प्रदान करते हैं।[3] अत· मनुष्य को मुक्ति की प्राप्ति के लिए भी फल की कामना और कर्तव्य का अभिमान छोड़कर कार्य करने चाहिए। जो कर्म चित्त शुद्धि के लिए निष्काम होकर किए जाते है, केवल वे कर्म ही मोक्ष प्रदायक होते है। यहीं कारण है कि अन्तदृष्टि युक्त निष्काम कर्मी है, उसमें प्रारब्ध कर्मों के वशीभूत प्राप्त समाप्त योग, विकार उत्पन्न नहीं करते है।[4] यद्यपि शरीरादि सम्पूर्ण विषय अपरिहार्य होने के कारण उसमें तो प्रवेश करते है, लेकिन

---

1. एषा ब्राह्मी स्थिति पार्थनैना प्राप्यविमुह्यति। स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।। श्रीमद् भगवद्गीता 2/72
"सर्वं कर्माखिल पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।।" गीता, 4/33
2 अपि चेदसि पापेम्य सर्वेभ्य पापकृत्तम्। सर्व ज्ञानपल्वेनैव वृजिन सतरिष्यसि।। गीता, 4, 36
ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा। गीता 4, 37
न हि ज्ञानेन सदृश पवित्रमहि विधते।। गीता 4, 38
श्रीमद् भगवद्गीता 4/39, 40, 41, 42
3 लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषय· क्षीणकल्मषा । गीता 5/25
श्रीमद् भगवद्गीता- 3/19, 31, 32
श्रीमद् भगवद्गीता 5/11, 12
4 श्रीमद् भगवद्गीता - 5/10, 1/22, 11/55, 12/6, 7, 10

उसमे का जल प्राप्ति के लिए फल की कामना से रहित होकर अवश्य कर्त्तव्य तत्तदर्णाश्रमोचिन्त कर्मो का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए।[1] क्योकि अनासक्त होकर कर्म करने वाला मनुष्य ही चित्त शुद्धि और ज्ञान प्राप्ति द्वारा परम-मोक्ष को प्राप्त करता है।

ज्ञान योग का साक्षात्-मोक्ष पापकत्व

ज्ञान प्राप्त करने से मनुष्य के समस्त कार्यो और उनके फलो का विनाश हो जाता है। हमारे समस्त कर्मो और उसके अंगो एवं फलों में ब्रह्म ही अनुस्यूत है, जो मनुष्य ऐसा समझता है उसके कर्म बन्धनकारक नहीं होते हैं। उस ज्ञानी के समस्त कर्मो का क्षय हो जाता है क्योकि उस ज्ञानी पुरूष का कर्म भी ब्रह्म रहता है और फल भी ब्रह्म रहता है। जिसका कर्म एवं उसका फल ब्रह्म ही होगा, उसके समस्त कर्म अकर्म के समान ही होगें।[2] इस प्रकार के समस्त कर्मो से निरत हो जाने पर उस ज्ञानी मनुष्य के समस्त कर्मज्ञान में ही समाप्त हो जाते हैं। ज्ञान से समस्त लौकिक एवं वैदिक कर्मो का एवं कर्मफलों का विनाश हो जाता है। जिस प्रकार से अग्नि समस्त काष्ठ-समुदाय को जला देती है, उसी प्रकार से ज्ञानाग्नि भी समस्त पापों एवं पुण्यों को भस्मीभूत कर देती है। प्रारब्ध कर्मो का विनाश ज्ञान की अग्नि से भी नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी मनुष्य के समस्त कर्म चाहें वे स्वाभाविक हो या लोक संग्रह की दृष्टि से किये गए हो, बन्धनकारी नहीं होते है।[3]

ज्ञान से मनुष्य समस्त पाप कर्मो से मुक्त हो जाता है। अतिशय पाप करने वाला भी पाप समुद्र को ज्ञानरूपी नौका द्वारा पार कार जाता है, ज्ञान से समस्त पाप कर्मो का विनाश हो जाता है और पाप कर्मो का विनाश होने से चिन्तशुद्धि हो जाने पर मुक्ति की प्राप्ति होती है। परमात्मज्ञानी सर्वकर्म सन्यासी को कर्म एवं उसके फल व्याप्त नहीं करते है, ब्रह्ममेत्ता को कर्म करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि उसके कर्माधिकार का कोई भी कारण न होने से, वह आत्मज्ञानी कर्म करे, अथवा न करें, उसे कोई भी कर्म करने से प्रयोजन नहीं रहता है।[4]

---

1 तद्वत्कामा य प्रविशान्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी। श्रीमद् भगवद्गीता 2/70
"निर्ममौ निरहकार स शान्तिमाधिगच्छति" - 2/71
"योगिन कर्म कुर्वन्ति सगत व्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धयै।" 5/11

2. श्रीमद् भगवद्गीता - 4/24, 33

3. श्रीमद् भगवद्गीता - 4/41, 37, 36

4. "सर्वभूतात्मा कुर्वन्नपि नलिप्यते" - श्रीमद् भगवद्गीता 5/7

ज्ञानीपुरूष को ब्रह्म से लेकर स्थावरपर्यन्त किसी से कोई प्रयोजन नहीं रहता है। सर्वकर्म सन्यासी को कर्म एवं उसके फल व्याप्त नहीं करते है।[1] जो गौण सन्यासी है, वे अन्तः कारण की शुद्धि होने से पहले मरने पर पूर्वकृत कर्म के फलस्वरूप मायामय शरीर को ग्रहण करते है, अर्थात् गौण ज्ञानियों को मरने के बाद इष्ट, अनिष्ठ तथा मिश्ररूप तीन प्रकार का फल प्राप्त होता है, लेकिन जो पूर्ण ज्ञानी या पूर्ण सन्यासी पुरूष है, उन्हे इष्ट-अनिष्ट, मिश्र रूप फल व्याप्त नहीं करता है, क्योंकि वे ज्ञानी है, और उस परावर के साक्षात्कार रूप ज्ञान से समस्त कर्मो एवं फलों का विनाश हो जाता है।[2] ज्ञान से पुनर्देह के हेतुभूत समस्त पुण्य एवं पाप कर्मो का क्षय हो जाता है, अर्थात् ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होने पर उसके कार्यभूत समस्त पुण्य एवं पाप रूपी कर्मो का क्षय जो जाने से उन कर्मो के कारण होने वाली पुनर्देह की प्राप्ति नहीं होती है।[3] ज्ञान के बिना बन्धन के हेतुभूत अज्ञानजनित कर्मो का विनाश नहीं होता हैं। ज्ञान से समस्त पाप एवं पुण्य रूपी कर्मो का विनाश हो जाता है। पाप कर्मो के विनाश से चित्त शुद्धि होने पर मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति होती है। उस ब्रह्म वेत्ता ज्ञानी पुरूष के कर्मो का अभाव होता है, उसे निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए भी कर्मो की आवश्यकता नहीं होती होती है, क्योंकि उसके समस्त पुण्य-पाप रूप कर्मो एवं कर्मफलों का विनाश करके साक्षात् मोक्ष का साधन बनता है, अतः यही श्रेष्ठ एवं प्रशसनीय है।

---

1. 'गच्छन्त्यपुनरावृतिम् ज्ञाननिर्धूत कल्मषा·" - श्रीमद् भगवद्गीता 5/17
2. "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे"। श्रीमद् भगवद्गीता 2/29।, श्रीमद् भगवद्गीता 18/22।
3. गच्छन्तयवृतिम् ज्ञाननिर्धूत-कल्मषा ।। श्रीमद् भगवद्गीता 5/17

सप्तम् अध्याय

मानव नियति (मोक्ष)

सप्तम् अध्याय

मानव नियति (मोक्ष)

श्रीमद् भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए यह बताया कि जो मनुष्य स्वयं को मेरे समक्ष समर्पित कर देगा, अर्थात् अपना सब कुछ ईश्वर के शरणागति कर देगा, वह मोक्ष को प्राप्त करेगा, क्योंकि मैं ही ईश्वर हूँ जो मुझको निरन्तर ध्यान में रखकर कोई कार्य करता है, वह सदैव सुखी एवं प्रसन्नचित रहता है। मनुष्य अज्ञानता के कारण ईश्वर की शक्ति को समझ नहीं पाता है। इसीलिए हमेशा वह दुःखों एव क्लेशों से परेशान रहता है। इन दुःखों एवं क्लेशों से मुक्ति पाने के लिए सर्वोत्तम उपाय है कि मनुष्य ईश्वर के प्रति अपने को तन-मन से अर्पित कर दे।

भगवद्गीता में अध्याय 18 श्लोक संख्या 56[1] में कहा गया है कि कर्मो का, कर्मो के फल का, कर्मो के पूरा होने अथवा न होने का किसी घटना, परिस्थिति, वस्तु व्यक्ति आदि का आश्रय न हो। केवल मेरा ही आश्रय (सहारा) हो। इस तरह सर्वथा मेरे ही परायण हो जाता है, अपना स्वतन्त्र कुछ नहीं समझता, किसी भी वस्तु को अपना नहीं मानता, सर्वथा मेरे आश्रित रहता है, ऐसे भक्त को अपने उद्धार के लिए कुछ करना नहीं पड़ता। उसका उद्धार मैं कर देता हूँ।[2] उसको अपने जीवन निर्वाह या साधन संबंधी किसी बात की कमी नहीं रहती, सबकी पूर्ति मैं कर देता हूँ।[3] यह मेरा सदा का एक विधान है, नियम है, जो कि सर्वथा शरण हो जाने वाले हरेक प्राणी को प्राप्त सकता है।[4]

श्रीमद्भगवद्गीता मे ये कहा गया है कि जिस ध्यान परायण ज्ञान योगी ने शरीर, वाणी, और मन का संयम कर लिया है, अर्थात जिसने शरीर आदि की क्रियाओं को संकुचित कर लिया है, और एकान्त में रहकर सदा ध्यान योग में लगा रहता है, उसको जिस

---

1. सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रय । मत्प्रसदावाप्रोति शाश्वतं पदमव्ययम्।।
   श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-18, श्लोक-56
2. तेषामह समुद्धर्ता मृत्युससारसागरात्। भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।।
   श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-12, श्लोक-7
3. अनन्याश्चिन्तयन्तो मा ये जना पर्युपासते। तेषा नित्याभियुक्ताना योगक्षेम वहाम्यहम्।।
   श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-9, श्लोक-22
4. मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्यु पापयोनय । स्त्रियों वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परा गतिम्।।
   श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-9, श्लोक-32

पद की प्राप्ति होती है, उसी पद को लौकिक, पारलौकिक, सामाजिक, शारीरिक आदि सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों को हमेशा करते हुए भी मेरा आश्रय लेने वाला भक्त मेरी कृपा से प्राप्त कर लेता है।

हरेक व्यक्ति को यह बात तो समझ मे आ जाती है कि जो एकान्त में रहता है और साधन भजन करता है, उसका कल्याण हो जाता है, परन्तु यह बात समझ में नहीं आती कि जो सदा मशीन की तरह संसार का काम करता है, उसका कल्याण कैसे होगा? उसका कल्याण हो जाये, ऐसी कोई युक्ति नहीं दिखायी देती, क्योंकि ऐसे तो सब लोग कर्म करते ही रहते हैं। इतना ही नहीं, मात्र जीव कर्म कहते ही रहते हैं, पर उन सबका कल्याण होता हुआ, दिखता नहीं और शास्त्र भी ऐसा कहता नहीं। इसके उत्तर में भगवान कहते हैं- 'मत्प्रसादात्'। तात्पर्य यह है कि जिसने केवल मेरा ही आश्रय ले लिया है, उसका कल्याण मेरी कृपा से हो जायेगा, कौन है मना करने वाला।

यद्यपि प्राणिमात्र पर भगवान का अपनापन और कृपा सदा-सर्वदा स्वतः सिद्ध है, तथापि यह मनुष्य जब तक असत् का आश्रय देकर भगवान् से विमुख रहता है, जब तक भगवान की कृपा उसके लिए फलीभूत नहीं होती, अर्थात् उसके काम में नहीं आती। परन्तु यह मनुष्य भगवान् का आश्रय लेकर ज्यों-ज्यों दूसरा आश्रय छोड़ता जाता है, त्यों ही त्यों भगवान् का आश्रय दृढ़ होता चला आ रहा है, और ज्यो-ज्यों भगवान् का आश्रय दृढ़ होता है, त्यों-त्यो भगवत्कृपा का अनुभव होता जाता है। जब सर्वथा भगवान् का आश्रय ले लेता है, तब उसे भगवान् की कृपा का पूर्ण अनुभव हो जाता है। 'अवाप्रोति शाश्वतं पदमव्ययम्'।[1] स्वतः सिद्ध परमपद की प्राप्ति अपने कर्मों से, अपने पुरुषार्थ से अथवा अपने साधन से नहीं होती। यह तो केवल भगवद्कृपा से होती है। शाश्वत अव्ययपद सर्वोत्कृष्ट है। उसी परमपद को भक्तिमार्ग, में परमधाम, सत्यलोक, वैकुण्ठलोक, गोलोक, साकेत लोक आदि कहते हैं और ज्ञानमार्ग में विदेह कैवल्य, मुक्ति स्वरुपस्थिति आदि कहते है। वह परम पद तत्व से एक होते हुए भी मार्गों और उपासनाओं का भेद होने से उपासकों की दृष्टि से भिन्न-भिन्न कहा जाता है।[2] यहां भगवान का चिन्मय लोक एक देश विशेष में होते हुए, भी सब जगह व्यापकरूप से

---

1. सर्वकमण्यिपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रय । मत्प्रसादादवाप्रोति शाश्वत पदमव्यम्।। गीता, अध्याय-18, श्लोक-56
2. अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहु· परमां गीतम्। य प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परम मम्।। गीता, अध्याय-8, श्लोक 21
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याययस्थ च। शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्थ च।। गीता, अध्याय-14, श्लोक 27

परिपूर्ण है। जहां भगवान है, वहीं उनका लोक भी है, क्योंकि भगवान और उनका लोक तत्व से एक ही है। भगवान सर्वत्र विद्यमान है। अतः उनका लोक भी सर्वत्र विराजमान (सर्वव्यापी) है। जब भक्त की अनन्य निष्ठा सिद्ध हो जाती है, तब परिछिन्नता का अत्यन्त अभाव हो जाता है और वही लोक उसके सामने प्रकट हो जाता है अर्थात् उसे यहां जीते जी ही उस लोक की द्रिव्य लीलाओं का अनुभव होने लगता है। परन्तु जिस भक्त की ऐसी धारणा रहती है कि वह दिव्य लोक एक देश विशेष में ही रहता है, तो उसे उस लोक की प्राप्ति शरीर छोड़ने पर ही होती है। उसे लेने के लिए भगवान् के पार्षद आते हैं और कहीं-कहीं स्वयं भगवान भी आते हैं।

ज्ञानयोगियो के लिए भगवान ने बताया है कि वह सब विषयों का त्याग करके, संयमपूर्वक निरन्तर ध्यान के परायण रहे, तब वह अहता, ममता, काम, क्रोध आदि का त्याग करके ब्रह्मप्राप्ति का पात्र होता है।[1] परन्तु भक्त के लिए यहा बताया कि वह अपने वर्ण आश्रम के अनुसार सब विहित कर्मो को सदा करते हुए भी मेरी कृपा से परमपद को प्राप्त हो जाता है, क्योंकि उसने मेरा आश्रय लिया है-'मद्व्यपाश्रयः' का तात्पर्य है कि भगवान के चरणों का आश्रय लेने से सुगमता से कल्याण हो जाता है। भक्त को अपना कल्याण खुद नहीं करना पड़ता, प्रत्युत अपने बल, विद्या आदि का किचिंन्मात्र भी आश्रय न रखकर केवल विश्वासपूर्वक भगवान का ही आश्रय लेना पड़ता है। फिर भगवत्कृपा से ही उसका कल्याण कर देती है- 'मत्प्रसादादवाप्रोति शाश्वत पदमव्ययम्।' भगवान भी केवल भक्त के आश्रय को देखते हैं[2] उसके दोषों को नहीं देखते इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने भी रामायण मे भक्ति को महत्व दिया है।[3] भक्त के अवगुणों को ईश्वर नहीं देखते। 'मद्व्यपाश्रयः' का तात्पर्य है कि मेरा विशेष आश्रय अर्थात् अनन्य आश्रय, जिसमें दूसरे किसी का किंचित मात्र

---

1. बुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्यात्माना नियम्य च। शब्दादीन्विषयास्व्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।। 51
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानस । ध्यानयोगपरो नित्य वैराग्य समुपाश्रित.।। 52
अहंकार बल दर्प काम, क्रोध परिग्रहम्। विमुच्य निर्मम. शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।। 53
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-18, श्लोक-51-53
2. ये यथा मा प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाभ्यहम्। मम वर्त्मानुवर्तन्तेमनुष्या. पार्थ सर्वशः। श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-4, श्लोक-11
3. रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की जेहि अध बघेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोई कीन्हि कुचाली।। गोस्वामी तुलसीदास- 'रामचरितमानस', बालकाण्ड 29/3।
जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी। जन अवगुन प्रभु मानन काऊ। दीन बन्धु अति मृदुल सुभाऊ।। गोस्वामी तुलसीदास-'रामचरित मानस', उत्तरकाण्ड। 1/3

भी आश्रय न हो।[1] भगवद्गीता के अध्याय 18 श्लोक 57[2] में बताया गया है कि मनुष्य चित्त से यह दृढ़ता मान ले कि मन, बुद्धि, इन्द्रियां, शरीर आदि और ससार की व्यक्ति, पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदि सब भगवान के ही है। भगवान ही इन सबके मालिक है। इनमें से कोई भी चीज किसी की व्यक्तिगत नहीं है। केवल इन वस्तुओ का सदुपयोग करने के लिए भगवान ने व्यक्तिगत अधिकार दिया है। इस दिये हुए अधिकार को भी भगवान को अर्पण कर देना है।

शरीर, इन्द्रियां, मन आदि से जो कुछ शास्त्रविहित सासारिक या पारमार्थिक क्रियाएं होती है, वे सब भगवान की इच्छा है। मनुष्य तो केवल अहंकार के कारण उनको अपनी मान लेते हैं। उन क्रियाओ मे जो अपनापन है, उसे भी भगवान को अर्पण कर देना है, क्योकि वह अपनापन केवल मूर्खता माना हुआ है, वास्तव में है नहीं। इसलिए अपनेपन का भाव बिल्कुल उठा देना चाहिए और उन सब पर भगवान की मुहर लगा देनी चाहिए।

'मत्परः' यहां पर भगवान को परम आश्रय बताया गया है, उनके सिवाय मेरा कुछ नहीं है, मेरे को करना भी कुछ नहीं है, पाना भी कुछ नहीं है, किसी से कुछ लेना भी नहीं है अर्थात् देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि से मेरा किचिंमात्र कोई संबंध या प्रयोजन नहीं है। ऐसा अनन्यभाव हो जाना ही भगवान के परायण होना है। एक खास बात यह है कि रुपये पैसे, कुटुम्ब, शरीर आदि को मनुष्य अपना मानते है और मन में यह समझते है कि हम इनके मालिक बन गये, हमारा इन पर आधिपत्य है; परन्तु यह बात वास्तव मे झूठी है, कोरा वहम् है और बड़ा भारी धोखा है। जो किसी चीज को अपनी मान लेता है, वह उस चीज का गुलाम बन जाता है, वह चीज उसकी मालिक बन जाती है। फिर उस चीज के बिना वह रह नहीं सकता। अतः जिन चीजों को मनुष्य अपनी मान लेता है, वे सब उस पर चढ़ जाती है, और वह तुच्छ हो जाती है। वह चीज चाहे रुपया हो, चाहे कुटुम्ब, चाहे पैसा, शरीर, विद्या आदि हो। ये सब प्राकृत चीजे है और अपने से भिन्न है, पर है। इनके आधीन होना ही पराधीन होना है।

---

1 एक बानि करुणानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की मानस, अरण्य0 10/4

2 चेतसा सर्वकमार्णि मयि सन्यस्य मत्पर । बुद्धियोगमुपाश्रित्य माच्चित· सतत भव।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-18, श्लोक-56

भगवान स्वकीय है, अपने है। उनको मनुष्य अपना मनेगा, तो वे मनुष्य के वश में हो जायेंगे। भगवान के मन मे भक्त का जितना आदर है, उतना आदर करने वाला ससार मे दूसरा कोई नहीं है। भगवान भक्त के दास हो जाते है और उसे अपना मुकुटमणि बना लेते हैं-**'मैं तो हूँ भगतन् का दास भगत मेरे मुकुटमणि'** परन्तु ससार मनुष्य का दास बनकर उसे अपना मुकुटमणि नहीं बनायेगा। इसलिए केवल भगवान् के शरण होकर सर्वथा उन्हीं के परायण हो जाना चाहिए।

'बुद्धियोगमुपाश्रित्य'- सम्पूर्ण गीता मे समता की बडी महिमा है। मनुष्य मे एक समता आ गयी तो वह ज्ञानी, ध्यानी, योगी, भक्त आदि सब कुछ बन गया। यदि उसमे समता नहीं आयी तो अच्छे-अच्छे लक्षण आने पर भी भगवान उसको पूर्ण नहीं मानते। वह समता मनुष्य मे स्वाभाविक रहती है। केवल आने-जाने वाली परिस्थितियों के साथ मिलकर वह सुखी-दुःखी हो जाता है। इसलिए उसमें मनुष्य सावधान रहे कि आने जाने वाली परिस्थिति के साथ मैं नहीं हूँ। सुख आया, अनुकूल परिस्थिति आयी तो भी मैं हूँ और सुख चला गया, अनुकूल परिस्थिति चली गयी तो भी मै हूँ। ऐसे ही दुःख आया प्रतिकूल परिस्थिति आयी तो भी मैं हूँ और दुःख चला गया, प्रतिकूल परिस्थिति चली गयी तो भी मैं हूँ। अतः सुख-दुःख में अनुकूलता प्रतिकूलता में, हानि लाभ में मैं सदैव ज्यों का त्यों रहता हूँ। परिस्थितियों के बदलने पर भी मै नहीं बदलता हूँ सदा वही रहता हूँ। इस तरह अपने आप मे स्थित रहे। अपने आप में रहने से सुख-दुःख आदि मे समता हो जायेगी। यह समता ही भगवान की अराधना है।[1] इसलिए यहा भगवान् बुद्धियोग अर्थात् समता का आश्रय लेने के लिए कहते हैं।

अब यहा अध्याय 18 मे भगवान कहते है कि 'मच्चित: सततं भव' - जो अपने को सर्वथा भगवान मे समर्पित कर देता है, उसका चित्त भी सर्वथा भगवान के चरणों में समर्पित हो जाता है। फिर उस भगवान के चरणों मे समर्पित हो जाता है। फिर उस भगवान का जो स्वतः - स्वाभाविक अधिकार है वह प्रगट हो जाता है और उसके चित्त में स्वयं भगवान् आकर विराजमान् हो जाते हैं। यही 'मच्यित·' होना है। इसी मच्यितः पद के साथ सततम् पद के देने का अर्थ है कि निरन्तर मेरे मे (भगवान) चित्तवाला हो जा। भगवान का चिन्तन

1. 'समत्वमाराधनमच्छ्युतस्य' (विष्णु पुराण- 1/17/90)

हमेशा, तब होगा जब 'मै भगवान का हूं।' इस प्रकार अहता भगवान में लग जायेगी। अहंता स्वयं भगवान में लग जाने पर चित्त स्वतः, स्वाभाविक भगवान् में लग जाता है। जैसे, शिष्य बनने पर, 'मैं गुरू का हूँ' इस प्रकार अहता गुरू में लग जाने पर गुरू की याद निरन्तर बनी रहती है। गुरू का सम्बध अहंता मे बैठ जाने के कारण इस सम्बन्ध की याद आये तो भी याद है और याद न आये तो भी याद हैं, क्योकि स्वयं निरन्तर रहता है। इसमें भी देखा जाये तो गुरू के साथ उसने स्वयं सम्बन्ध जोड़ा है, परन्तु भगवान के साथ इस जीव का स्वत· सम्बन्ध है। केवल संसार के साथ सम्बन्ध जोड़ने से ही नित्य सम्बन्ध की विस्मृति हुई है। उस विस्मृत को मिटाने के लिए भगवान कहते है कि निरन्तर मेरे मे चित्तवाला हो जा।

ससारिक काम करने मे साधक को सावधानी रखनी पड़ती है, जो काम करें उसमें चित्त को द्रवित न होने दें, चित्त को संसार के साथ घुलने-मिलने न दे, अर्थात तदाकार न होने दे, प्रत्युत उसमे अपने चित्त को कठोर रखे। परन्तु भगवान का जप, कीतर्न, भगवत्कथा, भगवच्चिन्तन आदि भगवत्सम्बन्धी कार्यो मे चित्त को द्रवित करता रहे, तल्लीन करता रहे।[1] इस प्रकार करते रहने से साधक जल्दी भगवान मे चित्तवाला हो जायेगा।

चित्त से सब कर्म भगवान् के अर्पण करने से संसार से नित्य-वियोग हो जाता है और भगवान् के परायण होने से नित्य योग (प्रेम) हो जाता है। नित्ययोग में योग, नित्ययोग में वियोग, वियोग में नित्ययोग और वियोग में वियोग- ये चार अवस्थाएं चित्त की वृत्तियों को लेकर जाती है। इन चारो अवस्थाओ को उदाहरण द्वारा समझे, श्रीराधा और श्रीकृष्ण का परस्पर मिलन होता है, तो यह 'नित्ययोग में योग' है। मिलन होने पर श्रीजी में ऐसे भाव आ जाते हैं कि तुम कहीं चले गये, तो यह 'नित्ययोग में वियोग' है। श्याम सुन्दर सामने नहीं है, पर मन में उन्हीं का चिन्तन है। मन मे तो वे प्रत्यक्ष दिख रहे हैं, तो ये वियोग में नित्ययोग' है। श्यामसुन्दर थोड़े समय के लिए मन में नहीं आये पर, मन में ऐसा भव उठ रहा है कि बहुत समय बीत गया श्यामसुन्दर मिले नहीं, क्या करूँ, कहां जाऊँ? श्यामसुन्दर कैसे मिले? तो यह 'वियोग मे वियोग' है। इन चारों अवस्थाओ में भगवान के साथ नित्ययोग ज्यो का त्यों बना रहता है, वियोग कभी नहीं आता है, इसी नित्ययोग को प्रेम' कहते हैं।

---

1 काठियन्त विषये कुयदि-द्रवत्व भगवत्पदे। उपायौ शास्त्रनिर्दिष्टै रनुक्षणतो बुध ।।
'श्रीमद् भगवद्गीता साधक सजीवनी'- स्वामी राम सुखदास द्वारा (कृत पुस्तक सें, भान्तिरसायन 01/32) पृष्ठ स0 1182.

क्योंकि प्रेम मे प्रेमी और प्रेमास्पद दोनों अभिन्न रहते हैं। वहां भिन्नता कभी हो ही नहीं सकती। प्रेम का आदान-प्रदान करने के लिए ही भक्त और भगवान में संयोग वियोग की लीला हुआ करती है।

प्रेम में चार प्रकार के रस अथवा रति होती है। दास्य, संख्य, वात्सल्य, और माधुर्य। इन रसों में दास्य से संख्य, संख्य से वात्सल्य, वात्सल्य से माधुर्य रस श्रेष्ठ है, क्योंकि इनमें क्रमशः भगवान के ऐश्वर्य की विस्मृति होती चली जाती है। यदि इन चारों रसों में से एक में भी रस पूर्णता में पहुंच जाता है तो उसमे दूसरे रसों की कमी नहीं होती अर्थात सारे रस आ जाते है। कारण यह है कि भगवान् पूर्ण है, उनका प्रेम भी पूर्ण है और परमात्मा का अंश होने से जीव भी स्वयं पूर्ण है। अपूर्णता तो केवल संसार के बन्धन से ही आती है। इसलिए भगवान् के साथ किसी भी रीति से रति हो जायेगी तो वह पूर्ण हो जायेगी, उसमे कोई कमी नहीं रहेगी। 'दास्य' रति में भक्त का भगवान के प्रति यह भाव रहता है कि भगवान मेरे स्वामी है, और मैं उसका सेवक हूॅ। मेरे पर उनका पूरा अधिकार है। वे चाहें जो करें। चाहे जैसी परिस्थिति में रखे और मेरे से चाहे जैसा काम ले। मेरे पर अत्यधिक अपनापन होने से ही वे बिना मेरी सम्मति लिये ही मेरे लिए ही सब विधान करते हैं। 'संख्य' रति में भक्त का भगवान् के लिए भाव रहता है कि भगवान मेरे सखा है, और मैं उसका सखा हूँ। वे मेरे प्यारे है और मैं उसका प्यारा हूँ। उनका मेरे पर पूरा अधिकार है और मेरा उन पर पूरा अधिकार है, तो मेरी भी बात उनको माननी पड़ेगी। 'वात्सल्य' रति में भक्त का अपने में स्वामीभाव रहता है कि मैं भगवान् की माता हूॅ या उनका पिता हूॅ अथवा उनका गुरु हूॅ और वह तो हमारा बच्चा है अथवा शिष्य है, इसलिए उनका पालन-पोषण करना है। जैसे नन्दबाबा और यशोदा मैया कन्हैया का ख्याल रखते हैं, और कन्हैया बन में जाते है तो उसकी निगरानी रखने के लिए दाऊजी को साथ में भेजते हैं। 'माधुर्य' रति में भक्त को भगवान् के ऐश्वर्य की विशेष विस्मृति रहती है, अतः इस रति में भक्त भगवान् के साथ अपनी अभिन्नता मानता है। 'अभिन्नता मानने से उसके लिए सुखदायी सामग्री जुटानी है, उन्हें सुख आराम पहॅुचाना है, उसे किसी तरह की कोई तकलीफ न हो' ऐसा भाव बना रहता है।[1]

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता साधक सजीवनी- स्वामी श्री रामसुखदास, गीता प्रेस, गोरखपुर।

प्रेम-रस अलौकिक है, चिन्मय है। इसका आस्वादन करने वाले भगवान ही है। प्रेम मे प्रेमी और प्रेमास्पद दोनो ही चिन्मय तत्व होते हैं। कभी प्रेमी प्रेमास्पद बन जाता है और कभी प्रेमास्पद प्रेमी बन जाता है। अतः एक चिन्मय-तत्व ही प्रेम का आस्वादन करने के लिए दो रुपो में हो जाता है। प्रेम के तत्व को न समझने के कारण कुछ लोग सांसारिक काम को ही प्रेम कह देते है। उनका यह कहना बिल्कुल गलत है कि काम तो चौरासी लाख योनियों के सम्पूर्ण जीवों में रहता है, और उन जीवो में भी जो भूत, प्रेत, पिशाच होते हैं, उनमें काम (सुखभोग की इच्छा) अत्यधिक होता है। परन्तु प्रेम के अधिकारी जीवन्मुख महापुरुष ही होते हैं।

काम में तो लेने ही लेने की भावना होती है और प्रेम में देने ही देने की भावना होती है। काम में अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने उनसे सुख भोगने का भाव रहता है और प्रेम में अपने प्रेमास्पद को सुख पहुँचाने तथा सेवा परायण रहने का भाव रहता है। काम केवल शरीर को लेकर ही होता है, और प्रेम स्थूल दृष्टि से शरीर मे दिखते हुए भी वास्तव में चिन्मय तत्व से ही होता है। काम में मोह (मूढ़भाव) रहता है और प्रेम में मोह की गन्ध भी नहीं रहती। काम में संसार तथा संसार का दुःख भरा रहता है, और प्रेम में मुक्ति तथा मुक्ति से भी विलक्षण आनन्द रहता है। काम में जड़ता (शरीर इन्द्रियां आदि) की मुख्यता रहती है। काम मे राग होता है और प्रेम मे त्याग रहता है। काम में परतन्त्रता होती है और प्रेम मे परतन्त्रता का लेश भी नहीं होता अर्थात सर्वथा स्वतन्त्रता होती है। काम में 'वह मेरे काम में आ जाये' ऐसा भाव रहता है और प्रेम में 'मैं उसके काम आ जाऊँ' ऐसा भाव रहता है। काम में कामी भोग्य वस्तु के गुलाम बन जाते हैं। प्रेम में स्वयं भगवान प्रेमी के गुलाम बन जाते हैं। काम का रस नीरसता में बदलता है और प्रेम का रस आनंदरुप से प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है। काम खिन्नता से पैदा होता है और प्रेम प्रेमास्पद की प्रसन्नता से प्रकट होता है। काम में अपनी प्रसन्नता का ही उद्देश्य रहता है और प्रेम में प्रेमास्पद की प्रसन्नता का ही उद्देश्य रहता है। काम-मार्ग नरकों की तरफ ले जाता है और प्रेम-मार्ग भगवान की तरफ ले जाता है। काम मे दो होकर दो ही रहते हैं अर्थात द्वैधी भाव (भिन्नता या भेद) कमी मिटता नहीं और प्रेम में एक होकर दो होते हैं अर्थात अभिन्नता कभी मिटती

नहीं।[1] अभी तक शाश्वत पद की प्राप्ति बताकर अब उसकी विधि का वर्णन करते हुए कहते है अब साधक के लिए दो ही खास काम है-ससार के सम्बन्ध का त्याग और भगवान् के साथ सम्बन्ध (प्रेम) है। भगवान ने गीता में अध्याय 18, श्लोक सख्या 57 में कहा है कि 'वुद्धियोगमुपाश्रित्य' से यहा अर्थ है कि संसार का सूक्ष्म सम्बन्ध भी न रहे।[2] एकमात्र भगवान का चिन्तन करने से समता (बुद्धियोग) स्वतः आ जाती है, इसलिए 'मच्चितः सततं भव' कहा है। भगवद्भक्त ने अपनी तरफ से सब कर्म भगवान को अर्पण कर दिया, स्वयं भगवान के अर्पित हो गया और उसका भगवान से अटल सम्बन्ध हो गया। सब कुछ हो जाने पर भी वास्तविक तत्व की प्राप्ति में यदि कुछ कमी रह जाये या सासारिक लोगो की अपेक्षा अपने में कुछ विशेषता देखकर अभिमान आ जाये अथवा इस प्रकार के कोई सूक्ष्म दोष रह जायें, तो उन दोषों को दूर करने की साधक पर कोई जिम्मेदारी नहीं रहती, प्रत्युत उन दोषों को, विघ्न-बाधाओ को दूर करने की पूरी जिम्मेदारी भगवान की हो जाती है। इसलिए भगवान गीता, अध्याय 18 मे कहते है।[3] 'मत्प्रसादात्तरिष्यति' का अर्थ है कि मेरी कृपा से सम्पूर्ण विघ्न बाधाओ को तर जायेगा। तात्पर्य यह है कि भक्त अपनी ओर से उसको जितना समझ मे आ जाये, उतना पूरी सावधानी के साथ कर ले, उसके बाद जो कुछ कमी रह जायेगा, वह भगवान की कृपा से पूरी हो जायेगी। यहां मनुष्य से केवल एक ही अपराध हुआ है कि उसने संसार के साथ अपना सम्बन्ध मान लिया है और भगवान से विमुख हो गया। अब उस अपराध को दूर करने के लिए वह ससार से सम्बन्ध तोड़कर भगवान के सम्मुख हो गया। सम्मुख होने पर संसार से जो कमी रह गयी, वह भगवान की कृपा से पूरी हो गयी। जिसका प्रकृति और प्रकृति के कार्य शरीरादि के साथ सम्बन्ध है, उस पर शास्त्रों का विधिनिषेध, अपने वर्ण आश्रम के अनुसार कर्तव्य पालन आदि नियम लागू होते हैं और

---

1 द्वैत मोहाय बोधात्प्राग्जाते बोधे मनीषया। भक्त्यर्थ कल्पित (स्वीकृत) द्वैतद्वैतादपि सुन्दरम्।।
पारमार्थिकमद्वैत दैव भजनहेतव। तादृशी यदि भक्ति स्यात्सा तु मुक्तिशताधिका।। (बोधसार भक्ति0 42-43)
'बोध से पहले का द्वैत मोह में डाल सकता है। परन्तु बोध हो जाने पर भक्ति के लिए स्वीकृत द्वैत-अद्वैत से भी अधिक सुन्दर होता है।'
'वास्तविक तत्व तो अद्वैत ही है, पर भजन के लिए द्वैत है। ऐसी यदि भक्ति है तो वह भक्ति मुक्ति से भी सौगुनी श्रेष्ठ है।'

2 दूरेण ह्यवर कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय। बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणा फलहेतव ।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-2, श्लोक- 49

3 मच्चित्त· सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यति। अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-18, श्लोक 58

उनको उस नियम का पालन करना जरुरी है। इसका कारण है कि प्रकृति और प्रकृति के कार्य शरीरादि के संबंध को लेकर ही पाप-पुण्य होते है और उनका फल सुख-दुःख भी भोगना पड़ता है। इसलिए उस पर शास्त्रीय मर्यादा और नियम विशेषता से लागू होते है। परन्तु जो प्रकृति और प्रकृति के कार्य से सर्वथा ही विमुख होकर भगवान के सम्मुख हो जाते हैं, वह शास्त्रीय विधि-निषेध और वर्ण आश्रमों की मर्यादा के दास नहीं होते। वह विधिनिषेध से भी ऊँचा उठ जाता है अर्थात उस पर विधि निषेध लागू नहीं होता, क्योकि विधि निषेध की मुख्यता प्रकृति के राज्य में ही रहती है। प्रभु के राज्य मे तो शरणागति की ही मुख्यता रहती है।

जीव साक्षात् परमात्मा का अश है।[1] यदि वह केवल अपने अंशी परमात्मा की ही तरह चलता है, तो उस पर देव, ऋषि, प्राणी, माता-पिता आदि आप्तजन और दादा-परदादा आदि पितरों का भी कोई ऋण नहीं रहता,[2] क्योकि शुद्ध चेतन अंश ने इनसे कभी कुछ नहीं लिया। लेना तभी होता है जब वह जड़ शरीर के साथ अपना सम्बन्ध जोड लेता है, और संबंध जोड़ने से ही कमी आती है, नहीं तो उसमें कभी कमी नहीं आती।[3] जब उसमें कभी कमी नहीं आती, तो वह पूर्ण ऋणी कैसे बन सकता है? यही सम्पूर्ण विघ्नो को तरना है। साधन काल में जीवन निर्वाह की समस्या, शरीर में रोग आदि अनेक विघ्न बाधाएँ आती है, परन्तु उनके आने पर भी भगवान् की कृपा का सहारा रहने से साधक विचलित नहीं होता। उसे तो उन विघ्न बाधाओं में भगवान् की विशेष कृपा ही दिखती है। इसलिए उसे विघ्न बाधाएं बाधारुप से दिखती ही नहीं, प्रत्युत कृपा रूप से ही दिखती है। भगवान कहते है कि मेरा आश्रय लेने वाले के दोनों काम मैं कर दूॅगा अर्थात अपनी कृपा से साधन की सम्पूर्ण विघ्न बाधाओं को भी दूर कर दूँगा और उस साधन के द्वारा अपनी प्राप्ति भी करा दूँगा।

---

1 ममैवाशो जीवलोके जीवभूत सनातन मन षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-15, श्लोक-7 ।

2 देवर्षि भूताप्तनृणा पितरा न किङ्करो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना य. शरण शरण्य गतो मुकुन्द परिहृत्य कर्तम्।।
श्रीमद् भगवद्गीता, 11/5/41
'राजन्! जो सारे कार्यों को छोडकर सम्पूर्ण रूप से शरणागत वत्सल भगवान् की शरण में आ जाता है, वह देव, ऋषि, प्राणी, कुटुम्बजन और पितृगण- इनमे से किसी का भी ऋणी और सेवक नहीं रहता।'

3. नासतो विधते भावो नाभावो विघते सत । उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिमि ।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-2, श्लोक-16

'अथ चेत्वमहङ्कारात्र श्रेष्यति विनङक्ष्यसि'- भगवान् अत्यधिक कृपालुता के कारण आत्मीयतापूर्वक अर्जुन से कह रहे है कि **'अथ'**- पक्षान्तर में मैने जो कुछ कहा है, उसे न मानकर अगर अहंकार के कारण अर्थात् 'मै भी कुछ जानता हूॅ, करता हूॅ तथा मै कुछ समझ सकता हूॅ, कुछ कर सकता है, आदि भावों के कारण तू मेरी बात नहीं सुनेगा, मेरे इशारे के अनुसार नहीं चलेगा, मेरा कहना नहीं मानेगा, तो तेरा पतन हो जायेगा- 'विनड्क्ष्यसि'।

यद्यपि अर्जुन के लिए यह किञ्चिन्मात्र भी सभव नहीं है कि वह भगवान की बात न सुने तथापि भगवान् कहते है कि **'चेत्'** अगर तू मेरी बात नहीं सुनेगा तो तेरा पतन हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि अगर तू अनजानेपन से मेरी बात न सुने तो यह सब क्षम्य है, परन्तु यदि तू अहंकार से मेरी बात नहीं सुनेगा तो तेरा पत्तन हो जायेगा। क्योकि अहंकार से मेरी बात न सुनने से तेरा अभिमान बढ जायेगा। जो सम्पूर्ण आसुरी सम्पत्ति का मूल है भगवान ने स्वयं श्रीमुख से कहा कि तू मेरा भक्त और सखा है[1] और आगे कहा कि अर्जुन तू प्रतिज्ञा कर कि मेरे भक्त का पत्तन नहीं होगा।[2] इससे सिद्ध हुआ है कि अर्जुन भगवान के भक्त है, अतः वे कभी भगवान से विमुख नहीं हो सकते और उनका पतन भी कभी नहीं हो सकता। परन्तु वे अर्जुन यदि भगवान की बात नहीं सुनेगे तो भगवान् से विमुख हो जायेगे और भगवान से विमुख होने के कारण उनका भी पतन होगा। तात्पर्य यह है कि भगवान् से विमुख होने के कारण ही प्राणी का पतन होता है अर्थात् वह जन्म मरण के चक्कर में पड़ जाता है।[3]

गीता के अध्याय 18 के छप्पनवे श्लोक में[4] भगवान ने प्रथम पुरूष 'अवाप्रोति' का प्रयोग करके सामान्य रीति से सबके लिए कहा कि मेरी कृपा से परमपद की प्राप्ति हो जाती

---

1 स एवाय मया तेऽद्य योग प्रोक्त. पुरातन । भक्तोऽसि में सखा चेति रहस्य ह्योतदुत्तमम्।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-4, श्लोक-3

2 क्षिप्र भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति। कौन्तेय प्रति जानीहि न में भक्त प्रणश्यति।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-9, श्लोक-31

3 अश्रद्धाना पुरुषा धर्मस्यास्य परतप। अप्राप्य मा निवर्तन्ते मृत्युससारवर्त्मनि।। गीता, अध्याय-9, श्लोक-3
आसुरी योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि। मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमा गतिम्।। गीता, अध्याय-15, श्लोक-20

4 सर्वकमण्यिपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रय । मत्प्रसादादवाप्रेति शाश्वत पदमव्ययम्।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-18, श्लोक-56

है, यहां मध्यम पुरुष 'तारष्यसि' का प्रयोग करके अर्जुन के लिए कहते हैं कि मेरी कृपा से तू सब विघ्न बाधाओं को तर जायेगा। इन दोनो बातों का तात्पर्य यह है कि भगवान् की कृपा में जो शक्ति है, वह शक्ति किसी साधन मे नहीं। इसका अर्थ यह नहीं कि साधन न करे, प्रत्युत परमात्म प्राप्ति के लिए साधन करना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म होना चाहिए, क्योंकि मनुष्य जन्म केवल परमात्मप्राप्ति के लिये ही मिला है। मनुष्य जन्म को प्राप्त करके भी जो परमात्मा को प्राप्त नहीं करता, वह यदि ऊँचे से ऊँचे लोक में भी चला जाये, तो भी उसे लौटकर संसार (जन्म मरण) में आना ही पड़ेगा।[1] इसलिए जब यह मनुष्य शरीर प्राप्त हुआ, तो फिर मनुष्य को जीते जी ही भगवान् की प्राप्ति हो गयी और वह जन्म मरण के चक्र से रहित हो गया या हो जाना चाहिए।

कर्मयोगी के लिये भी भगवान् ने कहा है कि समतायुक्त पुरुष इस जीवित अवस्था में ही पुण्य और पाप दोनों से रहित हो जाता है।[2] तात्पर्य यह हुआ कि कर्म बन्धन से सर्वथा रहित होना अर्थात् जन्म मरण से रहित होना मनुष्यमात्र का परम ध्येय है।[3] भगवान ने कहा कि मैं अपनी कृपा से भक्तों के अन्तःकरण में ज्ञान प्रकाशित कर देता है, और[4] भगवान् ने कहा कि मैंने अपनी कृपा से विराटरूप दिखाया है। इसी कृपा को लेकर भगवान यहां कहते हैं कि मेरी कृपा से परमपद की प्राप्ति हो जायेगी और मेरी कृपा से ही सम्पूर्ण विघ्नों को तर जायेगा परमपद को प्राप्त होने पर किसी प्रकार का विघ्न बाधा सामने नहीं आती है। फिर भी सम्पूर्ण बात को तरने की बात आती है कि उस समय अर्जुन के मन में यह भय बैठा था कि युद्ध करने से मुझे पाप लगेगा, युद्ध के कारण कुल परम्परा के नष्ट होने से पितरों का पतन हो जायेगा और इस प्रकार अनर्थ परम्परा बढ़ती ही जायेगी, हम लोग राज्य के लोभ में आकर इस महान पाप को करने के लिए तैयार हो गये हैं, इसलिये मैं शस्त्र छोड़कर बैठ जाऊँ और धृतराष्ट्र के पक्ष के लोग मेरे को मार भी दें तो भी मेरा कल्याण ही

---

1. आब्रह्माभुवनाल्लोका पुनरावर्तिनोऽर्जुन । मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।।
   श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-8, श्लोक- 16
2. बुद्धियुक्तो जटातीह उभे सुकृतदुष्कृते। तस्माद्योगाय युज्यस्व योग कर्मसु कौशलम्।।
   श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-2, श्लोक- 50
3 तेषामेवानुकम्पार्थमध्यज्ञानज तम । नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।। श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-10, श्लोक-11
4. मया प्रसन्नैन तवार्जुनेद, रुपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
   तेजामय विश्वमनन्तमाघ यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्।।श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-11, श्लोक-47

होगा।[1] इन सभी बातों को लेकर और अनेक जन्मों के दोषों को भी लेकर भगवान् अर्जुन से कहते है कि मेरी कृपा से तू सब विघ्नों को, पापो को तर जायेगा– 'सर्वदुर्गाणिमत्प्रसादात्तरिष्यति'। भगवान ने बहुवचन में 'दुर्गाणि' पद देकर भी उसके साथ 'सर्व' शब्द और जोड़ दिया। इसका अर्थ है कि मेरी कृपा से तेरा किञ्चिनमात्र भी पाप नहीं रहेगा, कोई भी बन्धन नहीं रहेगा और मेरी कृपा से सर्वथा शुद्ध होकर तू परमपद को प्राप्त हो जायेगा।

भक्त का तो काम है केवल भगवान का आश्रय लेना है, भगवान का ही चिन्तन करना है। फिर उसके सब काम भगवान ही करते हैं। भगवान भक्त पर विशेष कृपा करके उसके साधन की सम्पूर्ण विघ्न बाधाओं को दूर कर देते हैं और साथ ही साथ अपनी प्राप्ति करा देते है[2] इसलिए ब्रह्मसूत्र में आया है-'विशेषानुग्रहश्च' (३/४/३८) 'भगवान् की भक्ति का अनुष्ठान करने से भगवान् का विशेष अनुग्रह होता है। 'वास्तव मे मनुष्य पर भगवान् की कृपा तो है ही, पर भगवान् का आश्रय लेने से भक्त को उसका विशेष अनुभव होता है।

जब मनुष्य अहंकारपूर्वक क्रियाशील प्रकृति के वश मे हो जाता है, तो वह यह कैसे कह सकता है कि मैं अमुक कर्म करूँगा और नहीं करूँगा। अर्थात् प्रकृति के परवश हुआ मनुष्य करना और न करना। इन दोनों से छूटेगा नहीं। कारण कि प्रकृति के परवश हुए प्रकृति का तो "करना" भी और "न करना" भी कर्म है। परन्तु जब मनुष्य प्रकृति के परवश नहीं रहता तो उसके लिए करना और न करना-ऐसा कहना ही नहीं बनता। तात्पर्य यह है कि जो प्रकृति के साथ संबंध रखे और कर्म न करना चाहे, ऐसा उसके लिए संभव नहीं है। परन्तु जिसने प्रकृति से संबंधविच्छेद कर लिया अथवा भगवान के शरण सर्वथा हो गया, उसे कर्म करने के लिए बाध्य नहीं होना पडता।

अर्जुन ने भगवान के शरण होकर शिक्षा की प्रार्थना की और उसके बाद अर्जुन ने साफ-साफ कह दिया कि "मैं युद्ध नहीं करूँगा"। यह बात भगवान को अच्छी नहीं लगी। भगवान मन में सोचते हैं कि पहले तो ये मेरी शरण में हो गया और फिर इसने मेरे कुछ

---

1 निहत्य धृतराष्ट्रान का प्रीति स्याज्जनार्दन। पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिन.।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-1, श्लोक-36

2. अनन्याश्चिन्तयन्तो मा ये जना. पर्युपासते। तेषा नित्याभियुक्तानां योगक्षेम वहाम्यहम्।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-9, श्लोक-22

कहे बिना ही अपनी तरफ से साफ-साफ कह दिया कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तो यह मेरी शरणागति नहीं रही? यह तो अहकार की शरणागति हो गयी। कारण कि वास्तविक शरणागत होने पर मैं यह करूँगा, "यह नहीं करूँगा" ऐसा कहना ही नहीं पड़ता। भगवान के शरणागत होने पर तो भगवान जैसा करायेगे, वैसा ही करना होगा।

यह एक बडी मार्मिक बात है कि मनुष्य जिन प्राकृत पदार्थो को अपना मान लेते है। उन पदार्थों के सदा ही पराधीन हो जाते है। वे वहम तो यह रखते है कि हम इन पदार्थो के मालिक है, पर हो जाते है उनके गुलाम। परन्तु जिन पदार्थों को अपना नहीं मानते, उन पदार्थों के परवश नहीं होते, इसलिए मनुष्य को किसी प्राकृत पदार्थ को अपना नहीं मानना चाहिए। क्योंकि वे वास्तव में अपने है ही नहीं, परन्तु अपने वास्तव में तो भगवान ही है। भगवान की शरण मे जाने से परतन्त्रता लेश मात्र भी नहीं रहती यही शरणागति की महिमा है। परन्तु जो प्रभु की शरण न लेकर अहंकार की शरण लेते हैं, वे मीत के मार्ग (संसार) मे वह जाते हैं।[1]

श्रीमद् भगवद्गीता में, अध्याय 18 मे, भगवान ने कहा अहकार के कारण 'फल' ठीक नहीं होगा, और अहकार के कारण 'क्रिया' भी ठीक नहीं है। तात्पर्य है कि सुनने या न सुनने से पत्तन नहीं होगा, प्रत्युत अहकार वश पतन होगा। कर्म करना या न करना बाधक नहीं है, बल्कि अहकार बाधक है।[2] भगवान ने आगे कहां कि मैं अपनी प्राप्ति भी करा दूँगा और तेरे विघ्नो को दूर करा दूँगा। परन्तु इतना कहने पर भी अर्जुन बोले नहीं, जब कि उनको यहा 'करिष्ये वचन तव' कह देना चाहिए। तब भगवान कहते है कि अगर तू भूल से मेरी बात न सुने तो कोई बात नहीं, पर तू अहकार से मेरी बात नहीं सुनेगा तो तेरा पतन हो जायेगा। भगवान के कहने का भाव यह है कि जैसे भक्त का सब काम मै कर देता हूँ वैसे ही भक्त को चाहिए कि वह सब प्रकार से मेरा आश्रय ले। श्रीमद् भगवद्गीता मे अध्याय 18 के श्लोक 60 मे[3] भगवान कहते हैं कि जैसे पूर्वजन्म में कर्म और गुणों की

---

1 अश्रद्दधाना पुरुषा धर्मस्यास्य परतप। अप्राप्य मा निवर्तन्ते मृत्युससारवर्त्मनि।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-9, श्लोक सख्या-3

2 सर्वकमण्यिपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रय । मत्प्रसादादवाप्रोति शाश्वत पदमण्यपम्।। 18/56
मच्चित सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि। अथ चेत्त्वमहकाराल श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि।।18/58
अध्याय-18, 56 और 58 श्लोक

3 स्वभावजेन कौन्तेय निबद्ध स्वेन कर्मणा। कर्तं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्।।
श्रमद् भगवद्गीता, अध्याय-18, श्लोक-60

वृत्तियॉ रही है, इस जन्म मे जैसे माता-पिता से पैदा हुए हैं अर्थात् माता-पिता के जैसे संस्कार रहे हैं, जन्म के बाद जैसा देखा सुना है, जैसी शिक्षा प्राप्त हुई है और जैसे कर्म किये हैं उन सब के मिलने से अपनी जो कर्म करने की एक आदत बनी है उसका नाम स्वभाव है। इसको भगवान ने 'स्वभावजन्य स्वक्रीय कर्म' कहा है, इसी को 'स्वधर्म' भी कहते हैं- 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि'। स्वभावजन्य क्षात्र प्रकृति से बंधा हुआ तू मोह के कारण जो नहीं करना चाहता, उसको तू परवश होकर करेगा। स्वभाव के अनुसार ही शास्त्रों ने कर्तव्य पालन की आज्ञा दी है। उस आज्ञा मे यदि दूसरों के कर्मो की अपेक्षा अपने कर्मो में कमियां अथवा दोष दिखते है। उस स्वभावजन्य कर्म के अनुसार तू युद्ध करने के लिए परवश है। जो पुरुष जीवनमुक्त होते है, उनका स्वभाव सर्वथा शुद्ध होता है। अतः उन पर स्वभाव का आधिपत्य नहीं रहता, अर्थात् वे स्वभाव के परवश नहीं होते, फिर भी वे किसी काम में प्रवृत्त होते हैं, तो अपनी प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार ही काम करते हैं। परन्तु साधारण मनुष्य प्रकृति के परवश होते हैं, इसलिए उनका स्वभाव उनको जबरदस्ती कर्म मे लगा देता है।[1] यहां भगवान अर्जुन से कहते है कि तेरा क्षात्र स्वभाव भी तुझे जबर्दस्ती युद्ध में लगा देगा, परन्तु उसका फल तेरे लिए बढ़िया नहीं होगा। यदि तू शास्त्र या सन्तमहापुरुषों की आज्ञा से अथवा मेरी आज्ञा से युद्धरुप कर्म करेगा तो वही कर्म तेरे लिए कल्याणकारी हो जायेगा। कारण कि शास्त्र अथवा मेरी आज्ञा से कर्मो को करने से, उन कर्मो मे जो राग द्वेष है, वे स्वाभाविक ही मिटते चले जायंगे; क्योंकि तेरी दृष्टि आज्ञा की तरफ रहेगी, राग द्वेष की तरफ नहीं। अतः वे कर्म बन्धनकारी न होकर कल्याणकारी ही है। गीता में प्रकृति की परवशता की बात सामान्य रुप से कई जगह आयी है। परन्तु दो जगह विशेष रूप से आयी हैं-'प्रकृतिं यान्ति भूतानि', और 'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति'। इससे स्वभाव की प्रबलता ही सिद्ध होती है; क्योंकि कोई भी प्राणी जिस किसी योनि में जन्म लेता है, उसकी प्रकृति अर्थात् स्वभाव उसके साथ में रहता है। अगर उसका स्वभाव परम शुद्ध हो अर्थात् स्वभाव में सर्वथा असंगता हो तो उसका जन्म ही क्यों होगा? यदि उसका जन्म होगा तो उसमें स्वभाव की ही मुख्यता होगी। जब स्वभाव की ही मुख्यता रहेगी, और प्रत्येक क्रिया स्वभाव के अनुसार ही होगी, तो शास्त्रों का विधि निषेध किस पर लागू होगा? इस प्रश्न का उत्तर

---

1. सदृशं चेष्टते स्वस्या प्रकृतेर्ज्ञानवानषि। प्रकृलि यन्ति भूतानि निग्रह· कि करिष्यति।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-3, श्लोक-33

देते हुए कहा है कि मनुष्य गंगा जी के प्रवाह को रोक तो नहीं सकता, पर उसके प्रवाह को मोड़ सकता, घुमा सकता है। ऐसे मनुष्य अपने वर्णोचित स्वभाव को छोड तो नहीं सकता, पर भगवत्प्राप्ति का उद्देश्य रखकर उसको राग-द्वेष से रहित परम शुद्ध, निर्मल बना सकता है। इसका अर्थ यह है कि स्वभाव को शुद्ध बनाने में मनुष्य मात्र सर्वथा सबल और स्वतन्त्र है, निर्बल और परतन्त्र नहीं है। निर्बलता और परतन्त्रता तो केवल राग-द्वेष होने से प्रतीत होता है।

इस स्वभाव को सुधारने के लिए भगवान ने गीता मे कर्मयोग और भक्तियोग की दृष्टि से दो उपाय बताये है-

कर्मयोग की दृष्टि से

[1]यहा अध्याय तीन के 34वे श्लोक में भगवान ने बताया कि मनुष्य के खास शत्रु राग-द्वेष ही है। अतः राग-द्वेष को वश मे होना चाहिए, अर्थात राग-द्वेष को लेकर कोई कर्म नहीं कर सकता। प्रत्युत शास्त्र की आज्ञा के अनुसार ही प्रत्येक कर्म करना चाहिए। शास्त्र के अनुसार अर्थात शिष्य गुरु की, पुत्र माता-पिता की, पत्निपति की और नौकर मालिक की आज्ञा के अनुसार प्रसन्नतापूर्वक सब कर्म करता है, उसमे राग-द्वेष नहीं रहते। कारण कि अपने मन के अनुसार कर्म करने से ही राग-द्वेष पुष्ट होते हैं। शास्त्र आदि की आज्ञा के अनुसार कार्य करने से और कभी दूसरा नया कार्य करने का भाव मन मे आ जाने पर भी शास्त्र की आज्ञा न होने से हम वह कार्य नहीं करते, तो उससे हमारा 'राग' मिट जायेगा, और कभी कार्य को न करने का भाव मन मे आ जाने पर भी शास्त्र की आज्ञा होने से हम वह कार्य प्रसन्नतापूर्वक करते है तो उससे हमारा द्वेष मिट जायेगा।

भक्तियोग की दृष्टि से

जब मनुष्य ममतावाली वस्तुओ के सहित स्वय भगवान् के शरण हो जाता है, तब उसके पास अपना कुछ नहीं रहता। वह भगवान के हाथ की कठपुतली बन जाता है। फिर भगवान की आज्ञा के अनुसार उसकी इच्छा के अनुसार ही इसके द्वारा सब कार्य होते हैं, जिससे उसके स्वभाव मे रहने वाले राग-द्वेष मिट जाते हैं। तात्पर्य यह है कि कर्मयोग मे

---

1. इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषो व्यवस्थितौ। तयोर्न वशमागच्छेत्तो हास्य परिपन्थिनौ।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-3, श्लोक-34

राग-द्वेष के वशीभूत न होकर कार्य करने से स्वभाव शुद्ध हो जाता है[1] और भक्तियोग में भगवान् के सर्वथा अर्पित होने से स्वभाव शुद्ध हो जाता है।[2] स्वभाव शुद्ध होने से बन्धन का कोई प्रश्न नहीं रहता। मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, वह कभी राग-द्वेष के वशीभूत होकर करता है, और कभी सिद्धान्त के अनुसार करता है। राग-द्वेषपूर्वक कर्म करने से राग-द्वेष दृढ़ हो जाते है और फिर मनुष्य का ऐसा स्वभाव बन जाता है। सिद्धान्त के अनुसार कर्म करने से उसका सिद्धान्त के अनुसार ही करने का उद्देश्य या स्वभाव बन जाता है। जो मनुष्य परमात्म प्राप्ति का उद्देश्य रखकर शास्त्र और महापुरुषों के सिद्धान्त के अनुसार कर्म करते हैं और जो परमात्मा को प्राप्त हो गये है- वे दोनों (साधकों और सिद्ध महापुरुषो) के कर्म दुनिया के लिए आदर्श होते है, और अनुकरणीय होते है।[3]

विहित कर्मों का स्वभाव और निषिद्ध कर्मों का स्वभाव, इस प्रकार दो तरह के स्वभाव है। इनमें विहित कर्मो का स्वभाव तो स्वतः होने से 'स्व-स्वभाव' है। पर निषिद्ध कर्मों का स्वभाव आगन्तुक होने से 'पर स्वभाव' है। विहित कर्मों का स्वभाव तो सजातीय होने से जन्य नहीं है निषिद्ध कर्मों का स्वभाव विजातीय होने से जन्य (कुसगजन्य) है। मनुष्य का खास कर्तव्य है- अपना स्वभाव ठीक करना अर्थात् निषिद्ध कर्मों के स्वभाव का त्याग करके विहित कर्मों के स्वभाव के अनुसार आचरण करना। भगवान् ने विहित कर्मों के स्वभाव के अनुसार ही अपने वर्ण धर्म का पालन करने की आज्ञा दी है।

भगवान् कहते हैं कि चाहे कर्तव्य मात्र समझकर युद्ध कर, चाहे मेरी आज्ञा मानकर युद्ध कर, युद्ध तो तुझे को करना ही पड़ेगा। मेरा आश्रय न लेने से तेरा अहंकार रहेगा, जिससे विहित कर्म भी बॉधने वाला हो जायेगा। परन्तु मेरा आश्रय लेने अहंकार नहीं रहेगा। अहंकार ही बांधने वाला होता है। जो प्रकृति के परवश नहीं होता, जिसकी प्रकृति महान् शुद्ध होती है, ऐसा ज्ञानी महापुरुष भी जब प्रकृति के अनुसार क्रिया करता है, फिर प्रकृति के परवश हुआ तथा अशुद्ध प्रकृतिवाला मनुष्य प्रकृति के विरूद्ध कर्म कैसे कर सकता है?

---

1. इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषो व्यवस्थितौ। तयोर्न वशमागच्छेत्तौ हास्य परिपन्थिनौ।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-3, श्लोक-34
2 तमेव शरण गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परा शान्ति स्थान प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-18, श्लोक सख्या-62
3. यद्यदाचरित श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो, जन । स त्प्रमाण कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-3, श्लोक-21

यहा पर ईश्वर सभी का शासक, नियामक, सबका भरण-पोषण करने वाला और निरपेक्ष रुप से सबका संचालक है, वह अपनी शक्ति से उन प्राणियों को घुमाता है, जिन्होने शरीर को 'मैं' और 'मेरा' मान लिया है।[1] जैसे विद्युत शक्ति से संचालित यन्त्र रेल पर कोई आरुढ़ हो जाता है, चढ़ जाता है तो उसको परवशता से रेल के अनुसार ही जाना पडता है। परन्तु जब वह रेल पर आरुढ नहीं रहता, नीचे उतर जाता है तब उसे रेल के अनुसार नहीं जाना पड़ता। ऐसे ही जब तक मनुष्य रुपी यन्त्र के साथ 'मै' और 'मेरे' पन का संबध रखता है, तब तक ईश्वर उसको उसके स्वभाव (स्वभाव कारण शरीर में रहता है। वही स्वभाव सूक्ष्म और स्थूल शरीर मे प्रकट होता है) के अनुसार संचालित करता रहता है, और वह मनुष्य जन्म मरण रुप संसार के चक्र में घूमता रहता है।

शरीर के साथ मै - मेरेपन का संबध होने से ही राग-द्वेष पैदा होते है, जिससे स्वभाव अशुद्ध हो जाता है। स्वभाव के अशुद्ध होने पर मनुष्य प्रकृति अर्थात् स्वभाव के परवश हो जाता है। परन्तु शरीर से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद होने पर जब स्वभाव राग-द्वेष से रहित अर्थात शुद्ध हो जाता है, तब प्रकृति की परवशता नहीं रहती। प्रकृति-(स्वभाव) की परवशता न रहने से ईश्वर की माया उसको सचालित नहीं करती।

अब यहा यह शंका होती है कि जब ईश्वर ही हमारे को भ्रमण करवाता है, क्रिया करवाता है, तब यह काम करना चाहिए, और यह काम नहीं करना चाहिए ऐसी स्वतन्त्रता कहां रही? क्योंकि यन्त्रारुढ़ होने के कारण हम यन्त्र के और यन्त्र के संचालक ईश्वर के अधीन हो गये, परतन्त्र हो गये, तो फिर यन्त्र का संचालक (प्रेरक) जैसा करायेगा, वैसा ही होगा? इसका समाधान इस प्रकार है-

जैसे, बिजली से संचालित होने वाले यन्त्र अनेक तरह के होते हैं। एक ही बिजली से संचालित होने पर भी किसी यन्त्र मे बर्फ जम जाती है और किसी यन्त्र में अग्नि जल जाती है, अर्थात् उनमें एक दूसरे से बिल्कुल विरुद्ध काम होता है। परन्तु बिजली का यह आग्रह नहीं रहता कि मैं तो केवल बर्फ ही जमाऊँगी अथवा केवल अग्नि ही जलाऊँगा। यंत्रों का भी ऐसा आग्रह नहीं रहता, कि हम तो केवल बर्फ ही जमायेंगे अथवा केवल अग्नि ही

---

1 ईश्वर सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारुढानि मायमा।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-18, श्लोक- 61

जलायेगे। प्रत्युत यन्त्र बनाने वाले कारीगर ने यत्रों को जैसा बना दिया है, उसके अनुसार उनमें स्वाभाविक ही बर्फ जमती है और अग्नि जलती है। ऐसे ही मनुष्य, पशु, पक्षी, देवता, यक्ष, राक्षस आदि जितने भी प्राणी है, सब शरीररुपी यंत्रों पर चढ़े हुए हैं, और उन सभी यंत्रों को संचालित करने वाला ईश्वर ही हैं। उन अलग-अलग शरीरों में भी जिस शरीर में जैसा स्वभाव है, उस स्वभाव के अनुसार वे ईश्वर से प्रेरणा पाते हैं और कार्य करते हैं। तात्पर्य यह है कि उन शरीरों से मेरेपन (मैं) का सम्बन्ध मानने वाले का जैसा (अच्छा या मन्दा) स्वभाव होता है, उससे वैसी ही क्रियाएं होती है। अच्छे स्वभाव वाले (सज्जन) मनुष्य के द्वारा श्रेष्ठ क्रियाएं होती है और मन्दे स्वभाव वाले (दुष्ट) मनुष्य के द्वारा खराब क्रियाए होती हैं। इसलिए अच्छी या मन्दी क्रियाओं को कराने में ईश्वर का हाथ नहीं है, प्रत्युत खुद के बनाये हुए अच्छे या मन्दे स्वभाव का ही हाथ है।[1]

जैसे बिजली यन्त्र के स्वभाव के अनुसार ही उसका संचालन करती है, ऐसे ही ईश्वर प्राणी के (शरीर में स्थित) स्वभाव के अनुसार उसका संचालन करते हैं। जैसा स्वभाव होगा, वैसे ही कर्म होंगे। इसमें एक बात विशेष ध्यान देने की है कि स्वभाव को सुधारने में और बिगाड़ने में सभी मनुष्य स्वतन्त्र है, कोई भी परतन्त्र नहीं है। परन्तु पशु, पक्षी, देवता आदि जितने भी मनुष्येतर प्राणी है, उनमें अपने स्वभाव को सुधारने का न अधिकार है, और न स्वतन्त्रता ही है। मनुष्य शरीर अपना उद्धार करने के लिए ही मिला है, इसलिये इसमें अपने स्वभाव को सुधारने का पूरा अधिकार है, पूरी स्वतन्त्रता है। उस स्वतन्त्रता का सदुपयोग करके स्वभाव सुधारने मे और स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करके स्वभाव बिगाड़ने में मनुष्य स्वयं ही हेतु है।

ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियों के हृदयदेश में रहता है-यह कहने का तात्पर्य है कि जैसे पृथ्वी में सब जगह जल रहने पर भी कुआँ होता है, वहीं से जल प्राप्त होता है, ऐसे ही परमात्मा सब जगह समान रीति से परिपूर्ण होते हुए भी हृदय में प्राप्त होते हैं, अर्थात् हृदय सर्वव्यापी परमात्मा की प्राप्ति का विशेष स्थान है।

साधक की प्रायः यह भूल होती है कि वह भजन, कीर्तन, ध्यान आदि करते हुए भी 'भगवान दूर है।' वे अभी नहीं मिलेंगे, यहां नहीं मिलेंगे, अभी मैं योग्य नहीं हूँ, भगवान की

---

1. 'श्रीमद् भगवद्गीता साधक सजीवनी' -स्वामी श्री राम सुख दास, गीता प्रेस, गोरखपुर।

कृपा नहीं है' आदि भावनाएँ बनाकर भगवान की दूरी की मान्यता ही दृढ़ करता रहता है। इस जगह साधक को यह सावधानी रखनी चाहिए कि जब भगवान् सभी प्राणियों में विद्यमान है तो मेरे में भी है। वे सर्वत्र व्यापक है तो मै जो जप करता हूँ तो उस जप मे भी भगवान है; मैं श्वास लेता हूँ, तो उस श्वास मे भी भगवान है, मेरे मन में भी भगवान है, बुद्धि में भी भगवान् है, मैंजो मैं-मैं करता हूँ, उस 'मैं' में भी भगवान् है। उस 'मै' का जो आधार है, वह अपना स्वरुप भगवान से अभिन्न है, अर्थात् 'मैं'-पन तो दूर है पर भगवान 'मैं' पन से भी नजदीक हैं। इस प्रकार अपने में भगवान को मानते हुए ही भजन, जन, तप, ध्यान आदि करने चाहिए।

अगर यहां अपने में परमात्मा को मानने से मै और परमात्मा दो है-यह द्वैतापत्ति नहीं होती, बल्कि अहंकार -(मैं-पन) को स्वीकार करने से जो अपनी अलग सत्ता प्रतीत होती है उसी से द्वैतापत्ति होती है। परमात्मा को अपना और अपने में मानने से तो परमात्मा से अभिन्नता होती है, जिससे प्रेम प्रकट होता है। जैसे-गंगाजी में बाढ़ आ जाने से उसका जल बहुत बढ़ जाता है और फिर पीछे वर्षा न होने से उसका जल पुनः कम हो जाता है, परन्तु उसका जो जल गड्ढे में रह जाता है अर्थात् गंगाजी से अलग हो जाता है, उसकी 'गङ्गोज्झ' कहते हैं। उस गङ्गोज्झ को मदिरा के समान अपवित्र माना गया है। गंगा जी से अलग होने के कारण वह गंदा हो जाता है और उसमें कीटाणु पैदा हो जाते हैं, जो कि रोगों के कारण है। परन्तु फिर कभी जोर की बाढ़ आ जाती है, तो वह गंगा जी में पुनः मिल जाता है और गंगाजी में मिलते ही उसकी एकदेशीयता, अपवित्रता, अशुद्धि आदि सभी दोष चले जाते हैं, और वह पुनः महान, पवित्र गंगाजल बन जाता है।

ऐसे ही यह मनुष्य जब अहंकार को स्वीकार करके परमात्मा से विमुख हो जाता है, तब इसमें परिछिन्नता, पराधीनता, जड़ता, विषमता, अभाव, अशान्ति, अपवित्रता सभी दोष (विकार) आ जाते हैं। परन्तु जब यह अपने अंशी परमात्मा के सम्मुख हो जाता है, उन्हीं की शरण में चला जाता है अर्थात् अपना अलग कोई व्यक्तित्व नहीं रखता, तब उसमें आये हुए भिन्नता, पराधीनता आदि सभी दोष मिट जाते हैं। कारण कि स्वयं (चेतन स्वरुप) में दोष नहीं हैं दोष तो अहंता- (मैं-पन) को स्वीकार करने से ही आते हैं।

'भ्रामयन्' का तात्पर्य है कि ससार मात्र का संचालन भगवान् की ही शक्ति से हो रहा है-[1] भगवान प्राणियो को उनके स्व-स्वभाव के अनुसार कर्म करने की प्रेरणा तो देते हैं, पर उसमें अपना आग्रह नहीं रखते। भगवान् का आग्रह न होने के कारण ही मनुष्य अपनी कामना ममता, आसक्ति के वशीभूत होकर पाप-पुण्य करता है, और उनका फल भोगने के लिए स्वर्गादि लोको में अथवा नरकों और नीच योनियो में जाता है। परन्तु जो भगवान् के शरण हो जाता है, उसको भगवान् विशेष प्रेरणा देते हैं। अहंकार न रहने से वह जो कुछ करता है, भगवान् की प्रेरणा के अनुसार ही रहता है।

मनुष्य में प्रायः यह एक कमजोरी रहती है, कि जब उसके सामने सन्त-महापुरुष विद्यमान रहते है, तब उन पर श्रद्धा विश्वास एवं महत्व बुद्धि नहीं होती, परन्तु जब वे चले जाते है, तब पीछे वह रोता है या पश्चाताप करता है। ऐसे ही भगवान जब अर्जुन से कहते हैं कि शरणागत भक्त मेरी कृपा से शाश्वत् पद को प्राप्त हो जाता है, और तू भी मेरी चित्त वाला होकर मेरी कृपा से सम्पूर्ण विघ्नो को तर जायेगा तब कुछ अर्जुन बोले नहीं। इससे यह सम्भावना भी हो सकती है कि भगवान् के वचनों पर अर्जुन को पूरा विश्वास न हुआ हो। इसी दृष्टि से भगवान् को यहाँ अर्जुन के लिए अन्तर्यामी ईश्वर की शरण में जाने की बात कहनी पड़ी।[2] भगवान ने व्याख्या करते हुए कहा है कि जो सर्वव्यापक ईश्वर सबके हृदय में विराजमान है और सबका संचालक है, तू उसी की शरण में चला जा। तात्पर्य यह है कि सासारिक उत्पत्ति, विनाशशील पदार्थ, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि किसी का किञ्चितमात्र भी आश्रय न लेकर केवल अविनाशी परमात्मा का ही आश्रय ले ले। सर्वभाव से शरण में जाने का तात्पर्य है कि मन से उसी परमात्मा का चिन्तन हो, शारीरिक क्रियाओं से उसी का पूजन हो, प्रेमपूर्वक भजन हो। सभी प्रकार के विधान में प्रसन्नता हो, वह विधान चाहे शरीर, इन्द्रियॉ, मन आदि के अनुकूल हो, चाहे प्रतिकूल हो, उसे भगवान् का ही किया हुआ मानकर खूब प्रसन्न हो जाये। भगवान् की कृपा से शाश्वत् पद की प्राप्ति हो जाती है और सारे विघ्न दूर हो जाते हैं, परमशान्ति और शाश्वत स्थान (पद-) को प्राप्त कर लेते है। गीता मे अविनाशी परम पद को 'परा शान्ति' नाम से कहां गया है। परन्तु यहां भगवान ने 'परा शान्ति' और 'शाश्वत स्थान' (परमपद)- दोनों का प्रयोग एक साथ किया है।

---

1. अह सर्वस्य प्रभवों मत्तः सर्व प्रवर्तते। इति मत्वा भजन्ते मा बुधा भावसमन्विता ।।
   श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-10, श्लोक-8
2 तमेव शरण गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शान्ति स्थान प्राप्स्यति शाश्वतम् ।।
   श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-18, श्लोक-62

अतः यहां 'पराशान्ति' का अर्थ संसार को सर्वथा उपरति और 'शाश्वत् स्थान' का अर्थ परम पद लेना है। भगवान ने 'तमेव शरणं गच्छ' पदो से अर्जुन को सर्वव्यापी ईश्वर की शरण में जाने के लिए कहा है। इससे यह शंका हो सकती है कि क्या भगवान् श्रीकृष्ण ईश्वर नहीं है? क्योंकि अगर भगवान श्रीकृष्ण ईश्वर होते, तो अर्जुन को 'उसी की शरण में जा'-ऐसा (परोक्ष रीति से) नहीं कहते।

इसका समाधान यह है कि भगवान ने सर्वव्यापक ईश्वर की शरणागति को तो 'गुह्याद्‌दुह्यतरम्'[1] अर्थात् गुह्य से गुह्यतर कहा है, पर अपनी शरणागति को 'सर्वगुह्यतमम्'[2] अर्थात् सबसे गुह्यतम कहा है। इससे सर्वव्यापक ईश्वर की अपेक्षा भगवान श्रीकृष्ण बड़े ही सिद्ध हुए।

भगवान् ने पहले कहां है कि मै अजन्मा, अविनाशी और सम्पूर्ण प्राणियो ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी योगमाया से प्रकट होता हूँ"[3] मैं सम्पूर्ण यज्ञों और तपों का भोक्ता हूॅ, सम्पूर्ण लोकों का महान ईश्वर हू और सम्पूर्ण प्राणियों का सुहृद हूॅ-ऐसा मुझे मानने से शान्ति की प्राप्ति होती है। परन्तु जो मुझे सम्पूर्ण यज्ञो का भोक्ता और सबका मालिक नहीं मानते, उनका पतन होता है, इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से भी भगवान श्रीकृष्ण का ईश्वरत्व सिद्ध हो जाता है।

अध्याय 18 में अन्तर्यामी ईश्वर को सब प्राणियों के हृदय में स्थित बताया है और अपने को सबके हृदय मे स्थित बताया है।[4] पदो से अपने को सबके हृदय में स्थित बताया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अर्न्तयामी परमात्मा और परमात्मा श्रीकृष्ण दो नहीं है, एक ही हैं।

---

1. इति ते ज्ञानभाष्यात मुह्यद्‌गुह्यतर मया। विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।।
   श्रीमद् भगवद्‌गीता, अध्याय-18, श्लोक स0-63
2 सर्वगुह्यतम भूय शृणु में परम वच.। इष्टोऽसि में दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।।
   श्रीमद् भगवद्‌गीता, अध्याय-18, श्लोक-64
3 अजोऽपिसन्नाव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृति स्वामधिष्ठाय सभवाम्यात्ममायया।। 4/6
   भोक्तार यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्। सुहृद सर्वभूताना ज्ञात्वा मा शान्तिमृच्छति 6/29
   अह हि सर्वयज्ञाना भोक्ता च प्रभुरेव च। न तु मामभिजानन्ति तत्वेनातश्च्यवन्ति ते। 9/24
   श्रीमद् भगवद्‌गीता, अध्याय 4/6, अध्याय 6/29, अध्याय 9/24
4. ईश्वर सर्वभूतानां हृद्‌देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानी यत्रारुठानि मामया।।
   श्रीमद् भगवद्‌गीता, अध्याय-18, श्लोक-61
   सर्वस्य चाहं हृदि सनिविष्टो, मत्तः स्मृतिज्ञनिमपोहन च।
   वेदैश्च सर्वैरहमेव वेधो, वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।। श्रीमद् भगवद्‌गीता, अध्याय-15, श्लोक 15

जब अर्न्तयामी परमात्मा और भगवान् श्रीकृष्ण एक ही तो फिर भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ''तमैव शरणं गच्छ' क्यो कहा? इसका कारण यह है कि भगवान् ने अपनी कृपा से शाश्वत, अविनाशी पद प्राप्त होने की बात कही और अर्जुन को अपने परायण होने की आज्ञा देकर ''मेरी कृपा से सम्पूर्ण विघ्नो को तर जायेगा'' यह बात कही, परन्तु अर्जुन कुछ नहीं बोले अर्थात् उन्होने कुछ भी स्वीकार नहीं किया, इस पर भगवान ने अर्जुन को धमकाया कि यदि अहंकार के कारण तुम मेरी बात नहीं सुनोगे तो मेरा पतन हो जायेगा।[1] भगवान ने कहा कि मै युद्ध नहीं करूँगा, इस प्रकार अहकार का आश्रय लेकर किया हुआ तेरा निश्चय भी नहीं टिकेगा और तुझे स्वभावज कर्मो के परवश होकर युद्ध करना ही पड़ेगा। भगवान के इतना कहने पर भी अर्जुन कुछ नहीं बोले अतः अन्त में भगवान को यह कहना पड़ा कि यदि तू मेरे शरण में नहीं आना चाहता, तो सबके हृदय मे स्थित, जो अर्न्तयामी परमात्मा है, उसी की शरण मे तू चला जा।

वास्तव में अर्न्तयामी ईश्वर और भगवान श्रीकृष्ण सर्वथा अभिन्न है, अर्थात् सबके हृदय में अर्न्तयामी रूप से विराजमान, ईश्वर ही भगवान श्रीकृष्ण है और भगवान श्रीकृष्ण ही सबके हृदय में अर्न्तयामी रूप से विराजमान, ईश्वर है। जीव ईश्वर का ही अंश है, इसलिए भगवान ईश्वर की ही शरण मे जाने के लिए कहते है ईश्वर के शरण होने से अहंकार नहीं रहता। जब तक ईश्वर के वश (शरण) में नहीं होता, तभी तक वह प्रकृति के वश मे रहता है। वह जितना-जितना जड़ता की ओर जाता है, उतनी-उतनी आसुरी सम्पत्ति आती है। जितना-जितना चिन्मयता की ओर जाता है उतनी-उतनी दैवी सम्पत्ति आती है।

भगवद्‌गीता के अध्याय 18, श्लोक 63[2] में बताया गया है कि भगवान ने पहले ही अर्जुन को ब्रह्मभूत ज्ञान बतला दिया है। जो इस ब्रह्मभूत अवस्था में रहता है वह प्रसन्न रहता है न तो यह शोक करता है न किसी वस्तु की कामना करता है, ऐसा गुह्यज्ञान के कारण होता है। कृष्ण परमात्मा का ज्ञान भी प्रकट करते हैं। यह ब्रह्मज्ञान भी है, लेकिन यह

---

1. यदहकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे। मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वानियोक्ष्यति।।
   श्रीमद् भगवद्‌गीता, अध्याय-18, श्लोक-59
   स्वभावजेन कौन्तेय निबद्ध स्वेन कर्मना। कर्तु नेच्छसि यन्मोहात्कारिष्यस्थवशोऽपि तत्।।
   श्रीमद्‌भगवद्‌गीता, अध्याय-18, श्लोक स0-60
2. इति ते ज्ञानमाख्यात गुह्यादुह्यतर मया। विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरू।।
   श्रीमद् भगवद्‌गीता, अध्याय-18, श्लोक-63

उससे श्रेष्ठ है।[1] 'यथेच्छसि तथा कुरु' यह भगवान त्याग करने के लिये नहीं कहते, प्रत्युत अपनी तरफ विशेषता से खींचने के लिए कहते है, जैसे-गेद फेकते हैं विशेषता से पीछे लेने के लिए, न कि त्याग करने के लिये। तात्पर्य है कि श्लोक में अर्न्तयामी निराकार ईश्वर की शरणागति की बात कहकर अब भगवान अर्जुन को अपनी तरफ अर्थात् सगुण साकार की तरफ खींचना चाहता है, जिससे अर्जुन समग्र की प्राप्ति से रोता न रह जाये। निराकार में साकार नहीं आता, पर साकार में निराकार भी आ जाता है।[2]

भगवद्गीता के अध्याय 18 के, श्लोक 64 में[3] अर्जुन को गुह्यज्ञान (ब्रह्मज्ञान) तथा गुह्यतरज्ञान (परमात्मा का ज्ञान) प्रदान करने के बाद भगवान् अब उसे गुह्यतम ज्ञान प्रदान करने जा रहे है-यह है भगवान के शरणागत होने का ज्ञान। नवे अध्याय के अन्त में उन्होंने कहा था- मन्मनाः- सदैव मेरा चिन्तन करो। उसी आदेश को यहां पर दुहराया जा रहा है, जो भगवद्गीता का सार है। यह सार सामान्यजन की समझ मे नहीं आता। लेकिन जो कृष्ण को सचमुच अत्यन्त प्रिय है, कृष्ण का शुद्धभक्त है, वह समझ लेता है। सारे वैदिक साहित्य मे यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण आदेश है। इस प्रसंग मे जो कुछ कृष्ण कहते है, वह ज्ञान का अंश है और इसका पालन न केवल अर्जुन द्वारा होना चाहिए, अपितु समस्त जीवों द्वारा होना चाहिए।[4] अध्याय 18 के 62वें श्लोक[5] मे बताया गया है कि इसमें निराकार की शरणागति है और 'मामेकं शरणं ब्रज'[6] में कहा गया है कि इसमे साकार की शरणागति है, निराकार की शरण मे जाने से मुक्ति हो जायेगी, परन्तु साकार की शरण में जाने से मुक्ति के साथ-साथ प्रेम की भी प्राप्ति हो जाती है। इसलिए साकार की शरणागति 'सर्वगुह्यतम' है। भगवान भक्ति के प्रसग में 'परम वचन' कहते हैं। अध्याय 10 के श्लोक एक[7] में भगवान

---

1 श्री श्रीमद् एस सी. भक्ति वेदान्त स्वामी प्रभुपाद-
"गीतोपनिषद भगवद्गीता यथारुप" द्वितीय सस्करण, पृष्ठ स - 683
2 श्रीमद् भगवद्गीता साधक सजीवनी स्वामी रामसुख दास, पृष्ठ स - 1196
3 सर्वगुह्यतम भूय शृणु में परम वच । इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-18, श्लोक-64
4 श्रीमद्र ए सी भक्ति वेदान्त स्वामी प्रभुपाद- "गीतोपनिषद" भगवद्गीता यथारूप, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ स - 684
5 तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परा शान्ति स्थान प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-18, श्लोक स0- 62
6 सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेक शरणं व्रज। अह त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-18, श्लोक-66
7 भूय एव महाबाहो शृणु मे परम वच'। यत्तेऽह प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।। गीता, अध्याय-10, श्लोक-1

श्रीकृष्ण ने कहा है कि हे महाबाहो! फिर भी मेरे परम रहस्य और प्रवाहयुक्त वचन को सुन, जिसे मै तुझ अतिशय प्रेम रखने वाले के लिए हित की इच्छा से कहूँगा। अर्जुन ने भगवान से कहा था कि मैं आपका शिष्य हूँ-'शिष्यस्तेऽहम्'[1] पर भगवान कहते हैं कि तू मेरा इष्टमित्र है-'इष्टोऽसि' का तात्पर्य है कि गुरु तो चेला बनाता है। भगवान चेला न बनाकर अपना मित्र बनाता है। भगवान की तो हर बात मनुष्य के हित वाली रहती है, लेकिन उसमे भी विशेष हित की बात होने से भगवान 'ततो वक्ष्यामितेहितम्' कहते हैं। गीता के अध्याय 18 के श्लोक 65 में[2] बताया गया है कि भगवान कहते है कि सदैव मेरा चिन्तन करो, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो, और मुझे नमस्कार करो। इस प्रकार तुम निश्चित रुप से मेरे पास आओगे। मै तुम्हें वचन देता हूँ, क्योकि तुम मेरे परम मित्र हो। ज्ञान का गुह्यतम अंश है कि मनुष्य कृष्ण का शुद्ध भक्त बने, सदैव उन्हीं का चिन्तन करे और उन्हीं के लिए कर्म करें। व्यवसायिक ध्यानी बनना ठीक नहीं। जीवन को इस प्रकार ढालना चाहिए कि कृष्ण का चिन्तन करने का सदा अवसर प्राप्त हो। मनुष्य इस प्रकार कर्म करे कि उसके सारे नित्य कर्म कृष्ण के लिए हों। वह अपने जीवन को इस प्रकार व्यवस्थित करे कि चौबीसों घण्टे कृष्ण का ही चिन्तन करता रहे, और भगवान् की यह प्रतिज्ञा है कि जो इस प्रकार कृष्ण भावनामय होगा, वह निश्चित रूप से कृष्णधाम को जायेगा, जहां वह साक्षात् कृष्ण के सान्निध्य मे रहेगा। यह गुह्यतम ज्ञान अर्जुन को इसीलिए बताया गया, क्योकि वह कृष्ण का परम प्रिय मित्र (सखा) है। जो कोई भी अर्जुन के पथ का अनुसरण करता है। वह कृष्ण का प्रिय सखा बनकर वैसी ही सिद्धि प्राप्त कर सकता है।[3]

गीता मे बताया गया है कि अर्जुन भगवान को प्राप्त ही है, अतः यहां 'मामेवैष्यसि' कहने का तात्पर्य है कि तेरे को समग्र (माम्) की प्राप्ति हो जायेगी, जिसके लिए भगवान ने कहा था[4] कि हे पार्थ! अनन्यप्रेम से मुझमे आसक्तचित्त तथा अनन्यभाव से मेरे परायण होकर

---

1 कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव, पृच्छामि त्वा धर्मसमूढचेता । यच्छ्रेय स्यान्निश्चित ब्रूहि तन्मे, शिष्यस्तेऽह शाधि मां त्वा प्रपन्नम्।। श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-2, श्लोक सं0-7

2 मन्मना भव भद्भक्तो मघाजी मा नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्य ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-18, श्लोक स-65

3 श्रीमद्र ए सी. भक्ति वेदान्त स्वामी प्रभुपाद- "गीतोपनिषद" भगवद्गीता यथारुप, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ स0- 685

4 मय्यासक्तमना पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रय । मसशय समग्र मा यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-7, श्लोक- 1

योग में लगा हुआ तू जिस प्रकार से सम्पूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्यादि गुणों से युक्त, सबके आत्मरुप मुझको संशयरहित जानेगा, उसको सुन। फिर तेरी मेरी से आत्मीयता हो जायेगी, जिसके लिए भगवान ने[1] कहां ये सभी उदार है, परन्तु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरुप ही है-ऐसा मेरा मत है, क्योकि वह मद्गत मन बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति, उत्तम गतिस्वरुप मुझमे ही अच्छी प्रकार से स्थित है। इसके अतिरिक्त भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि मुझमे एकीभाव से स्थित अनन्य प्रेमभक्ति वाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योकि मुझको तत्व से जानने वाले ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।[2]

गीता के अध्याय-18 मे, श्लोक 66 मे[3] बताया गया है कि समस्त प्रकार के धर्म का परित्याग करो, मेरी शरण मे आ जाओ। मै समस्त पापो से तुम्हारा उद्धार कर दूँगा। डरो मत। भगवान ने अनेक प्रकार के ज्ञान तथा धर्म की विधियॉ बतायी है-परब्रह्म का ज्ञान, परमात्मा का ज्ञान, अनेक प्रकार के आश्रमों तथा वर्णो का ज्ञान, सन्यास का ज्ञान, अनासिक्त, इन्द्रिय, मन, सयम, ध्यान आदि का ज्ञान। उन्होंने अनेक प्रकार से नाना प्रकार के धर्म का वर्णन किया है। अब भगवद्गीता का सार प्रस्तुत करते हुए भगवान ने कहा है, हे अर्जुन! अभी तक बतायी गयी सारी विधियों का परित्याग करके, अब केवल मेरी शरण में आओ। इस शरणागति से वह समस्त पापों से बच जायेगा, क्योकि स्वयं भगवान की रक्षा का वचन दे रहे हैं।

सातवे अध्याय मे यह कहा गया था कि वही कृष्ण की पूजा कर सकता है, जो सारे पापो से मुक्त हो गया हो। इस प्रकार कोई यह सोच सकता है कि समस्त पापों से मुक्त हुए बिना कोई कैसे शरणागति पा सकता है। श्रीकृष्ण की सुन्दर छवि के प्रति आकृष्ट होना चाहिए। उनका नाम श्रीकृष्ण इसलिए पड़ा, क्योंकि वे सर्वाकर्षक है। जो व्यक्ति कृष्ण की सुन्दर, सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ छवि से आकृष्ट होता है, वह भाग्यशाली है। अध्यात्मवादी कई प्रकार के होते हैं-कुछ निर्गुण ब्रह्म के प्रति आकृष्ट होते हैं, कुछ परमात्मा के प्रति लेकिन जो

---

1 उदारा सर्व एवैतेज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। आस्थित स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमा गतिम्।। गीता, अध्याय-7, श्लोक-18

2. तेषा ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते। प्रियो हि ज्ञानिनोऽसर्थमह स च मम प्रिय ।।
श्रीमद् भगवद्गीता अध्याय-7, श्लोक-17

3 सर्वधर्मान्परित्यज्म मामेकु शरण व्रज। अह त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच.।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-8, श्लोक 66.

भगवान् के साकार रूप के प्रति आकृष्ट होता है, वह सर्वोच्च योगी है। दूसरे शब्दों मे, अनन्यभाव से कृष्ण की भक्ति गुह्यतम ज्ञान है और सम्पूर्ण गीता का सही सार है। कर्मयोगी, दार्शनिक योगी तथा भक्त सभी अध्यात्मवादी कहलाते हैं, लेकिन इनमें से शुद्धभक्त ही सर्वश्रेष्ठ है। यहां पर मा शुचः (मत चिन्ता करो) विशिष्ट शब्दो का प्रयोग अत्यन्त सार्थक है। मनुष्य को यह चिन्ता होती है कि वह किस प्रकार सारे धर्मों का त्याग करें और एकमात्र कृष्ण की शरण मे जाये, लेकिन यह चिन्ता व्यर्थ है।[1]

मोक्ष को सभी दार्शनिक, पौराणिक साहित्यो मे सर्वोच्च मूल्य कहा गया है। इसके दो कारण है कि जीवमात्र की प्रवृत्ति दुःख निवृत्ति की ओर है। क्योकि मोक्ष दुःख की आत्यान्तिक निवृत्ति है, अतः वह सर्वोच्च मूल्य है। इसी प्रकार आनंद की प्राप्ति प्राणीमात्र का लक्ष्य है, चूँकि मोक्ष परम आनद की अवस्था है, अतः वह सर्वोच्च मूल्य है। मोक्ष पूर्ण एवं निरपेक्ष स्थिति है, मूल्य वह है जो किसी इच्छा की पूर्ति करे। अतः जिसके प्राप्त हो जाने पर कोई इच्छा न रहें, वही परम मूल्य है। मोक्ष में कोई अपूर्ण इच्छा नहीं रहती है, अतः वह परम् मूल्य है। मोक्ष अक्षर और अमृतपद है अतः स्थायी मूल्यो में वह सर्वोच्च मूल्य है। मोक्ष आन्तरिक प्रकृति या स्वभाव है। वही एकमात्र परममूल्य हो सकता, क्योकि उसमें हमारी प्रकृति के सभी पक्ष अपनी पूर्व अभिव्यक्ति एवं पूर्व समन्वय की अवस्था मे होते है।[2]

गीता में मोक्ष के सन्दर्भ मे **डा0 राधाकृष्णनन्** का कहना है[3] कि हम ज्ञान, प्रेम, अथवा सेवा की चाहे जिस पद्धति का अनुसरण करे, लक्ष्य एक ही है और वह है सर्वोपरि ब्रह्म के साथ जीवात्मा का सयोग। जब मन पवित्र हो जाता है और अहंकार नष्ट हो जाता है तो मनुष्य को सर्वोपरि ब्रह्म के साथ तादात्म्य प्राप्त हो जाता है। यदि हम मनुष्य की सेवा से प्रारम्भ करे तब भी हम सर्वोपरि ब्रह्म के साथ ऐक्य संबंध स्थापित कर लेते है, न केवल कार्य तथा चेतना के विषय में अपितु जीवन और सत् के रूप में भी। प्रेम भक्ति के परमानन्द में परिणत हो जाता है जहां पहुंचकर आत्मा और ईश्वर एक हो जाते हैं। चाहे हम किसी भी मार्ग से जाये, अन्त मे हमे मिलता है उसका दर्शन तथा दैवी जीवन का

1 श्रीमद्र ए सी. भक्ति वेदान्त स्वामी प्रभुपाद- 'गीतोपनिषद' भगवद्गीता यथारुप द्वितीय संस्करण, पृष्ठ स0 685-687
2 श्री सागर मल जैन "जैन बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-1, पृष्ठ संख्या-163
3 डा0 राधाकृष्णनन्- 'भारतीय दर्शन' भाग-1, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली 1973, पेज न0-530

अनुभव और उसी के अन्दर निवास। यह धर्म का उच्चतम् रूप है, अथवा आत्मा का जीवन है, जिसे विस्तृत रूप से ज्ञान कहते है।

आध्यात्मिक यथार्थता की प्राप्ति का उपाय स्वरुप ज्ञान आध्यात्मिक अर्न्तदृष्टि रुपी उस ज्ञान से भिन्न है जो आदर्श है। शंकर ठीक कहते हैं कि मोक्ष अथवा ईश्वर का साक्षात्कार सेवा अथवा भक्ति का कर्म नहीं है और इसीलिए बोध भी नहीं है, यद्यपि ये मोक्ष प्राप्ति के साधन अवश्य हो सकते हैं। मोक्ष एक अनुभव अथवा सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन है। भिन्न-भिन्न मार्गों का अवलम्बन ईश्वर प्राप्ति के लिए ही किया जाता है। यथार्थता की प्राप्ति के लिए अवलम्बन किए गए भिन्न-भिन्न मार्गों के मूल्यांकन के लिए गीता के कथन सत्य नहीं है।[1] "मुझे जानने का प्रयत्न करो, यदि तुम मेरी चिन्ता नहीं कर सकते तो योगाभ्यास करो, यदि यह तुम्हें अनुकूल नहीं पड़ता तो अपने सब कर्म को मुझे अर्पित करके, मेरी सेवा करने का प्रयत्न करो। यदि यह भी कठिन प्रतीत हो तो अपने कर्तव्य का पालन करो, किन्तु परिणाम की लालसा मत रखो और न फल की आकांक्षा करो।" आगे चलकर गीता में भगवान ने कहा 'निःसन्देह, निरन्तर कर्म करने की अपेक्षा ज्ञान उत्तम है, ध्यान ज्ञान से उत्तम है, कर्मफल का त्याग ध्यान से भी उत्तम है, कर्मफल के त्याग से शान्ति प्राप्त होती है।'[2] यहां प्रत्येक उपाय को कभी न कभी प्रधानता दी गयी है।[3] विचारक के अनुसार कोई उपाय ठीक है, और यह उपाय कौन सा व्यक्ति के अपने चुनाव के ऊपर है। "कई ध्यान के द्वारा, अन्य कई चिन्तन के द्वारा और कई कर्म के द्वारा तथा अन्य कई पूजा-उपासना के द्वारा अमरत्व को प्राप्त करते है।[4]

'मुक्ति' अथवा मोक्ष सर्वोपरि आत्मा के साथ संयुक्त हो जाने का नाम हैः मुक्ति, ब्राह्मी स्थिति (ब्रह्म में स्थित हो जाना), कर्म का त्याग, निस्त्रैगुण्य, अर्थात् तीनों गुणों सत्व, रज, तम का जिसमें अभाव हो, कैवल्य अर्थात् एकान्त रुप मोक्ष, ब्रह्मभाव अर्थात् ब्रह्म हो जाना। निरपेक्ष अनुभूति में समस्त विश्व की एकता का अनुभव होता है। 'आत्मा ही सब प्राणियों में है और समस्त प्राणी आत्मा के अन्दर निहित है।' पूर्णता की अवस्था धार्मिकता

---

1. डॉ0 राधाकृष्णनन् "भारतीय दर्शन" 'भगवद्गीता पर शाकर भाष्य 12.9-11, पृ0सं0-530
2. डॉ0 राधाकृष्णनन्- "भारतीय दर्शन" श्रीमद् भगवद्गीता पर शांकर भाष्य, 12/12
3. 6/46, 7/16, 12/12
4. 13/24-25, 18/54-56

के उन फलो से कहीं अधिक है जो वैदिक विधि-विधानो के अनुष्ठान, यज्ञों के अनुष्ठान और अन्य उपायों के परिणाम है।

हम पहले भी बता चुके है कि परम अवस्था मे कर्म का क्या स्थान है। इस विषय में विविध प्रकार के निर्वचन प्रस्तुत किये जाते है। इस विषय मे कि परम् अवस्था मे व्यक्तित्व का कोई आधार रहता है या नहीं, इस विषय पर गीता का मत स्पष्ट नहीं है। इस चरम अवस्था को सिद्धि अथवा पूर्णता, परासिद्धि, सर्वोत्तम पूर्णता, 'परांगतिम्', अर्थात् सर्वोच्च आदर्श, 'पद्म अनामयम्' अर्थात् आनंदमय स्थिति, शान्ति, शाश्वतं पदम् अव्ययम् अर्थात् नित्य और अविनश्वरस्थान भी कहा गया है।[1] ये सभी परिभाषाये इस विश्व मे उदासहीन है, और हमें कुछ नहीं बताती कि मोक्ष की अवस्था में व्यक्तित्व बना रहता है या नहीं। ऐसे वाक्य जरुर मिलते है जो विशेष रूप से कहते हैं कि मुक्तात्माओं को संसार के व्यापार से कोई मतलब नहीं। उनका व्यक्तित्व नहीं रहता और इसलिए कर्म का आधार नहीं रहता। द्वैतभाव का विलोप हो जाने से कर्म असंभव हो जाता है। मुक्तात्मा निर्गुण हो जाती है। यह नित्य आत्मा के साथ मिलकर एकत्व प्राप्त कर लेती है।[2] यदि यह कहा जाये कि कर्म का आधार प्रकृति और यदि नित्य प्रकृति की क्रियाविधियों से सर्वथा स्वतन्त्र है, तब मोक्ष की अवस्था में न तो अहंकार का स्थान है, न इच्छा व कामना का ही। यही एक ऐसी अवस्था है जो सब प्रकार की विधियों और गुणो से रहित, भावहीन, स्वतन्त्र और शान्तिमय है। यह मृत्यु के बाद विद्यमान रहने की दशा नहीं, बल्कि सर्वोच्च सत्ता की प्राप्ति का स्थान है। जहां पर आत्मा अपने को जन्म, मृत्यु से ऊपर, अनन्त, नित्य, तथा अभिव्यक्तियों की उपाधि से परे अनुभव करती है। शंकर ने इन्हीं वाक्यों को आधार बनाकर गीता के मोक्ष की व्याख्या की है। जो साध्य के कैवल्य से मिलती है। यदि शरीर हमारे साथ लगा रहेगा तो प्रकृति भी अपना कार्य करती चलेगी, जब तक कि शरीर का छोड़े हुए खोल की भांति सर्वथा त्याग नहीं कर देती। अमूर्त आत्मा शरीर की क्रिया के प्रति अनासक्त रहती है। यहां तक कि शंकर भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि जब तक शरीर रहेगा, तब तक जीवन और कर्म दोनों रहेगा। जीवनमुक्त पुरुष जो शरीर धारण किये हुए हैं, ब्राह्य जगत की घटनाओं से प्रतिक्रिया रुप में सम्बद्ध है, यद्यपि वह उनमे आसक्त नहीं होगा। ऐसा कोई सुझाव नहीं है

---

1. डॉ0 राधाकृष्णनन् "भारतीय दर्शन" राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली-6
   भगवाद्गीता पर शाकर भाष्य-12.10, 16 23, 14 1, 6.45, 8:13, 9.32, 16.22, 2.51, 4:39, 5 12, 18.62, 18 561
2. 'आत्मैव' 7:18 मेरे स्वरुप को प्राप्त कर लेता है।

कि सम्पूर्ण प्रकृति अमरत्व के धर्म में परिणत हो जाती हो, जो दैवी अश की अनन्त शक्ति है। आत्मा और शरीर का द्वैतभाव प्रकट है और इनमे परस्पर समन्वय नहीं हो सकता, अतएव जीवात्मा अपनी पूर्णता को तभी प्राप्त कर सकती है जबकि शरीर की यथार्थता के भाव को सर्वथा दूर कर दिया जाये। इस विचार के आधार पर हम सर्वोच्च ब्रह्म के कर्म के विषय में सोच नहीं सकते, क्योकि समस्त क्रिया का आधार अर्थात् अस्थायी निर्माण कार्य एवं अस्थायी प्रतीति अनन्त के विशाल वक्ष मे विलीन हो जाती है। हमारे दृष्टिकोण से पूर्णरूपेण त्याग सब प्रकार की प्रगति का अन्त प्रतीत होता है। शंकर कहते हैं कि अनन्त के विषय में हमारा मत इसका यथार्थ माप नहीं है। हम अपने मानवीय दृष्टिकोण से उस अनन्त के जीवन की पूर्णता का ज्ञान ग्रहण नहीं कर सकते। इस मत को स्वीकार करते हुए वे कहते हैं कि गीता के श्लोक जिनसे आत्मा की अनेकता का ज्ञान होता है, परम अवस्था से सम्बन्ध नहीं रखते, अपितु वे सापेक्ष अवस्थाओ के ही संबंध मे है।

भगवद्गीता में कहा गया है कि मुक्त आत्मा के लिए भी संभव हो सकता है। अर्न्तदृष्टि तथा ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति सर्वोपरि ब्रह्म का अनुसरण करते है और इस ससार में कार्य करते हैं।[1] सर्वोच्च अवस्था सर्वोपरि ब्रह्म मे लय हो जाना नहीं, अपितु अपना पृथक अस्तित्व है। मुक्त पुरुष की आत्मा यद्यपि विदेहभाव में केन्द्रित है, लेकिन अपना निजी व्यक्तित्व भी रखती है, और दिव्य आत्मा का अंश है। ठीक जिस प्रकार 'पुरुषोत्तम, जो समस्त विश्व में व्याप्त है, कर्म करता है, मुक्तामा को भी उसी प्रकार कर्म करना चाहिए। सर्वोच्च अवस्था पुरुषोत्तम में निवास करने की अवस्था है।[2] जो इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है, पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं और ईश्वर के पद को प्राप्त करते हैं।[3] मोक्ष सदा के लिए व्यक्तित्व का विलोप हो जाना नहीं है। अपितु जीवात्मा की एक आनन्दरुप मुक्ति एवं ईश्वर की उपस्थिति में एक पृथक् तथा लक्षित हो सकता है। मेरे भक्त के पास आ जाते हैं।

गीता के रचयिता ने मोक्षावस्था मे भी एक चेतनासम्पन्न व्यक्तित्व को माना है, ऐसा प्रतीत होता है। वस्तुतः कुछ स्थलो पर मिलता है कि मुक्तात्माएं ईश्वर तो नहीं बन जाती,

---

1. डा0 राधाकृष्णनन् "भारतीय दर्शन" राज्यपाल एण्ड सन्स, दिल्ली-6 4 14-15
2. 'निवसिष्यसि मय्यवे'। - डॉ0 राधाकृष्णनन्।
3. 18 21, 4:10 मद्भवमागता ।

किन्तु तत्व रुप में ईश्वर के समान हो जाती है।[1] मोक्ष विशुद्ध तारतम्य नहीं है; बल्कि केवल गुणात्मक समानता है, यह जीवात्मा को ऊँचा उठाकर, ईश्वर के सदृश्य अस्तित्व प्राप्त कर लेती है। जहां तुच्छ इच्छाओं के प्रवृत्त होने की कोई शक्ति नहीं है। अमर होने से आशय नित्य स्वरूप प्रकाश में निवास है। हमारी आत्मता नहीं नष्ट होती बल्कि अधिक गहरी हो जाती है, पाप के सब धब्बे मिट जाते हैं, संशय की गांठ कट जाती है, हम अपने ऊपर प्रभुत्व पा जाते है और हम सदा के लिए प्राणीमात्र का कल्याण करने मे अपने को लगा देते हैं। हम अपने को सभी गुणो से मुक्त नहीं कर लेते, किन्तु सत्वगुण धारण करते हैं और रजोगुण का दमन करते हैं।[2] रामानुज भी इसी मत पर बल देते हैं, और प्रतिपादन करते हैं कि मुक्त आत्मा ईश्वर के साथ सदा सयुक्त रहती है और उसका समस्त जीवन इसको अभिव्यक्त करता है। उस प्रकाश से जिसमें वह निवास करता है, ज्ञान की धारा प्रवाहित होती है, और वह अपने ईश्वर के प्रति प्रेम मे एक प्रकार से खो जाता है। इस अवस्था में हम एक सर्वोत्तम जीवन को प्राप्त करते प्रतीत होते हैं, सम्पूर्ण रुप में प्रकृति का बहिष्कार करके नहीं, अपितु उच्च्य कोटि की आध्यात्मिक पूर्णता के द्वारा। इसी दृष्टिकोण से हम कर्म करते तथा ईश्वर में निवास करते हैं, केवल मात्र क्रियाशीलता का केन्द्रबिन्दु जीवात्मा से हटाकर दिव्य रुप में परिवर्तित हो जाता है। दैवी शक्ति की धड़कन समस्त विश्व में अनुभव की जाती है जो विभिन्न वस्तुओ में भिन्न-भिन्न रुप धारण कर लेती है। प्रत्येक जीवात्मा अपना केन्द्र तथा परिधि ईश्वर के अन्दर रखती है। रामानुज के मत मे आध्यात्मिक शरीर उच्चतम अनुभूति मे भी एक महत्वपूर्ण घटक है।

इस प्रकार गीता में परम अवस्था के विषय में दो प्रकार के परस्पर विरोधी मत है। एक तो वह है जिसके अनुसार मुक्त आत्मा अपने को ब्रह्म के अमूर्तरूप में खो देती है और संसार के द्वन्द्व से दूर रह कर शान्ति प्राप्त करती है। दूसरे मत के अनुसार, हम ईश्वर को धारण करते है और उसमें हर्ष का अनुभव करता है, तथा समस्त दुःख क्लेश एवं क्षुद्र इच्छाओं की उत्सुकता से ऊपर उठ जाते हैं, क्योंकि ये ही दासत्व के चिन्ह है। गीता एक धार्मिक पुस्तक होने के कारण एक शरीरधारी ईश्वर की पारमार्थता के ऊपर बल देती है

1 14:2, "मम साधर्म्यमागता।"
2 डॉ0 राधाकृष्णनन्, 'भारतीय दर्शन' राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली 6
श्रीमद् पर शांकर भाष्य- 'शान्तरजसम्' 6 27।

और साथ में यह भी प्रतिपादन करती है कि मनुष्य के अन्दर जो दैवी शक्ति है उसे अपनी पूर्ण शक्ति के साथ ज्ञान, शक्ति, प्रेम, एवं सार्वभौमता के रुप मे पूर्णतया विकसित होना चाहिए। इससे हम निश्चय ही यह परिणाम नहीं निकाल सकते कि गीता का मत उपनिषदों के मत के विपरीत है। यह मतभेद इस सामान्य समस्या का एक विशिष्ट उपयोग है कि परब्रह्म अथवा शरीरधारी पुरुषोत्तम इन दोनों में किसकी यथार्थता उच्च श्रेणी की है। गीता के अध्यात्मज्ञान का विवेचन करते समय हमने कहा कि गीता ब्रह्म की परम यथार्थता का खण्डन नहीं करती, किन्तु केवल यही सुझाव देती है कि हमारे दृष्टिकोण से उक्त परमतत्व अपने को शरीरधारी भगवान के रुप मे अभिव्यक्त करती है। विचार के लिए, चूॅकि यह मानवीय है और कोई मार्ग उच्चतम् यथार्थ सत्ता के विषय में चिन्तन करने का नहीं है, उसी दृष्टिकोण को अपनाते हुए हम कह सकते हैं कि मोक्ष परम अवस्था के विषय मे दोनों मत आन्तरिक दृष्टि से तथा बौद्धिक दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले है, यद्यपि भिन्न-भिन्न दृष्टि से दोनों का सम्बन्ध है, यद्यपि भिन्न-भिन्न दृष्टि से दोनों एक ही अवस्था को प्रदर्शित करते हैं। हमारे मानवीय दृष्टिकोण से परमतत्व एक निष्क्रिय, संबंध विहीन व्यक्तित्व और सब प्रकार के कर्म करने में अयोग्य प्रतीत होता है जबकि वस्तुत· यह ऐसा नहीं है। इस सम्बन्ध में रामानुज का विध्यात्मक वर्णन मिलता है। यदि यह कहा जाये कि परम तत्व और शरीर धारी ईश्वर एक ही है, गीता का कहना है कि अमूर्तता और मूर्तिमत्ता परस्पर में इस प्रकार से संयुक्त है कि उच्चतम यथार्थ सत्ता हमारी समझ से बाहर है। इसी प्रकार मुक्तात्माएं अपना व्यक्तित्व भले ही न रखती हो तो भी आत्म मर्यादा के कारण व्यक्तित्व रख सकती है। यह इसी प्रकार से सम्भव है कि गीता ने प्रकृति के अनादिशक्ति प्रदर्शन के साथ कालातीत आत्मा ने नित्य अचल निवृत्ति मार्ग की संगति बैठाने का प्रयास किया है।

मृत्यु के उपरान्त मुक्तात्मा की अवस्था के विषय में चाहे जो कुछ भी तथ्य हो, जब तक वह संसार में जीवन धारण किये रहती है, उसे कुछ न कुछ कर्म करना ही है। शंकर के अनुसार, मुक्तात्मा की यह क्रियाशीलता प्रकृति के कार्य का प्रकार है, और रामानुज के मत में सर्वोपरि सत्ता के ये कर्म है। ये दोनों कर्म के अमूर्त रुप को व्यक्त करने के दो भिन्न मार्ग है। मुक्त आत्मा का कर्म आत्मा के (कर्म) स्वातन्त्र्य से होता है और इसमें आन्तरिक हर्ष और शान्ति का समावेश रहता है जो न तो अपने उद्भव के लिए और न ही निरन्तरता के लिए बाह्यय वस्तुओं के ऊपर निर्भर नहीं रहता है। मुक्त व्यक्ति संशयवाद की

जड़ता को उतार देता है। समस्त अहंकार (अज्ञान) उसके चेहरे से दूर भाग जाते हैं। उसकी सजीव दृष्टि और दृढ़तापूर्ण वाणी से यह विदित होता है कि उसके अन्दर आध्यात्मिक प्रेरणा का बल है, जिसके ऊपर वे विश्वास नहीं कर सकते, वे भौतिक शरीर के अधीन नहीं, न इच्छा ही उन्हें आकृष्ट कर सकती है। विपत्ति मे भी वे निराश नहीं होते और न सम्पत्ति में प्रमत्त ही होते है। चिन्ता, भय, क्रोध आदि उन्हें नहीं व्यापते। उनका मन सरल एवं बालक के समान दृष्टिकोण सर्वथा अक्षत और पवित्र होता है।

(मुक्त व्यक्ति) मोक्ष को जो व्यक्ति पा लेता है वो समस्त पाप पुण्य से परे हो जाता है। पुण्य भी पूर्णता के रुप मे परिणत हो जाता है। मुक्त पुरुष जीवन के केवल नैतिक नियम से ऊपर उठकर प्रकाश, महत्ता, और आध्यात्मिक जीवन की शक्ति को पहुँचता है। यदि उसने ऐसे कोई बुरे काम भी किये हो तो जो साधारण परिस्थिति में इस पृथ्वी पर दूसरे जन्म की आवश्यकता का कारण बने तो भी इसकी आवश्यकता नहीं रहती। सामान्य नियमों तथा विधि-विधानों से वे मुक्त है। जहां तक लक्ष्य का सम्बन्ध है, गीता के मत में परम व्यक्तिवाद की महत्ता है। यदि यह मुक्त पुरुष नीत्शे का अतिमानव हो जाये, तो यह भयावह सिद्धान्त होगा। जिसका दुर्बल तथा अयोग्य और अपांग एवं अपराधी व्यक्तियों से कोई नाता न हो। यद्यपि सामाजिक मूल्यों या कर्तव्यों से वे मुक्त रहे फिर भी गीता के मुक्तात्मा समाज के ऐसे व्यक्तियों को भी कभी भूलती है। मुक्त व्यक्ति अपने आप में कभी उद्विग्नता का भाव नहीं आने देते और न दूसरों को भी उद्विग्न करते हैं। जगत् के कल्याण के लिए कार्य करना उनका स्वभाव बन जाता है। ये श्रेष्ठ व्यक्ति एक समान मन से इस लोक के सभी पदार्थों के साथ व्यवहार करते हैं। वे गतिशील और रचनात्मक धार्मिक जीवन के प्रतीक हैं और इस बात का ख्याल रखते हैं कि सामाजिक नियम मनुष्य के जीवन के धार्मिक पक्ष को पुष्ट करने में पूर्णतया सहायक सिद्ध हों। वे अपने नियत कर्म को करते हैं जिसका आदेश उनके अन्दर अवस्थित दैवी शक्ति करती है।

यहां पर गीता में सामाजिक कर्तव्यों पर विशेष महत्व दिया गया है और यहां सामाजिक कर्तव्यों के ऊपर भी एक अवस्था है। मनुष्य समाज से पृथक भी मनुष्य की एक अनन्त नियति है। सन्यासी सब नियमों, वर्णों और समाज से भी ऊपर है। यह मनुष्य के अनन्त गौरवपूर्ण पद का प्रतीक है जो अपने को समस्त बाह्य पदार्थों से पृथक कर सकता

है, यहाँ तक की स्त्री तथा बच्चो से पृथक और आत्मनिर्भर होकर यह स्थल के एकान्त मे जाकर बैठता है, यदि वहां उसका ईश्वर साथ हो। सन्यासी जिस आदर्श को अंगीकार करता है, वह त्याग व तपस्या का नहीं है। वह समाज से एकदम पृथक रहकर भी मनुष्य मात्र के प्रति करुणा का भाव रखता है। महादेव ने हिमालय के बर्फीले पहाड़ पर बैठकर मनुष्य जाति की रक्षा के लिए विषपान किया था।[1]

गीता में नियतिवाद और पुरुषार्थवाद

साधारण दृष्टि से यदि देखा जाये तो गीता को नियतिवादी विचारको के निकट पाया जा सकता है, इसी कारण कुछ पाश्चात्य एवं भारतीय विचारकों ने उसे 'नियतिवादी' कहा है। गीता की समीक्षा करते हुए डा0 प्रो0 हिल लिखते हैं कि 'गीता मे संकल्प स्वातन्त्रता एक पूर्ण नियतिवादी विचारधारा के अन्तर्गत कार्य करने वाली चयन की मिथ्या स्वतन्त्रता है।'[2] इस प्रकार हिल ने गीता के नियतिवादी दृष्टिकोण का समर्थन किया है।

डा0 भीखन लाल आत्रेय यद्यपि गीता को पूर्ण रुप से नियतिवादी विचारणा का ग्रन्थ नहीं मानते है, 'देव और पुरुषार्थ की समस्या जैसी ही एक समस्या कई दर्शनों और भगवद्गीता ने खड़ा कर दी। ये शास्त्र पुरुष को कर्मो का कर्ता न मानकर प्रकृति को कर्ता मानते हैं और कहते हैं कि सब कुछ प्रकृति के गुणों के द्वारा हो रहा है। कृष्ण ने अर्जुन से कहा था यदि वह स्वयं नहीं चाहेगा तो भी प्रकृति उसको लडाई मे प्रवृत्त कर देगी। प्रकृति और पुरुष के कर्तव्य और अकर्तव्य की समस्या को गीता में श्रीकृष्ण ने यह कहकर और जटिल बना दिया कि ईश्वर अपनी माया से सब प्राणियो को कठपुतली का नाच नचा रहा है।'[3] फिर भी उन्होंने गीता मे निहित नियतिवादी तत्वों की पूर्वलिखित (वर्णन) उल्लेख किया है। गीता पर हमें अनेक श्लोक मिल जायेंगे, जिसका नियतिवाद परक अर्थ लगाया जा सकता है। अध्याय 9 में गीता में कई बार कहा है कि अपनी प्रकृति को वश में रखते हुए मैं इन भूतों के समूह को बार-बार उत्पन्न करता हूँ जो कि प्रकृति के वश में होने से बिल्कुल बेबस

---

1 श्री डॉ राधाकृष्णनन् "भारतीय दर्शन" राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली 6, पृष्ठ स0- 535
2 डॉ0 राधाकृष्णनन् कृत भारतीय दर्शन में अनुदित प्रो0 हिल द्वारा, गीता विषय प्रवेश, पृष्ठ-48
3 भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ- 649

है।[1] श्रीमद् भगवद्गीता में, अध्याय 11 मे श्लोक 32-33 "मैं लोको का विनाश करने वाला काल हूँ, जो प्रवृद्ध होकर लोको के विनाश मे लगा हूँ, यह सब परस्पर विरोधी सेना में पक्तिबद्ध खड़े हुए योद्धा तेरे (कर्म के) बिना भी शेष नहीं रहेगे-यह सब तो मेरे द्वारा पूर्व मे ही मारे जा चुके हैं। हे अर्जुन! तू अब इसका कारण भर बन जा।'[2] डा0 राधा कृष्णनन् भी इस श्लोक की टिप्पणी में लिखते है कि ईश्वर भवितव्यता की सब बातो का निश्चय करता है और उन्हें नियत करता है-ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक दैवी पूर्व-निर्णयन के सिद्धान्त का समर्थन करता है, और व्यक्ति की नितान्त असहायता और क्षुद्रता तथा संकल्प और प्रयत्न की व्यर्थता की और सकेत करता है।[3] इतना ही नहीं, गीतकार व्यक्ति के हाथ से नैतिक विकास की सारी क्षमताओ को भी छीनकर उन्हें परमात्मा के हाथों में देने का प्रयास कर नियतिवादी धारणा को और अधिक सबल बना देता है।[4] दसवें अध्याय में कृष्ण कहते हैं कि "मैं सब वस्तुओं का उत्पत्ति स्थान हूँ, मुझसे सारी सृष्टि चलती है, इस बात को जानकर ज्ञानी लोग विश्वासपूर्वक मेरी पूजा करते हैं, उन्हें मैं बुद्धियोग प्रदान करता हूँ जिसके द्वारा वे मेरे पास पहुँच जाते है।" इसी प्रकार अध्याय 18 मे[5] कहा गया है कि "ईश्वर सब प्राणियों के हृदय स्थान मे स्थित होकर अपनी माया से उन्हे यन्त्र के रुप मे चला रहा है।" इस श्लोक मे गीताकार ने नियतिवादी धारणा के यान्त्रिक सिद्धान्त को भी प्रतिपादित कर देता है। फिर भी यह मानना कि गीता का नियतिवाद एक अर्धयान्त्रिक नियतिवाद है, भ्रान्ति ही होगी। इस विषय पर सम्यक रुप से विचार करना अपेक्षित है।

अब यहॉ यह प्रश्न उठता है कि क्या गीता नियतिवादी है? इस सम्बन्ध में कहा जाता है कि गीता नियतिवाद का ग्रन्थ अवश्य प्रतीत होता है, लेकिन गीता में ही अनेक

---

1 प्रकृति स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुन पुन·। भूतग्राममिम कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-9, श्लोक-9

2 कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो, लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्त·।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे, येऽवस्थिता प्रत्यनीकेषु योद्धा।। 11/32
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व, जित्वा शत्रून् भुडक्ष्व राज्य समृद्धम्।
मयैवैते निहता· पूर्वमेव, निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।। 11/33 श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-11, श्लोक- 32-33

3. डॉ0 राधाकृष्णनन् "भगवद्गीता, पृ0स0- 275
जैन, बौद्ध, और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन-भाग-1, डा0 सागर मल जैन।

4 'अह सर्वस्थ प्रभवो, मत्त· सर्वं प्रवर्तते। इति मत्वा भजन्ते मा बुधा भावसमन्विता ।।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-10, श्लोक स0-8

5 ईश्वर सर्वभूतानां ह्रद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारुढानि मायया।। गीता, अध्याय-18, श्लोक स0-61

स्थल ऐसे भी है जो इच्छास्वातन्त्र्य का प्रतिपादन करते है। अधिकांश टीकाकारो ने गीता को नियतिवादी ग्रन्थ नहीं माना। गीता के विषय में शंकराचार्य का स्पष्ट मत है कि गीता मे नियतिवाद और इच्छास्वातन्त्र्यवाद का सही स्वरुप क्या है। आचार्य शंकर स्वयं ही यही समस्या उठाते हैं यदि सभी जीव प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करते हैं, प्रकृति से रहित कोई नहीं है तो पुरुष के प्रयत्न की आवश्यकता न रहने से विधिनिषेधक दर्शन शास्त्र निरर्थक होगा? अर्जुन से यही कहते हैं कि जैसे तेरी इच्छा हो वैसा करो?[1]

गीता में नियतिवाद स्वीकार करने के दो आधार है- (1) प्रकृति (2) ईश्वर । या तो यह माना गया है कि प्राणी का सारा व्यवहार प्रकृति से नियन्त्रित होता है, या ईश्वर से। लेकिन ईश्वर प्रकृति या माया के माध्यम से ही उन्हें नियन्त्रित करती है। अतः यह समझना चाहिए प्रकृति अथवा माया का इस संदर्भ मे क्या अर्थ है। आचार्य शकर ने प्रकृति की व्याख्या करते हुए कहा है जो पूर्वकृत पुण्य पाप आदि सस्कार वर्तमान जन्मादि मे प्रकट होता है, उसका नाम प्रकृति है। अर्थात् इस प्रकार नैतिकता के सम्बन्ध में प्रकृति या माया का तात्पर्य कर्म सिद्धान्त से है। नैतिक आचरण के क्षेत्र में गीता की प्रकृति कर्म प्रकृति है, जो भूतकालीन कर्म संस्कारो से निर्मित होकर वर्तमान व्यवहार को नियन्त्रित करती है। इस प्रकार गीता के आचरण के क्षेत्र का नियन्त्रक तत्व स्वय व्यक्ति से उद्भूत उसकी कर्म प्रकृति ही सिद्ध होती है। गीता में ईश्वर को जिस रुप में नियामक माना गया है, वह स्वेच्छाचारी नहीं है। वह ईश्वर सभी प्राणियों के प्रति समभाव से युक्त नियमपूर्वक कार्य करने वाला है, अतः प्राणियों के आचरण का नियामक तत्व ईश्वर नहीं, वरन् कर्म का नियम है, जिसके नियम के अधिष्ठाता के रुप मे ही उसका नियामक कहा जा सकता है। तिलक भी गीता को इसी रुप में नियामक मानते है।[2] निष्कर्ष यह है कि गीता में यदि कोई नियतिवादी तत्व है तो वह कर्म का नियम है और प्राणी व्यवहार का नियमन इसी के आधार पर होता है। लेकिन यदि हम कर्मनियम को भी निरपेक्ष रुप में व्यक्ति के व्यवहार का नियन्त्रक मन लेते हैं तो भी नियतिवाद के पंजे में आ जाता है। गीता में व्यक्ति अपने कर्मनियम में इच्छा से

---

1. इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यातर मया। विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-18, श्लोक- 63
2 गीता रहस्य, अध्याय 10 (कर्मविपाक और आत्मस्वातन्त्र्य)

स्थल ऐसे भी है जो इच्छास्वातन्त्र्य का प्रतिपादन करते हैं। अधिकांश टीकाकारों ने गीता को नियतिवादी ग्रन्थ नहीं माना। गीता के विषय मे शंकराचार्य का स्पष्ट मत है कि गीता में नियतिवाद और इच्छास्वातन्त्र्यवाद का सही स्वरुप क्या है। आचार्य शंकर स्वयं ही यही समस्या उठाते हैं यदि सभी जीव प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करते हैं, प्रकृति से रहित कोई नहीं है तो पुरुष के प्रयत्न की आवश्यकता न रहने से विधिनिषेधक दर्शन शास्त्र निरर्थक होगा? अर्जुन से यही कहते हैं कि जैसे तेरी इच्छा हो वैसा करो?[1]

गीता मे नियतिवाद स्वीकार करने के दो आधार है- (1) प्रकृति (2) ईश्वर । या तो यह माना गया है कि प्राणी का सारा व्यवहार प्रकृति से नियन्त्रित होता है, या ईश्वर से। लेकिन ईश्वर प्रकृति या माया के माध्यम से ही उन्हें नियन्त्रित करती है। अतः यह समझना चाहिए प्रकृति अथवा माया का इस सदर्भ मे क्या अर्थ है। आचार्य शकर ने प्रकृति की व्याख्या करते हुए कहा है जो पूर्वकृत पुण्य पाप आदि संस्कार वर्तमान जन्मादि में प्रकट होता है, उसका नाम प्रकृति है। अर्थात् इस प्रकार नैतिकता के सम्बन्ध में प्रकृति या माया का तात्पर्य कर्म सिद्धान्त से है। नैतिक आचरण के क्षेत्र में गीता की प्रकृति कर्म प्रकृति है, जो भूतकालीन कर्म संस्कारों से निर्मित होकर वर्तमान व्यवहार को नियन्त्रित करती है। इस प्रकार गीता के आचरण के क्षेत्र का नियन्त्रक तत्व स्वय व्यक्ति से उद्भूत उसकी कर्म प्रकृति ही सिद्ध होती है। गीता में ईश्वर को जिस रुप में नियामक माना गया है, वह स्वेच्छाचारी नहीं है। वह ईश्वर सभी प्राणियों के प्रति समभाव से युक्त नियमपूर्वक कार्य करने वाला है, अतः प्राणियो के आचरण का नियामक तत्व ईश्वर नहीं, वरन् कर्म का नियम है, जिसके नियम के अधिष्ठाता के रुप मे ही उसका नियामक कहा जा सकता है। तिलक भी गीता को इसी रुप मे नियामक मानते है।[2] निष्कर्ष यह है कि गीता में यदि कोई नियतिवादी तत्व है तो वह कर्म का नियम है और प्राणी व्यवहार का नियमन इसी के आधार पर होता है। लेकिन यदि हम कर्मनियम को भी निरपेक्ष रुप में व्यक्ति के व्यवहार का नियन्त्रक मन लेते हैं तो भी नियतिवाद के पंजे में आ जाता है। गीता में व्यक्ति अपने कर्मनियम में इच्छा से

---

1. इति ते ज्ञानमाख्यात गुह्याद्गुह्यातर मया। विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-18, श्लोक- 63
2 गीता रहस्य, अध्याय 10 (कर्मविपाक और आत्मस्वातन्त्र्य)

कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। तो प्रश्न उठता है कि प्राणियों को किस अर्थ में नियमन करता है? गीता में कर्म को प्रकृति या माया कहा गया है, उसका गहन अर्थ है कि वह जड़ है और इसलिए प्रकृति या माया का नियम जड़ का नियम है। जड़ के नियम को ही विज्ञान की भाषा में कार्य कारण का नियम कहते हैं। कर्म का नियम भी कार्य कारण का नियम है। ऐसी स्थिति में कर्म सिद्धान्त को कार्य कारण सिद्धान्त मान लेते है। अब जड़ जगत का नियम कर्म सिद्धान्त है, तो उसे जड़ तत्व (प्राणी जगत) पर लागू नहीं कर सकते, क्योंकि जड़ चेतन अलग-अलग तत्व है।

गीता जब आत्मा के द्वारा आत्म के उत्थान की बात कहती है, तब वह निश्चित रुप से यही इंगित करती है कि इच्छा स्वातन्त्र का सिद्धान्त ही चेतन जगत का सिद्धान्त है। अनात्म (जड़) और आत्म (चेतन) दो भिन्न सताएं है, और दोनो के स्वतन्त्र नियम है। जड़ जगत के नियम के रुप में ही नियतिवाद पनपता है। यद्यपि वर्तमान वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर तो परमाणु जगत में भी नियतता का नियम पूरी तरह लागू नहीं होता। परमाणु के आन्तरिक गति में अनियतता होती है। फिर भी चेतन जगत का नियम तो इच्छा स्वातन्त्रय का सिद्धान्त कहा जाता है, जिसमें पुरुषार्थ की धारणा बलवती होती है। इस पर डा० राधाकृष्णनन् भी लिखते है कि[1] प्रकृति नियतिवाद की व्यवस्था है, लेकिन वह रुद्ध व्यवस्था नहीं हैं। आत्मा की शक्तियां उसे प्रभावित कर सकती है, उसको गति की दिशा को मोड़ सकती है। कर्म का नियम अनात्म (जड़) के क्षेत्र मे पूरी तरह लागू होता है, जहाँ प्राणी शास्त्रीय और सामाजिक अनुवांशिकता दृढ़ता के साथ जमी हुई है, किन्तु (कर्ता) व्यक्ति में स्वाधीनता की सम्भावना है, प्रकृति के नियतिवाद पर, संसार की अनिवार्यता (बाध्यता) पर, विजय पाने की सम्भावनाएं है।

नैतिकता का जगत् न पूर्णतया जड़ है और न पूर्णतया चेतन है। नैतिक कर्ता के रुप में जीव (बदात्मा) न तो शुद्ध रुप से आत्म है और न शुद्ध रूप से अनात्म, वह तो आत्म और अनात्म का एक विशिष्ट संयोग है। मानवीय जगत् में जिस रुप में अनात्म आत्म पर हावी रहता है, उसी स्थिति तक आत्म तत्व पर नियतिवाद का अधिकार रहता है। उसी स्थिति तक आत्म तत्व पर नियतिवाद का अधिकार है। लेकिन आत्म चाहे अनात्म से कितना

---

1. 'भगवद्‌गीता'- डॉ0 राधाकृष्णनन्, पृष्ठ सख्या-51

ही दबा हुआ हो, वह कभी भी अनात्म नहीं हो जाता है और इसलिए उसमें स्वतन्त्रता की संभावनाएं चाहे वह कितनी ही धूमिल क्यों न हों, समाप्त नहीं होती है। डा० राधाकृष्णनन् लिखते हैं कि कर्ता (आत्मा) का अर्थ है स्वतन्त्रता या अनिर्धारिता। जीवन अपनी आत्मसीमितता में अपनी मनोवैज्ञानिक और सामाजिक स्वतः चालितता में सच्चे कर्ता (शुद्धात्मा) का विकृत रुप है। कर्म के नियम पर आत्मा की स्वाधीनता की पुष्टि द्वारा विजय प्राप्त की जा सकती है-विश्व की जो शक्तियां जिसका मनुष्य पर प्रभाव पड़ता है, निरन्तर प्रकृति की प्रतिनिधि है, परन्तु उसकी (मनुष्य से) आत्मा प्रकृति (जैन परिभाषा में कर्म प्रकृति) के घेरे को तोड़ सकती है और ब्रह्म (शुद्धात्मा) के साथ अपने सम्बन्ध को पहचान सकती है। हमारा बन्धन किसी विजातीय तत्व पर आश्रित रहने से है। मनुष्य अच्छे बुरे में चुनाव कर सकने की स्वतन्त्रता से ऊपर उठकर उस उच्चतन स्वतन्त्रता पर और उस ढंग पर जिससे कि वह इस स्वतन्त्रता का प्रयोग करता है, जोर दिया गया है- प्रकृति निरपेक्ष रुप में सब बातों का निर्धारण नहीं कर देती है। कर्म एक दशा है, भवितव्यता नहीं।[1]

---

1. श्रीमद् भगवद्गीता, पृष्ठ सं0- 051-52।
   'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-1 डा0 सागरमल जैन

उपसंहार

उपसंहार

इस अध्याय में हम श्रीमद्भगवद्गीता के सम्बन्ध मे प्रस्तुत निबन्ध के सामान्य निष्कर्षो का उल्लेख करेगे, जिनका विस्तृत वर्णन पिछले अध्यायों में किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता एक अति पवित्र धर्मग्रन्थ है। इसका स्थान हिन्दू धर्म ही में नहीं, अपितु संसार के समस्त साहित्य में प्रमुख है, जो किसी से छिपा हुआ नहीं है, अपितु सर्वविदित है। इस अद्भुत ग्रन्थ का भाव यहीं है कि जब तक मानव सभ्यता और संस्कृति संसार में कायम रहेगी, तब तक इसके सम्बन्ध में अनेक विचार प्रकट होते रहेगें। मानव जीवन जिस प्रकार-विशाल एवं अनन्त है इससे सम्बन्धित साहित्य के स्वरूप का भी बहुपक्षीय अथवा अनन्त होना स्वाभाविक है।

श्रीमद्भगवद्गीता पर हम अनेक दृष्टिकोणों से भी विचार कर सकते है जैसे राजनीति शास्त्र, समाज शास्त्र, मनोविश्लेषण आदि। अर्वाचीन शास्त्रों के दृष्टिकोण से भी इस श्रीमद्भगवद्गीता पर विचार किया जा सकता है तथा आधुनिक युग में इसकी आवश्यकता भी है, क्योंकि इससे सम्बन्ध में विदेशियों के साथ ही साथ भारतीयों की भी धारणा पूर्णतयाः स्पष्ट नहीं हुई है। इस प्रकार से चाहे गीता के विभिन्न अध्यायों की संगति (मेल) देखे या उन अध्यायों के विषयों की मीमांसको की पद्धति से पृथक-2 विवेचन करें, किसी भी दृष्टि से विचार करें, अन्त में गीता का तात्पर्य यही मालूम होगा कि **"ज्ञान-भक्ति युक्त कर्मयोग"** ही गीता का सार है, अर्थात् साम्प्रदायिक टीकाकारों ने कर्मयोग को गौण बताकर, गीता के जो अनेक प्रकार के तात्पर्य बतलाये है, वे यथार्थ नहीं है, किन्तु उपनिषदों में वर्णित अद्वैत वेदान्त का भक्ति के साथ मेल कर उसके द्वारा कर्मवीरों के जीवन के क्रम को बतलाना ही गीता का तात्पर्य है। मीमांसको के कथानुसार केवल श्रौत स्मार्त कर्मो को सदैव करते रहना शास्त्रोक्त है, तो भी ज्ञानरहित केवल तान्त्रिक् क्रिया से बुद्धिमान मनुष्य का समाधान नहीं होता, और यदि उपनिषदों मे वर्णित धर्म को देखे तो वह केवल ज्ञानमय होने के कारण अल्पबुद्धि वाले मानवों के लिए कष्टसाध्य हैं। उपनिषदों का सन्यास मार्ग लोकसंग्रह का बाधक भी है। इसलिए भगवान ने ऐसे ज्ञानमूलक, भक्तिमूलक, और निष्काम-कर्म-विषयक धर्म का उपदेश गीता में किया है। मानव को इसका पालन जीवन पर्यन्त करना चाहिए,

जिससे बुद्धि (ज्ञान), प्रेम (भक्ति) और कर्तव्य का सम्मिशरण हो जाये, मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग सुगम हो जाये। इसी कारण वश गीता कर्म, अकर्म का शास्त्र है। गीता के प्रारम्भ से लेकर उपसंहार तक यह बात पूर्णतया स्पष्ट है कि अर्जुन को इस धर्म का उपदेश देने से कर्म अकर्म का विवरण पूर्णतया स्पष्ट है कि जो इस गीता ग्रन्थ का मूल कारण है। इस पर दो प्रकार से विचार करते है पहला अमुक काम को इस रीति से करो तो वह शुद्ध होगा और अन्य रीति से करो तो अशुद्ध हो जायेगा। उदाहरण : हिसा मत करो, चोरी मत करो, सच बोलो आदि। मनुस्मृति, आदि स्मृति ग्रन्थों मे तथा उपनिषदो में ये विधियां, आज्ञाएं, स्पष्ट रूप से वर्णित है। परन्तु मानव एक ज्ञानवान प्राणी है इसलिए उसका समाधान इस विधि से नहीं हो सकता, क्योकि मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा कारण जानने में होती है। इसीलिए मनुष्य इन नियमो के नित्य एवं मूल तत्व की खोज करता है। यही दूसरा कारण है कि जिससे कर्म-अकर्म, धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप आदि का विचार किया जाता है। कुछ प्राचीन शास्त्रकारों ने केवल मोक्ष को अपने अध्ययन का विषय बनाया और नीतिशास्त्र, सदाचार के मूलतत्वों का विवेचन करना भूल गये। परन्तु महाभारत एवं गीता का अध्ययन करने से यह भ्रमपूर्ण विचार समाप्त हो जायेगा। इतने पर कुछ लोगों का कहना है कि महाभारत एक अत्यन्त विस्तीर्ण ग्रन्थ है, इसलिए इसको पढ़कर मनन करना बहुत कठिन है, और गीता एक छोटा सा ग्रन्थ है, परन्तु उसमे मोक्ष प्राप्ति का मार्ग बताया गया है। गीता से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण बातों का विवेचन इस प्रकार से है।

थोड़ा सा भी विचार करें तो यह बात ध्यान में आती है कि सदाचार और दुराचार तथा धर्म और अधर्म शब्दों का प्रयोग यथार्थ मे ज्ञानवान मानव के कर्म के लिए होता है। यहीं कारण है कि नितिमत्ता केवल जड़ कर्मों में नहीं, किन्तु बुद्धि में रहती है। "धर्मो हि तेषामधिको विशेषः"-- धर्म-अधर्म का ज्ञान मनुष्य का अर्थात् बुद्धिमान प्राणियों का ही विशिष्ट गुण है। इसका तात्पर्य और भावार्थ भी वही है। किसी गधे के कर्मों को देखकर हम उसे उपद्रवी तो बेशक कहते हैं, किन्तु जब वह धक्का देता है तो उस पर मालिश करने कोई नहीं जाता है इसी प्रकार नदी को, उसके परिणाम की ओर ध्यान देकर, हम भयंकर अवश्य कहते हैं, परन्तु जब बाढ़ के कारण फसल बह जाती है तो अधिकांश लोगों की अधिक हानि होती है पर उसे (नदी को) कोई अनीतिमान नहीं कहता। इस पर कोई प्रश्न

नहीं कर सकता यदि धर्म-अधर्म के नियम मनुष्य के व्यवहारों के लिए उपयुक्त हुआ करते हैं, तो मनुष्य के कर्मों के भले-बुरेपन का विचार की उसके कर्म से ही करने में क्या हानि है? इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन नहीं है। अगर मानव के कृत्यों का विचार करें, तो भी दिखाई पड़ता है कि जब कोई आदमी अपने पागलपन से अनजाने में कोई अपराध कर डालता है, तब वह संसार मे और कानून द्वारा क्षम्य माना जाता है। इससे यही बात सिद्ध होती है कि बुद्धि का विचार ही सर्वप्रथम है। इसी से कर्म का उद्देश्य, भाव या हेतु और उसको कर्म के परिणाम का ज्ञान था कि नहीं। यदि कोई धनवान व्यक्ति दान देने को उत्सुक हो। तो उस व्यक्ति में यह देखना पड़ेगा कि बुद्धि सचमुच श्रद्धायुक्त है या नहीं। सब धर्म-अधर्म का विवेचन हो जाने पर महाभारत में यही बात एक व्याख्यान द्वारा उत्तम ढंग से समझाया गया है। जब युधिष्ठिर राजगद्दी पा चुके तो उन्होने एक अश्वमेघ यज्ञ किया। उस यज्ञ में अन्न और द्रव्य आदि के अपूर्व दान से और लाखों मनुष्यों के सन्तुष्ट होने से उनकी बहुत प्रशंसा होने लगी। उसी समय एक नेवला आया और युधिष्ठिर से कहने लगा तुम्हारी व्यर्थ ही प्रशंसा की जाती है। पूर्वकाल में इस कुरुक्षेत्र में एक ब्राह्मण रहता था, जो अपने खेत में गिरे हुए दानों को चुनकर अपने जीवन का निर्वाह करता था। एक दिन भोजन के समय भूख से पीड़ित एक अपरिचित आदमी अतिथि बनकर आ गया। वह ब्राह्मण तथा उसके परिवार जन कई दिनों से भूखे थे, परन्तु भूखे होने पर भी उनका भोजन अतिथि को समर्पित कर दिया। इस प्रकार उसने जो अतिथि यज्ञ किया था, उसके महत्व में तुम्हारा यज्ञ चाहे कितना भी बड़ा क्यों न हो, उसकी बराबरी नहीं कर सकता। उस नेवले का आधा शरीर और मुंह सोने का था। उसके द्वारा कहे गये इस बात कि युधिष्ठिर के अश्वमेघ यज्ञ की योग्यता उस गरीब ब्राह्मण द्वारा अतिथि को दिये गये सेर भर सत्तु के समान नहीं है। इसका कारण यह है कि ''उस ब्राह्मण के घर में अतिथि की जूठन पर लोटने से मेरा मुंह और आधा शरीर सोने का हो गया, परन्तु युधिष्ठिर के यज्ञ-मण्डल की जूठन पर लोटने से मेरा बचा हुआ आधा शरीर सोने का नहीं हो सका।'' यहां कर्म के वाह्य परिणामों को देखकर इस बात पर विचार कर लें, कि अधिकांश लोगों का अधिक सुख किसमें हैं, तो यह निर्णय करना पड़ेगा कि एक अतिथि को तृप्त करने की अपेक्षा लाखों आदमियों को तृप्त करने की योग्यता लाख गुना अधिक है। परन्तु प्रश्न यह है कि केवल

धर्मदृष्टि से ही नहीं, किन्तु नीति दृष्टि से भी, क्या यह उचित निर्णय होगा? आत्मस्वातन्त्र्य के अनुसार अपनी बुद्धि को शुद्ध रखना उस ब्राह्मण के अधिकार मे था और उसके आचरण में भी कोई सन्देह नहीं था, उसकी परोपकार बुद्धि युधिष्ठिर के समान ही शुद्ध थी। कई दिनों तक वह भूखा ब्राह्मण रहकर भी अन्नदान करके अपने अतिथि की जान बचाता है तो उसकी शुद्ध बुद्धि और भी व्यक्त होती है। यह तो सभी लोग जानते हैं कि धैर्य आदि गुणों के समान शुद्ध बुद्धि की परीक्षा भी संकट के समय ही होती है। काण्ट ने भी यही कहा कि संकट के समय भी जिसकी बुद्धि शुद्ध रहती है, वही सच्चा नीतिमान है। कर्मों की योग्यता कर्ता की बुद्धि से निश्चित होती है और यदि कर्ता की बुद्धि शुद्ध हो तो छोटे कर्मो की नैतिक योग्यता बड़े कर्मों की योग्यता के बराबर होती है। इसके विपरीत अर्थात् जब बुद्धि शुद्धि न हो तब किसी कर्म की नैतिक योग्यता का विचार करने पर यह मालूम होता है कि यद्यपि हत्या करना केवल एक ही कर्म है, अपनी जान बचाने के लिए दूसरे की हत्या करने में, और किसी राह चलते धनवान व्यक्ति को द्रव्य के लिए मार डालने में बहुत अन्तर है। श्रीमद् भगवद्गीता में भगवान ने अर्जुन से यह सोचने के लिए नहीं कहा, कि इस युद्ध से कितने मनुष्यों का कल्याण होगा और कितने लोगों की हानि होगी, बल्कि अर्जुन से भगवान ने यही कहा कि इस समय यह विचार गौण है, कि तुम्हारे युद्ध करने से भीष्म मरेंगे या द्रोण, मुख्य प्रश्न तो यह है कि तुम किस बुद्धि (हेतू या उद्देश्य) ये युद्ध करने को तैयार हुए हो। यदि तुम्हारी बुद्धि स्थितप्रज्ञों के समान शुद्ध होगी और यदि तुम उस पवित्र बुद्धि से अपना कर्तव्य करने लगोगे तो चाहे कोई भी युद्ध मे मरे तुम्हें पाप नहीं लगेगा। तुम कुछ इस फल की आशा से तो युद्ध कर ही नहीं रहे हो कि भीष्म मारे जाये। जिस राज्य पर तुम्हारा जन्म सिद्ध अधिकार है, उसके लिए युद्ध करना तुम जैसे क्षत्रियों का कर्तव्य है।

भगवान द्वारा कहे गये युक्तिवाद को व्यास जी ने भी स्वीकार किया और उन्होंने इसी के द्वारा आगे चलकर शान्तिपर्व में युधिष्ठिर का समाधान किया। परन्तु कर्म अकर्म का निर्णय करने के लिए बुद्धि को इस तरह श्रेष्ठ मान ले, तो यह जानना परमावश्यक हो जाता है कि शुद्ध-बुद्धि किसे कहते हैं? क्योंकि मन और बुद्धि दोनों ही प्रकृति के विकार होते हैं, इसलिए स्वभावतः वो तीन प्रकार के अर्थात् सात्विक, राजस और तामस हो सकते हैं। इसलिए गीता में कहा गया है <u>कि शुद्ध या सात्विक बुद्धि वह है जो कि बुद्धि से भी परे</u>

रहने वाली नित्य आत्मा के स्वरूप को पहचानती हो और यह कहे कि सब प्राणियों में एक ही आत्मा है, उसी के अनुसार कार्य-अकार्य का निर्णय होता है। इसी सात्विक बुद्धि का ही दूसरा नाम **साम्य बुद्धि** है, और इसमें 'साम्य' का अर्थ सर्वभूतान्तर्गत आत्मा की एकता या समानता से है। जो बुद्धि इस समानता को नहीं जानती वह न तो शुद्ध है और न सात्विक। इस प्रकार से नीति का निर्णय साम्य बुद्धि द्वारा ही होता है तब यहा यह प्रश्न उठ सकता है कि बुद्धि की इस साम्यता को कैसे जानते हैं? क्योकि बुद्धि तो अतीन्द्रिय है, इसका भला-बुरा हमारी ऑखें नहीं देख सकती। अतः बुद्धि की समता को देखने के लिए पहले मनुष्य के बाह्य आचरण देखने पड़ेंगे, नहीं तो कोई भी मनुष्य यह कहकर कि मेरी बुद्धि शुद्ध है, कुछ भी कर सकती है। इसी से शास्त्रो मे यह सिद्धान्त होता है कि सच्चे ब्रह्मज्ञानी की पहचान उसके स्वभाव से होती है जो केवल मुंह से बातें करे वह सच्चा साधु नहीं है। भगवद्गीता में भी स्थितप्रज्ञों तथा भगवद्भक्तों का लक्षण बतलाते हुए इस बात का वर्णन किया गया है कि वह संसार के लोगो के साथ कैसा व्यवहार करते है और ज्ञान की व्याख्या करते समय यह कहा स्वभाव का ज्ञान पर क्या प्रभाव पड़ता है। इससे यह पता चलता है कि गीता कभी यह नहीं कहती है बाह्य कर्मों की ओर कुछ भी ध्यान न दो। परन्तु इस बात पर भी ध्यान अवश्य देना चाहिए कि किसी मनुष्य की विशेष करके अन्जान पुरूष की बुद्धि की शुद्धता की परीक्षा करने के लिए यद्यपि केवल उसका बाह्य कर्म या आचरण और सकट का आचरण ही प्रधान साधन है। यद्यपि इस बाह्य आचरण द्वारा नीतिमत्ता की परीक्षा सदैव नहीं होती। हमारे प्राचीन शास्त्रकारो ने लिखा है कि बाह्य कर्म चाहे छोटा हो या बड़ा और वह एक ही को सुख देने वाला हो या अधिकांश लोगों को, उसको केवल बुद्धि की शुद्धता का एक प्रमाण मानना चाहिए। इससे अधिक उसे महत्व नहीं देना चाहिए कि कर्म करने वाले की बुद्धि इतनी शुद्ध है और अन्त मे इस रीति से व्यक्त होने वाली शुद्ध-बुद्धि के आधार पर ही उक्त कर्म की नीतिमत्ता का निर्णय करना चाहिए। यह निर्णय केवल बाह्य कर्मों को देखने से नहीं हो सकता। यही कारण है कि कर्म की अपेक्षा बुद्धि अधिक श्रेष्ठ है।' ऐसा कहकर गीता के कर्म योग मे सम और शुद्ध बुद्धि को प्रधानता दी गयी है। नारदपञ्चरात्र नामक भागवत धर्म का गीता से आर्वाचीन एक ग्रन्थ है उसमें मार्करण्डेय नारद से कहते

हैं।[1] 'मन ही लोगों के सब कर्मो का एक (मूल) कारण है। जैसा मन रहता है वैसी ही बात निकलती है और बातों से मन प्रकट होता है।' सारांश यह निकलता है कि मन का निश्चय सबसे पहले होता है उसके बाद कर्म हुआ करता है इसलिए कर्म-अकर्म का निर्णय करने के लिए गीता के शुद्ध बुद्धि के सिद्धान्त को बौद्ध ग्रन्थकारों ने स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ **'धम्मपद'** नामक नीतिग्रन्थ में कहा मन यानि मन का व्यापार प्रथम है, उसके अन्तन्तर धर्म-अधर्म का आचरण होता है। ऐसा क्रम होने के कारण इस काम मे मन ही मुख्य एवं श्रेष्ठ है, इसलिए इन सभी कर्मों को मनोमय ही समझना चाहिए, अर्थात् कर्ता का मन जिस प्रकार शुद्ध या दुष्ट रहता है, उसी प्रकार उसके कर्म भी भले-बुरे होते हैं तथा उसी प्रकार उसे सुख-दुःख भी मिलता है। इसीलिए उपनिषदो और गीता की बाते बौद्ध धर्म को मान्य हो गयी जिसका मन एक बार शुद्ध और निष्काम हो गया, उस स्थितप्रज्ञ पुरुष से फिर कभी पाप होना सभव नहीं होता। कर्म योग की उत्पत्ति वेदान्त शास्त्र द्वारा होती और इस संबंध मे सन्यासी चाहे कुछ भी कहे, परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि गणितशास्त्र के जैसे शुद्ध गणित और व्यावहारिक गणित दो भेद होते है उसी प्रकार **वेदान्त शास्त्र** के भी दो भाग होते हैं **शुद्ध वेदान्त** और **नैतिक अथवा व्यावहारिक वेदान्त**। काण्ट ने तो यहां तक कहा है कि मनुष्य के मन में परमेश्वर (परमात्मा) अमृत और (इच्छा) स्वातन्त्र्य के संबंध के गूढ़ विचार इस नीति प्रश्न का विचार करते ही उत्पन्न हुए है मै संसार से किस प्रकार का व्यवहार करूँ या संसार से मेरा क्या कर्तव्य है। गीता का प्रतिपाद्य विषय कर्म योग ही है, तो भी उसमें शुद्ध वेदान्त कैसे आ गया। काण्ट ने इस विषय पर 'शुद्ध बुद्धि की मीमांसा' और 'व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा' नामक दो अलग-अलग ग्रन्थ लिखे हैं। परन्तु हमारे औपनिषदिकतत्वज्ञान के अनुसार श्रीमद् भगवद्गीता मे ही इन दोनों विषयों का समावेश किया गया है। श्रद्धामूलक भक्तिमार्ग का भी विवेचन होने के कारण गीता सबसे अधिक ग्राह्य और प्रमाणभूत हो गयी है।

मानव की आध्यात्मिक पूर्णावस्था का नाम ही **'मोक्ष'** है। किसी भी नीति को ले, वह इस अंतिम साध्य से अलग नहीं है। इसीलिए कर्मयोग का वर्णन करते समय अन्त मे इसी

---

1 मानस प्राणिनामेव सर्वकर्मैककारणम्। मनोनुरुप वाक्य च वाक्येनप्रस्फुट मन·।। नारदपाञ्चरात्र (1.7.18)

तत्व की शरण में जाना ही पड़ता है। यहां सर्वात्मैक्यरूप अव्यक्त मूल तत्व का ही एक व्यक्त स्वरूप सर्वभूतहितेच्छा है और सगुण परमेश्वर तथा दृश्य सृष्टि दोनों उस आत्मा के ही व्यक्तरुप है जो सर्वभूतान्तर्गत, सर्वव्यापी और अव्यक्त है। इस व्यक्त स्वरुप के आगे गये बिना अर्थात् अव्यक्त आत्मा का ज्ञान प्राप्त किये बिना ज्ञान की पूर्ति नहीं होती। किन्तु संसार में सभी मानव का कर्तव्य है वह अपने शरीस्थ आत्मा को पूर्णावस्था में पहुँचा दे वह भी इस ज्ञान के बिना संभव नहीं है। हम चाहे किसी शास्त्र, धर्म और व्यवहार, नीति को ले आत्मज्ञान ही सभी की अंतिम गति है। जैसा कि कहा गया है- 'सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।' हमारा भक्तिमार्ग भी इसी तत्वज्ञान का अनुसरण करता है इसलिए उसमें भी यही सिद्धान्त स्थिर रहता है, कि ज्ञानदृष्टि से निष्पन्न होने वाला साम्यबुद्धिरुपी तत्व ही मोक्ष का मूल स्थान है। वेदान्त शास्त्र से सिद्ध होने वाले ज्ञान तत्व पर एक ही महत्वपूर्ण आक्षेप किया जा सकता है, वह यह है कि कुछ वेदान्ती ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर, सब कर्मों का सन्यास कर देना उचित मानते हैं। इसलिए यह दिखलाकर कि ज्ञान और कर्म में विरोध नहीं है, गीता में कर्मयोग के इस सिद्धान्त का विस्तार से वर्णन किया गया है कि वासना के क्षय हो जाने पर भी ज्ञानी पुरुष अपने सब कर्मों को परमेश्वरार्पणपूर्वक बुद्धि से लोकसंग्रह के लिए केवल कर्तव्य समझकर ही करता चला जाये। अर्जुन को युद्ध के लिए तैयार करने के लिए गीता में यह उपदेश दिया गया कि तू परमेश्वर को सब कर्म समर्पण करके युद्ध कर, इसका भाव यह है कि अर्जुन के समान ही किसान, सुनार, लोहार, बढ़ई, बनिया, ब्राह्मण, लेखक आदि सभी लोग अपने अधिकारानुरुप व्यवहार से कार्य करते हैं या जिसे जो काम मिला है वह निष्काम बुद्धि से करता रहे, तो उस कर्ता को पाप नहीं लगता, सभी कर्म एक ही से है दोष केवल कर्ता की बुद्धि में है। न कि उसके कर्मों में अतएव यदि बुद्धि को सम रखकर कर्म किये जाये तो परमेश्वर की उपासना हो जाती है और पाप नहीं लगता, अन्त में सिद्धि हो जाती है।

परन्तु जिन लोगों का यह दृढ़ संकल्प हो गया, चाहे कुछ भी हो जाये इस नाशवान दृश्य सृष्टि के आगे बढ़कर आत्म-अनात्म के विषय में विचार करना गहरे पानी में बैठना नहीं है, उसके लिए ब्रह्मात्मैक्यरुप परमसाध्य की उच्च श्रेणी को छोड़कर, मानव जाति के कल्याण जैसे निम्न कोटि के अधिभौतिक दृश्य (अनित्य) तत्व से शुरू करते है। यदि किसी

पेड़ की चोटी को तोड़ देने से वह एक नया पेड़ नहीं कहलाता, इसी प्रकार अधिभौतिक पण्डितों द्वारा निर्मित नीतिशास्त्र नया नहीं है। सांख्य शास्त्र के विद्वानों ने दृश्य जगत का धारण-पोषण और विनाश सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों के लक्षण द्वारा किया है। फिर प्रतिपादन किया है कि इनमें से सात्विक गुण का परम उत्कर्ष करना मनुष्य का कर्तव्य है, और मनुष्य को इसी से अन्त में त्रिगुणातीत अवस्था मिलकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। महाभारत तथा गीता में इन सभी आधिभौतिक तत्वों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

गीता में यह सिद्धान्त है कर्म ज्यायोह्यकर्मणाः[1] अर्थात् सांसारिक कर्मों का कभी सन्यास करने की अपेक्षा उन्हीं कर्मों को निष्काम बुद्धि से लोक कल्याण के लिए करते रहना अधिक श्रेयस्कर है। उसके साधक और बाधक का वर्णन पहले किया जा चुका है। परन्तु गीता में कहे गये इस कर्मयोग की परिश्रमीय कर्ममार्ग से, अथवा पूर्वी सन्यासमार्ग की पश्चिमी कर्मत्याग पक्ष से, तुलना करते समय उक्त सिद्धान्त का कुछ अधिक स्पष्टीकरण करना आवश्यक मालूम होता है। यह मत वैदिक धर्म में पहले उपनिषद्कारों तथा सांख्यवादियों द्वारा प्रचलित किया गया है कि दु:खमय तथा निस्सार संसार से बिना निवृत्त प्रधान अर्थात् कर्मकारणात्मक ही था। परन्तु यदि वैदिक धर्म को छोड़कर अन्य धर्मों का विचार किया जाये तो यह मालूम होगा, कि उनमें भी कई लोगों ने सन्यास मार्ग को अपनाया था। उदाहरणार्थ, जैन और बौद्ध धर्म पहले ही से निवृत्ति प्रधान है और ईसामसीह का भी वैसा ही उपदेश है। बुद्ध ने अपने शिष्यों को यही उपदेश दिया है, कि "संसार का त्याग करके यति धर्म से रहना चाहिए, स्त्रियों की ओर देखना नहीं चाहिए और उनमें बातचीत भी नहीं करनी चाहिए।"[2] ठीक इसी प्रकार इसाई धर्म का भी कथन है। ईसा ने यह कहा है कि सही कि "तू अपने पड़ोसी पर अपने ही समान प्यार कर"[3] और पाल का भी यही कथन है कि "तू जो कुछ खाता, पीता या करता है वह सब ईश्वर के लिए कर" यह दोनों ठीक उसी तरह के है जैसा कि गीता में आत्मोपम्य बुद्धि से ईश्वरार्पणपूर्वक कर्म करने को कहा गया है। गीता में आगे बताया गया है कि अमृतत्व प्राप्त करने के लिए सांसारिक कर्मों को

---

1. नियत कुरु कर्मत्व कर्म ज्यायो ह्यकर्मण । शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मण ।। गीता 3 , 8
2 महापरिनिर्वाण सुत्त (5 23)
3 मैत्युपनिषद 19-19

छोड़ने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि उन्हें निष्काम बुद्धि से करते रहना चाहिए, परन्तु ऐसा उपदेश किसी और धर्म के मानने वालों से नहीं मिलता है। इसके विरोध में यही कहा कि सांसारिक सम्पत्ति और परमेश्वर के बीच चिरस्थायी विरोध होता है। सारांशतः यह कह सकते हैं कि यहॉ पश्चिमी लोगों का यह कर्मत्याग-पक्ष और हम लोगो का सन्यास मार्ग कई अंशों में एक ही है ओर इन मार्गों का समर्थन करने की पूर्वी और पश्चिमी पद्धति भी एक ही सी है। परन्तु आधुनिक पश्चिमी पंडितों ने कर्मत्याग की अपेक्षा कर्मयोग की श्रेष्ठता के जो कारण बताये हैं वे गीता मे दिये गये प्रवृत्तिमार्ग से भिन्न है। पश्चिमी कर्मयोगियो ने ऐहिक सुख को महत्ता दी है। सब लोगों के सुख के लिए प्रयत्न करते हुए उसी सुख में स्वयं मग्न हो जाना ही प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। संसार में दुःख की अपेक्षा सुख अधिक है, परन्तु भगवद्‌गीता में जिन निष्ठाओं का वर्णन किया गया है वे इनसे भिन्न है। चाहे अपने लिए हो या परोपकार के लिए इस दृष्टि से जो मनुष्य काम करते है उनकी सात्विक वृत्ति अवश्य नष्ट हो जाती है। इसीलिए गीता का उपदेश है कि संसार चाहे दुःखमय हो या सुखमय, सांसारिक कर्म जब छूटते नहीं तब उनके सुखी या दुःखी होने का विचार करते रहना व्यर्थ है। चाहे दुःख हो या सुख, परन्तु मनुष्य का यही कर्तव्य है कि वह अपने कर्मों को निष्काम बुद्धि से करता रहे। श्रीमद् भगवद्‌गीता नामक ग्रन्थ के उपदेशों का तात्पर्य यही है कि समाज व्यवस्था चाहे कैसी भी हो, उसमें यथाधिकार कर्म जो तुम्हारे लिए है, उन्हे सदैव उत्साहपूर्वक करते रहना चाहिए। इस तरह से कर्तव्य मानकर गीता में वर्णित स्थित प्रज्ञ पुरुष जो कर्म किया करते हैं, वे स्वभाव से ही लोककल्याणकारक होते हैं। गीता द्वारा प्रतिपादित इस कर्मयोग मे और पाश्चात्य आधिभौतिक कर्ममार्ग में यह एक बड़ा भेद है, कि गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञों के मन में यह अभिमानबुद्धि रहती ही नहीं कि मैं लोककल्याण अपने कर्मों के द्वारा करता हूँ, बल्कि उनके देह स्वभाव ही में साम्यबुद्धि आ जाती है और इसी से वे लोग अपने समय की समाज व्यवस्था के अनुसार केवल कर्तव्य समझ कर जो-जो कर्म किया करते हैं, वे सब स्वभावतः लोक कल्याण कारक हुआ करते हैं और आधुनिक पाश्चात्य नीतिशास्त्र या कर्मयोगी संसार को सुखमय मानकर कहा करते हैं कि इस संसारसुख की प्राप्ति के लिए सब लोगों को लोककल्याण के लिए कार्य करना चाहिए।

अभी तक वर्णित विवरणों से यह पता चलता है कि गीता में जो एक प्रकार की सजीवता, तेज, सामर्थ्य है वह सन्यास धर्म के द्वारा भी नष्ट नहीं हो सका। यहॉ पर धर्म शब्द के दो भेद है-एक **'पारलौकिक'** और दूसरा **'व्यावहारिक' अथवा 'मोक्षधर्म'** और **'नीतिधर्म'** चाहे वैदिककालीन धर्म को लीजिए बौद्ध धर्म को अथवा ईसाईधर्म को लीजिए सभी का मुख्य हेतु यही है कि जगत् का धारण पोषण हो और मनुष्य को अन्त में संगति मिले, इसलिए प्रत्येक धर्म मे मोक्ष धर्म के साथ ही साथ व्यावहारिक धर्म-अधर्म का भी विवेचन थोड़ा बहुत किया गया है। यहीं नहीं बल्कि यहॉ तक कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में यह भेद ही नहीं किया जाता था कि मोक्ष और व्यावहारिक दो भिन्न-भिन्न धर्म है। क्योकि उस सब लोगो की यही धारणा थी कि परलोक में संगति मिलने के लिए इस लोक मे भी हमारा आचरण शुद्ध होना चाहिए। वे लोग गीता के कथनानुसार यही मानते थे कि पारलौकिक तथा सासारिक कल्याण की जड़ भी एक ही है। परन्तु आधिभौतिक ज्ञान का प्रसार होने पर आजकल पश्चिमी देशो मे यह धारणा स्थिर न रह सकी। इस बात का विचार होने लगा कि मोक्ष धर्म रहित नीति की अर्थात् जिन नियमों से जगत् का धारण पोषण हुआ करता है, उन नियमो की उत्पत्ति बतलायी जा सकती है या नहीं; और फलतः केवल आधिभौतिक अर्थात् दृश्य या व्यक्त आधार पर ही समाज धारणाशास्त्र की रचना होने लगी है। क्या कवेल व्यक्त से ही मनुष्य का निर्वाह हो सकता है? पेड़ मनुष्य इत्यादि जातिवाचक शब्दों से भी तो अव्यक्त अर्थ ही प्रगट होता है न। आम का पेड़ या गुलाब का पेड़ एक विशिष्ट दृश्य वस्तु है परन्तु पेड़ सामान्य शब्द किसी भी दृश्य (व्यक्त) वस्तु को नहीं दिखला सकता है। इसी तरह हमारा व्यवहार हो गया है। उक्त बातों से यही सिद्ध होता है कि मन में अव्यक्त संबंधी कल्पना की जागृति के लिए पहले कुछ न कुछ व्यक्त वस्तु ऑखों के सामने अवश्य होनी चाहिए। उसे भी निश्चय ही जानना चाहिए व्यक्त ही कुछ अंतिम अवस्था नहीं है और बिना अव्यक्त का आश्रय लिए न तो हम एक कदम आगे बढ़ सकते हैं। इस अवस्था में आध्यात्म दृष्टि से सर्वभूतार्त्मक्य रूप परब्रह्म की अव्यक्त कल्पना को कर्मयोग का आधार यदि न माने तो भी उसके स्थान में 'सर्व मानवजाति' को अर्थात् ऑखो से न दिखने वाली अतएव अव्यक्त वस्तु को ही अन्त में देवता के समान पूजनीय मानना पड़ता है। 'सर्वमानव जाति' में पूर्व की तथा भविष्यत् की पीढ़ियों का समावेश

कर देने से अमृतत्व विषयक मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति को सन्तुष्ट हो जाना चाहिए और अब तो प्रायः वे सभी सच्चे हृदय से यही उपदेश करने लग गये है कि इस (मानव जातिरुपी) बड़े देवता की प्रेमपूर्वक अनन्यभाव से उपासना करना, उसकी सेवा में अपनी समस्त आयु को बिता देना, तथा उसके लिए अपने सब स्वार्थों को तिलांजलि दे देना ही प्रत्येक मनुष्य का इस संसार में परम कर्तव्य है। यही कारण है कि फ्रेन्च पंडित काण्ट ने धर्म के सार में यह प्रतिपादित किया कि **'सकलमानव जाति धर्म'** या **'मानव धर्म'**। आधुनिक जर्मन पंडित नीत्शे का भी यही कथन है। इसने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है कि उन्नीसवीं सदी में परमेश्वर मर गया। इतना सब होने के बाद भी उसने अपने ग्रन्थों में कहा कि काम ऐसा करना चाहिए जो जन्म जन्मान्तरों तक किया जा सके। समाज व्यवस्था भी इस प्रकार होनी चाहिए कि भविष्य में ऐसे मनुष्य प्राणी पैदा हो जिनकी मनोवृत्तियॉ अव्यक्त विकसित होकर पूर्णावस्था में पहुॅच जायें इस प्रकार से इस संसार में मनुष्य मात्र का परम साध्य यही हैं।

गीता में स्पष्ट बताया गया है **''ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।''** हमारे उपनिषद्कारों का भी यही सिद्धान्त है कि जगत् का आधारभूत यह अव्यक्त तत्व नित्य है, एक है, अमृत है, स्वतन्त्र है, आत्मरुपी है-बस, इससे अधिक इसके विषय मे और कुछ नहीं कहा जा सकता। इस बात में यहां पर सन्देह है, कि उक्त सिद्धान्त से भी आगे मानवी ज्ञान की गति कभी बढ़ेगी या नही। क्योकि जगत का आधारभूत अव्यक्त तत्व इन्द्रियों से अगोचर अर्थात् निर्गुण है इसलिए उसका वर्णन, गुण, वस्तु या क्रिया दिखाने वाली किसी भी शब्द से नहीं कर सकते, इसीलिए इसे अज्ञेय कहते हैं। परन्तु अव्यक्त सृष्टि तत्व का जो ज्ञान हमें हुआ करता है, वह यद्यपि शब्दो से अधिक न भी बताया जा सके और देखने में भी अल्प सा ही लगे तथापि वह मानवी ज्ञान का सर्वस्व है। गीता मे किये गये विवेचन से साफ पता चलता है कि उचित रीति से बताने मे कोई अड़चन नहीं है। उदाहरणार्थः व्यापार कैसे करना चाहिए, लड़ाई कैसे जीतनी चाहिए, रोगी को कौन सी औषधि किस समय दी जायें, सूर्य चन्द्रादि की दूरी को कैसे जानना चाहिए। इसे भलीभाँति समझने के लिए हमेशा नामरुपात्मक दृश्य सृष्टि के ज्ञान की आवश्यकता होती है। परन्तु यह कुछ गीता का विषय नहीं है। गीता का मुख्य विषय तो यही है कि आध्यात्म दृष्टि से मनुष्य की परम श्रेष्ठ अवस्था को बतला

कर उसके आधार से यह निर्णय कर दिया जाये कि कर्म-अकर्म रुप नीति धर्म का मूल तत्व क्या है। यदि यह कहा जाये मोक्ष के लिए आधिभौतिक पन्थ उदासीन रहे। प्रवृत्ति की स्वतन्त्रता, नीति धर्म की नित्यता और अमृतत्व का निर्णय करने के लिए हमे आत्मा-अनात्मविचार मे प्रवेश करना पड़ता है। जगत के आधारभूत अमृतत्व की नित्य उपासना करने से और अपरोक्षानुभव से, मनुष्य के आत्मा को एक विशिष्ट शान्ति मिलने पर उसके शील स्वभाव में जो परिवर्तन हो जाता है वही सदाचार का मूल है। इसलिए यह बात हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए मानव जाति की पूर्णता का ज्ञान कर्म के द्वारा ही होता है। इस बात का वर्णन पहले भी किया गया है कि केवल विषय सुख तो पशुओं का उद्देश्य या साध्य है। उससे ज्ञानवान् मनुष्य की बुद्धि का कभी पूरा समाधान नहीं हो सकता। सुख-दुःख अनित्य है तथा धर्म ही नित्य है। इस दृष्टि से विचार करने से यह ज्ञात होता है तथा धर्म ही नित्य है। इस दृष्टि से विचार करने से यह ज्ञात होता है कि पारलौकिक धर्म तथा नीति धर्म दोनों का प्रतिपादन जगत के आधारभूत नित्य तथा अमृत तत्व के आधार से ही किया गया है। इसलिए गीता शास्त्र आधिभौतिक शास्त्र से कभी हार नहीं पा सकता जो मनुष्य के सब कर्मों का विचार सिर्फ इस दृष्टि से करता है कि मनुष्य केवल एक उच्च श्रेणी का जानवर है। यही कारण है कि हमारी गीता नित्य और अभय है और स्वयं भगवान ने ऐसा सुप्रबन्ध कर रखा है कि हिन्दुओ को इस विषय में किसी भी दूसरे धर्म, ग्रन्थ या मत की आवश्यकता नहीं।

गीता कैसा धर्म है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि सर्वतोपरि निर्भय और व्यापक है, वह सम है अर्थात् वर्ण, जाति, देश या किसी अन्य भेदों के झगड़े में नहीं पड़ता, वह सभी लोगों को एक समान समझता है, वह अन्य सभी धर्मों के विषय में यथोचित सहिष्णुता दिखलाता है। वह ज्ञान, भक्ति और कर्म युक्त है। वह सनातन वैदिक धर्मवृक्ष का अत्यन्त मधुर तथा अमृत फल है। वैदिक धर्म में पहले द्रव्यमय या पशुमय यज्ञों का अर्थात् केवल कर्मकाण्ड का ही अधिक महत्व था, परन्तु फिर उपनिषदों के ज्ञान से यह केवल कर्मकाण्ड प्रधान श्रौतधर्म गौण माना जाने लगा और उसी समय सांख्य शास्त्र का भी प्रादुर्भाव हुआ। यह ज्ञान सामान्य जनो को अगम्य था, और इसका झुकाव भी कर्म सन्यास की ओर ही विशेष रहा करता था, इसलिए केवल औपनिषदिक धर्म से अथवा दोनों ही स्मार्त

एकवाक्यता से भी सर्वसाधारण लोगो का पूरा समाधान होना सम्भव नहीं था। अतएव उपनिषदों के केवल बुद्धिगम्य ब्रह्मज्ञान के साथ प्रेमगम्य व्यक्त उपासना के राजगुह्य का संयोग करके, कर्मकाण्ड की प्राचीन परम्परानुसार अर्जुन को निमित्त करके गीता धर्म सब लोगों को युक्तकण्ठ से यही कहती है कि तुम अपनी योग्यता के अनुसार अपने-अपने सांसारिक कर्तव्यों का पालन लोकसंग्रह के लिए निष्काम बुद्धि से उत्साह से जीवन पर्यन्त करते रहो, और उसके द्वारा ऐसे नित्य परमात्म देवता का सदा भजन करो जो पिण्ड ब्रह्माण्ड मे तथा समस्त प्राणियों में एकत्व से व्याप्त है इसी में तुम्हारा सांसारिक तथा पारलौकिक कल्याण है। इससे कर्म, बुद्धि (ज्ञान) और प्रेम (भक्ति) के बीच का विरोध नष्ट हो जाता है, और सब आयु ही को यज्ञमय करने के लिए उपदेश देने वाले अकेले गीता मे सकल वैदिक धर्म का सारांश आ जाता है।

गीता में अध्यायों का संख्या 18 है। पहले 6 अध्यायो में 'कर्मयोग' का वर्णन है, अगले 6 अध्यायो मे 'भक्ति योग' का वर्णन है, अन्तिम छः में 'ज्ञानयोग' का वर्णन है। इस प्रकार गीता तीन घटकों (भाग) मे बंटी है। इसका यह अर्थ नहीं होता कि कर्मयोग में भक्ति या ज्ञान का समावेश नहीं, भक्ति योग में ज्ञान, कर्म का समावेश नहीं तथा ज्ञानयोग में कर्म या भक्ति का समावेश नहीं। गीता एक समन्वयात्मक ग्रन्थ है। मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्यों की मानसिक रचना में इच्छा, ज्ञान, क्रिया ये तीन गुण पाये जाते हैं। 'इच्छा' (Feeling) 'ज्ञान' (Knowledge), 'क्रिया' (Willing) कहते हैं। ये तीनो ही मनुष्य के मन की रचना के आधार है। जैसे 'ज्ञान' मे इच्छा और क्रिया रहते है वैसे ही 'इच्छा' में ज्ञान और क्रिया रहते हैं। वैसे ही कर्मयोग में ज्ञान और भक्ति दोनों रहते है। गीता का मार्ग समन्वय का मार्ग है। इसलिए गीता मे जगह-जगह कहा गया है कि सांख्य और योग की बाल बुद्धि के लोग ही पृथक-पृथक कहते है, तत्वतः सब मार्ग एक ही है। पहले छः अध्यायों में 'ज्ञानमार्ग' का वर्णन करके, गीता 7 से 12 अध्यायो में 'भक्तियोग' का वर्णन करती है। जैसा कि **आचार्य विनोबा** ने कहा है कि गीता का अंतिम लक्ष्य 'कर्म' को 'अकर्म' बना देना है, और उसका साधन 'विकर्म' है विनोबा के अनुसार विकर्म का अर्थ उल्टा कर्म नहीं, अपितु **विशेष कर्म है**, कर्म के भीतर की जान है। विकर्म के अनेक रूप है जिनसे 'कर्म' को प्रगतिशील प्राणवान् बनाया जा सकता है। इनमें से एक रुप भक्ति है।

श्रीमद् भगवद्गीता के अध्याय 6 के अंतिम श्लोक में[1] भगवान श्रीकृष्ण ने कहा जो श्रद्धापूर्वक मेरा भजन करता है। उसे मैं सबसे अधिक अपने साथ जुड़ा हुआ मानता हूँ इसी भूमिका में 'भक्तियोग' के सूत्र का प्रतिपादन कर सातवें अध्याय को निरुपित किया गया है।

अब तक प्रस्तुत गीता में दो विचार प्रबल रूप से दिखाई देते हैं। एक तो ब्रह्म का अव्यक्त, निर्गुण, निराकार, अजन्मा रुप है, दूसरा ब्रह्म का 10वें-11वें अध्याय मे व्यक्त, सगुण, साकार रूप है। इन दोनों परस्पर विरोधी विचारों को सुनकर अर्जुन के मन में यह शंका उत्पन्न हुई कि इन दोनों में परमात्मा को पाने का सही मार्ग कौन सा है? इसका उत्तर देते हुए कहा कि गीता समन्वयात्मक ग्रन्थ है, इसमें एक मार्ग को नहीं; अपितु सब मार्गों को सही बताया। पांचवें अध्याय मे 'कर्मसन्यास' और 'कर्मयोग' की बात करते हैं इन दोनों में कर्मयोग का विशिष्ट महत्व है। कर्मयोग, कर्मसन्यास की तरह अध्याय 12 में 'भक्तियोग और ज्ञानयोग' के विषय में प्रश्न उठाया गया है।

यहाँ पर सगुण और निर्गुण की उपासना पर प्रश्न उठाया गया है, सगुण उपासना आसान है या निर्गुण उपासना कठिन है। यद्यपि दोनो ही भगवान् के पास ले जाती है। सगुण उपासना के लिए तीन मुख्य बातें बतायी गयी हैं:-

1. मयि मनः आवेश्य - मुझ में मन प्रविष्टि कर
2. नित्ययुक्तः - सदा निष्ठापूर्वक लगाकर
3. परया श्रदृया उपेत. - परम् श्रद्धा के साथ लगकर।

ऐसे ही निर्गुण उपासना के लिए तीन बाते हैं-

1. सनियम्येन्द्रियग्रामम् - इन्द्रियों का संयम करके।
2. सर्वत्र समबुद्धयः - सर्वत्र समबुद्धि रखकर।
3. सर्वभूतहिते रवाः - सब प्राणियों के कल्याण मे आनंद का अनुभव करें।

---

1. योगिनामपि सर्वेषां मद्गर्तनान्तरात्मना। श्रद्धावान्भजते यो मा स मे युक्ततमो मत·।। 6/47
अध्याय-6 श्रीमद् भगवद्गीता, श्लोक 47

सगुण उपासना - भक्तियोग

यहां पर सगुण उपासना का अर्थ मूर्तिपूजा नहीं है। परमेश्वर का व्यक्त या सगुण रुप उसकी विभूतियाँ हैं। विभूतियों का वर्णन अध्याय 10 में और विश्वरुप का अध्याय 11 में किया गया है। संसार की उच्च कोटि की वस्तु 'विभूति' है। सूर्य, चन्द्र, तारे, पृथ्वी, समुद्र, हिमालय ये सभी विभूतियॉ है। भगवान के द्वारा व्यक्त, सगुण रूपों, विभूतियो, विश्वरूप की उपासना ही सगुण है।

सगुण भक्ति के संबंध में **श्रीसातक्लेकर लिखते हैं'** "सगुण भक्ति में प्राचीन काल की विभूतियों की भक्ति ही आती है। ऐसा विचार बहुत लोगों को मान्य है इस कारण इनकी मूर्तियाँ बनाकर बहुत बड़ा भक्तिमार्ग चलाया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि जो इस समय प्रत्यक्ष रुप में परमेश्वर अनेक रूपो द्वारा अपने सामने उपस्थित हुआ, उसकी भक्ति कोई नहीं करता है, परन्तु 5 हजार वर्ष पूर्व हुई उसी भगवान की विभूति के पीछे लोग पड़े हुए थे।

सगुण भक्ति का गीता में अर्थ है-"सम्पूर्ण विश्व रूप व्यक्त सगुण परमात्मा की उपासना है, अगर यह ठीक है तो अवनत और क्लेश युक्त स्थिति में रहने वाली जनता भी उस विश्व रुप में आती है। परमात्मा का सगुण रुप यह सब विश्व रूप ही है। इस विश्व में सब मानव जाति, सब पशुपक्षी, सब कीटपतंग, सब वनस्पति सम्मिलित है। इन सबकी सेवा मानवमात्र की, प्राणि मात्र की सेवा परमेश्वर की सगुण उपासना है।

निर्गुण उपासना - ज्ञान योग

सगुण उपासना का लक्ष्य निर्गुण उपासना की ओर जाना है। सगुण तो रूप है किस अरूप का निर्गुण का। यह व्यक्त सृष्टि अव्यक्त परमेश्वर का बाह्यरूप है। इस बाह्य के भीतर तो वह अव्यक्त बैठा है। उस निर्गुण की उपासना कठिन है, इसकी उपासना से भी भगवान की ही प्राप्ति होती है।

निर्गुण उपासना के लिए तीन बातें आवश्यक होती हैं-

(1) **संनियम्येन्द्रियग्रामम्-** निर्गुण उपासना का सीधा अर्थ है, सगुण संसार से चित्त हटा लेना। संसार में हम ज्ञानेन्द्रियों तथा मन द्वारा विहार करते हैं। जब तक हम

बाहर विचरत रहेंगे तब तक भीतर दृष्टि नहीं हो सकती, इसलिए निर्गुण उपासना की पहली शर्त है-दो पर संयम करना-इन्द्रियां तथा मन पर इन दोनों को अपने वश में रखना।

(2) **सर्वत्र समबुद्धयः-** निर्गुण उपासना की दूसरी शर्त है कि साधक को सर्वत्र सम बुद्धि से देखना चाहिए। निर्गुण ब्रह्म ही समभाव से सम्पूर्ण विश्व में रम रहा है। उसकी उपासना करनी हो तो समभाव को धारण करना आवश्यक होगा। संसार के विषय में विषय भाव है, नाना विषय है, इनमें पड़े रहने से समभाव नहीं उत्पन्न हो सकता। जब इन्द्रियों को तथा मन को विषयों में से हटा लिया, तब परमात्मा के दर्शन तो एकदम नहीं हो सकते, परमात्मा को पाने की दूसरी सीढ़ी पर कदम रख सकते है। तत्र सम बुद्धि की भावना का जन्म होता है। सम बुद्धि ब्रह्म बुद्धि के उत्पन्न होने के पूर्व की अवस्था है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु मे ब्रह्म ही है। इस संबंध में गीता मे श्रीकृष्ण ने कहा[1] मनुष्य के लिए समरसता की अवस्था संभव है। इसमें संदेह नहीं। हमारा बालक प्रातःकाल रोता, पाठशाला जाने के समय हठ करता, दूसरे बच्चों के साथ झगड़ता, किसी से मैत्री, दोष करता, हमारी दृष्टि सदा उस पर पिता भाव की बनी रहती, भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में हम एकरसता बनाये रखते हैं। यही समरसता की अवस्था ज्ञानयोगी संसार की हर वस्तु तथा हर व्यक्ति के साथ बनी रहती है।

(3) **सर्वभूतहिते रताः-** निर्गुण उपासना की तीसरी शर्त है, प्राणिमात्र के साथ आत्मौपम्यभाव (6-32), अपनी तरह से करना, दूसरों के स्वार्थ में अपना स्वार्थ देखना, अपने हित में, अपने कल्याण मे लगे रहना। जिसको भगवान ही भगवान सब जगह देखना है, पाना है, तब उसे सब जगह एक ही तत्व दिखलायी देगा, दूसरा तत्व नहीं दिखेगा पांचवे अध्याय में कर्मयोग, ज्ञानयोग की तुलना की गयी। 12वें अध्याय में भक्तियोग, ज्ञानयोग की। पहले ज्ञानयोग की अपेक्षा कर्मयोग को विशिष्ट माना। अब ज्ञानयोग की अपेक्षा भक्तियोग को विशिष्ट माना गया है।

यहां पर अब हमने सगुण-निगुण के विवेचन के साथ ही साथ **श्री तिलक** के भक्तियोग ज्ञानयोग कर्मयोग की तुलना पर तथा इस अध्याय संबंधी **श्री अरविन्द** के विचारों

---

1 'शुनि चैव श्वपाके च पडिता· समदर्शिन ' (5-18)
'इहैव तैजित· सर्गो येषा साम्येस्थितमर्न ', (5-19)
'साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते' 6-9

को संक्षेप में प्रकट किया है। सगुण निर्गुण के विषय पर विनोबा के विचार सगुण-निर्गुण के भेद को लेकर गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि सगुण की उपासना तथा निर्गुण की उपासना में कोई विशेष भेद नहीं है। इतना केवल भेद है कि सगुण की उपासना सरल है, सुलभ है और निर्गुण की उपासना कठिन दुर्लभ है, परन्तु दोनों का उद्देश्य परमेश्वर तक पहुँचना ही है। सगुणोपासना में भक्ति का मार्ग पकड़ा जाता है, निर्गुणोपासना में ज्ञान का मार्ग पकड़ा जाता है, जाते दोनों मार्ग एक ही जगह। अब प्रश्न उठता है कि भक्ति का मार्ग सरल है या ज्ञान का मार्ग कठिन है? मान लो किसी की मां मृत्यु शय्या पर पड़ी है और वह उससे मिलना चाहती है। दोनों के बीच में पन्द्रह मील का रास्ता है। इस रास्ते पर मोटर नहीं जा सकती, छूटी-फूटी पगडंडी है। ऐसे समय पर दो दृष्टियों से रास्ता काटा जा सकता है। ऐसे समय पर दो दृष्टियों से रास्ता काटा जा सकता है। एक दृष्टि तो यह है कि हम रास्ते पर भागते भी जायें और रास्ते को कोसते भी जाये। 'कैसा मनहूस रास्ता है, हर जगह काँटे और झाड़ियॉ है।' दूसरी दृष्टि से कि हम रास्ते पर भागते जाये और भगवान को धन्यवाद करते जाये। इनमें से पहला मार्ग ज्ञान का है और दूसरा भक्ति का। भक्ति का मार्ग सगुण-उपासना का है, ज्ञान का मार्ग निर्गुण उपासना का है, भक्ति के मार्ग पर नहीं, ज्ञान के मार्ग में थकावट है। जाते दोनों रास्ते एक ही जगह है।

श्री विनोबा का कहना है कि सरलता के अलावा इन दोनों में एक और भेद है। सगुण उपासना प्रेममय है। भावनामय है, उसमे आर्द्रता है, निर्गुण उपासना ज्ञानमय है, उसमें शुष्कता है। सगुण उपासना में मैं अपने पर अवलंब न रखकर अपने से किसी महान् सत्ता पर अवलम्ब रखता हूँ, निर्गुण उपासना में मुझे अपने पर अवलंबित रहना होता है। अपने पर अवलंबित होने पर खतरा है, अपने से महान पर अवलंबित रहने में खतरा नहीं है, क्योंकि मैं स्वयं को न संभाल सकूँ तो वह तो मुझे संभाल ही लेगा। ज्ञान से मन का स्थूल मैल जलकर भस्म हो सकता है, परन्तु मन का सूक्ष्म मैल हटाने में वह सक्षम नहीं, भक्ति का आश्रय लिये बिना मन के सूक्ष्म मैल नहीं मिटते। सगुण का अंत निर्गुण में होना चाहिए पहले तो हम सगुण उपासना ही करते थे, परन्तु सगुण का उद्‌देश्य निर्गुण तक पहुँचा देना है। उदाहरण, हम भिन्न-भिन्न कामों के लिए किसी व्यक्ति को आधार बना लेते हैं। किसी महात्मा के पास इकट्ठे होते हैं। लोकमान्य तिलक थे, गांधी जी थे, जिनके पास लाखों लोग

थे। इस प्रकार हम अपने ऑखो के सामने सगुण सत्ता को रखकर चलते है। परन्तु यह देह तो जाने वाला है। सारे रुप, मूर्तियाँ नष्ट होकर मिट्‌टी में मिल जाते हैं। इसलिए बौद्ध धर्म में तीन प्रकार की शरणागति बतायी है। बुद्ध शरणं गच्छामि, सधं शरणं गच्छामि, धर्म शरणं गच्छामि। यह सगुण से निर्गुण के प्रति जाना है। जब तक सगुण पूजा निर्गुण की सीमा में रहती है तब तक यह निर्दोष रहती है। इस मर्यादा के छूटते ही सगुण पूजा सदोष हो जाती है। निर्गुण रुपी मर्यादा के अभाव में सारे धर्मों के सगुण अवनति को प्राप्त हो जाती है। किसी समय यज्ञ यगादि में पशुहत्या होने लगी थी। आज भी शाक्त दैवी की बलि चढ़ायी जाती है। यह सब इसलिए होता है, क्योंकि सगुण ने निर्गुण का दामन छोड़ दिया। इसे विनोबा ने मूर्ति पूजा का अत्याचार कहा है। सगुण पूजा निर्गुण पूजा में परिणत नहीं होती तो सगुण पूजा निरर्थक है।

ज्ञानयोग-भक्तियोग कर्मयोग पर तिलक के विचार

गीता के जितने भी टीकाकार हुए है उन्होंने अपने-अपने दृष्टिकोण से गीता का अर्थ किया है। अधिक संख्या में टीकाकारों ने गीता का सन्यासपरक अर्थ किया है। शंकराचार्य का तो भाष्य प्रसिद्ध है। वर्तमान टीकाकारों से तिलक का मुख्य स्थान है। उन्होंने गीता को कर्मयोग परक माना है। अध्याय 12 के 12वें श्लोक में[1] श्री तिलक ने भक्तियोग प्रकरण पर विशेष बल देते हुए कहा कि अभ्यास योग से ज्ञानयोग, ज्ञानयोग से ध्यानयोग, और ध्यानयोग से कर्मफल त्याग देने वाला कर्मयोग श्रेष्ठतर है। पाँचवें अध्याय का दूसरा श्लोक[2] में कहा कि ज्ञानयोग और कर्मयोग इन दोनों की तुलना में कर्मयोग ही विशिष्ट है। **श्री तिलक गीता में जहाँ -जहाँ योग शब्द आया है वहाँ -वहाँ प्रधानतया उसका अर्थ 'कर्मयोग' ही करते हैं।** इसमें सन्देह नहीं कि गीता जिस भूमिका में कही गयी, उसमें उसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय कर्मयोग ही संगत प्रतीत होता है। आजकल की आवश्यकता को देखकर भी गीता का कर्मयोग परक अर्थ ही उपयोगी प्रतीत होता है। गीता में कर्मयोग को प्रथम स्थान दिया गया

1. 'श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात् ज्ञानाद् ध्यान विशिष्यते। ध्यानात्कर्मफलत्याग' त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।।'
श्रीमद्‌भगवद्‌गीता, अध्याय-12, श्लोक 12
2. सन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुमौ। तयोरु कर्मसन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता, अध्याय-5, श्लोक 2

है-इससे भी गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय कर्मयोग ही सिद्ध है। परन्तु यह सब होते हुए भी यह तो मानना पड़ेगा कि गीता में कर्मयोग के अलावा भक्तियोग तथा ज्ञानयोग का भी प्रतिपादन है। गीता के पढ़ने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसमें इन तीनों का समन्वय किया गया है। अधिकारी भेद से जो जिसके योग्य हो, उसके लिए उसी योग को श्रेष्ठ कहा गया है। इन योगों में सर्व साधारण की दृष्टि से तारतम्य तो हो सकता है, परन्तु सब का लक्ष्य एक ही माना गया है। सब से अधिक लोगों के लिए कर्मयोग सरल है, उससे कम लोगो के लिए भक्तियोग सरल है, और सबसे कम लोगो के लिए ज्ञानयोग सरल है ऐसा गीता का अभिप्राय है।

ज्ञानयोग-भक्तियोग-कर्मयोग पर श्री अरविन्द के विचार

अध्याय 12 में श्रीकृष्ण से सुने अब तक के उपदेश मे एक शंका उठ खड़ी हुई, उस शंका का श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया। श्री अरविन्द का कहना है कि इस अध्यायके मर्म को जानने के लिए यह जानना आवश्यक है कि वह शंका क्या है, और इस शंका का उत्तर क्या है?

व्यक्त तथा अव्यक्त की उपासना में से किस की उपासना श्रेष्ठ है?

गीता में पिछले अध्यायों में दो परस्पर विरोधी बातें कही गयी है। एक बात तो यह कही गयी है कि भगवान अव्यक्त है, अनादि है, अनिर्वचनीय है, अरुप है, अनिर्देश्य है। दूसरी बात 10वें और 11वें अध्याय में यह कहीं गयी कि यह जो दिखता है, 'विभूति रुप' तथा विश्व रूप' जगत यही भगवान है, कृष्ण, पुरुषोत्तम स्वयं भगवान है। अनिर्वचनीय परमेश्वर और श्रीकृष्ण पुरूषोत्तम इन दोनों में गीता में भेद किया गया है। 'आत्मनि, अथो मयि' इसका अर्थ है कि आत्मा में और मुझमे। 'आत्मनि' का अर्थ है अव्यक्त, अनादि, अनिर्वचनीय, अरुप परमेश्वर, मयि का अर्थ है व्यक्त सामने दिखने वाला, विश्वरुप पुरुषोत्तम कृष्ण। गीता ने इन दोनों रूपों में स्वयं भेद दिखाया गया है। अर्जुन को परमेश्वर के अव्यक्त स्वरूप बतलाया गया था, फिर परमेश्वर के व्यक्त रूप का दर्शन करा दिया गया,

परन्तु यह बात तो उसके मस्तिष्क में गड़ चुकी थी कि यह व्यक्त रुप भी उसके अव्यक्त रुप की ही झलक है, उसका वास्तविक स्वरुप, अव्यक्त है, क्योंकि वह वास्तविक हैं इसलिए वही महान है, श्रेष्ठ है, यह व्यक्त रुप उस अव्यक्त की तुलना में हीन है, उससे श्रेष्ठ नहीं हो सकता। अर्जुन पूछता है कि यह व्यक्त, सगुण रुप जो उस अव्यक्त, निर्गुण का ही प्रतिबिम्ब है, अव्यक्त की निर्गुण की अपेक्षा श्रेष्ठतर क्यों हो सकता है? श्रेष्ठतर तो वह है जो सत् है और यथार्थ सत् जैसा हे कृष्ण! तुम बार-बार कह चुके हो, परमेश्वर का अव्यक्त निर्गुण रुप है।

वेदान्त और गीता के दृष्टिकोण में भेद

इस सम्बंध में श्री अरविन्द का कहना है कि अव्यक्त, निर्गुण रुप ब्रह्म वेदान्त का दृष्टिकोण है। गीता का दृष्टिकोण वेदान्त के दृष्टिकोण से भिन्न है। वेदान्त के अनुसार आत्मा परमात्मा में जाकर मिट जाती है। गीता के अनुसार आत्मा परमात्मा में एकीभूत हो जाता है। इन दोनों ही दृष्टिकोणों में भेद है।

गीता कहती है- 'माम् एति' आत्मा मेरे पास आती है। 'ज्ञातुम द्रष्टुम तत्वेन प्रवेष्टुम' आत्मा पहले उस ब्रह्मतत्व को जानती है, जानने के बाद उसे आमने-सामने देखने लगती है। जब उसे आमने-सामने ठीक से देख लेती है, तब वह उस तत्व ब्रह्म मे प्रविष्ट हो जाती है। गीता में कई जगह विशति का प्रयोग हुआ है। आत्मा का परमात्मा में प्रविष्ट हो जाना तथा उसका मिट जाना दो अलग-अलग बाते हैं। योगदर्शन की दृष्टि से मुक्ति के सामुज्य, सालोक्य, सामीप्य तथा सादृश्य ये चार रुप कहे गये हैं। 'सामुज्य' में तो आत्मा परमात्मा में खप जाती है-यह वेदान्त की मुक्ति है। 'सालोक्य' का अर्थ है उसी लोक में निवास करना। गीता में कहा गया है-निवसिष्यसि मयि एव'। मुझमें ही निवास करेगा। इस दृष्टि से गीता की मुक्ति का रुप 'सायुज्य' न होकर 'सालोम्य मुक्ति' का है।

श्री अरविन्द का कहना है कि क्योंकि गीता के अनुसार आत्मा ऊर्ध्वमुखी विकास में परमात्मा में प्रविष्ट हो जाता है उसी में निवास करने लगता है, इसलिए परमात्मा के कार्य ही आत्मा के कार्य है। इसलिए आत्मा परमात्मा का साधन उसका निमित्त बन जाता है। इसी को गीता में 'मितित्तमात्र भव सव्यसाचिन्'। कहा गया है। जब आत्मा परमात्मा में प्रविष्ट हो गया

तो उसने अपना अहंकार त्याग दिया। परब्रह्म की ज्योति से वह जगमगाने लगा। तब आत्मा के कर्म का संचालन वही भगवान् करने लगता है। इसके विपरीत वेदान्त के दृष्टिकोण से जो परमात्मा पर अवलंब न लेकर अपने ज्ञान का अवलंब लेता है, लक्ष्य तो वही अव्यक्त, अनिर्देश्य, अरुप, निर्गुणब्रह्म ही रहता है, परन्तु उसे यह सब स्थितियां स्वयं ही पार करनी पड़ती उसका इस मार्ग पर सहायक कोई नहीं होता। इसलिए गीता के मार्ग से वेदान्त का मार्ग कठिन है।

तीनों मार्गों का समन्वय

श्री अरविन्द का योग **'समन्वय योग'** (Integral Yoga) कहलाता है। श्री अरविन्द का कहना है कि ज्ञानयोग, भक्तियोग, तथा कर्मयोग के भक्तगण एक दूसरे से व्यर्थ ही लड़ा करते है। ज्ञानयोग की ध्वजा फहराने वाले वेदान्ती भक्तियोगियों को हीन दृष्टि से देखते हैं। वे कहते हैं कि भक्तिमार्गी बुद्धिहीन होते हैं, अन्धों की तरह परमेश्वर को पाने का मार्ग खोजते हैं और उसी पर निरन्तर दौड़ते रहते हैं। इसका परिणाम यह है कि परमात्मा का नाम लेने वाले अन्धे भक्तों ने साम्प्रदायिकता के अन्धेपन तथा धर्म के नाम पर संसार में अन्य मतावलंबियों पर अत्याचार किये हैं। बुद्धि का सहारा न लेकर भक्ति के मार्ग पर चलने वाले ये धर्मध्वजी सिर्फ परमात्मा के नाम की रट लगाते रहते हैं ये सत्य को पा नहीं सकते। ज्ञानमार्गियो द्वारा भक्तिमार्ग पर लगे आक्षेप कुछ ही अंशों तक ठीक है। परन्तु श्री अरविन्द का कहना है कि जिन भक्तिमार्गियों पर ज्ञानमार्गी नहीं है। वे केवल भक्तिमार्ग की गलियों में चक्कर लगा रहे है। भक्तिमार्ग के राजपथ पर नहीं पहुँचे। भक्तिमार्गी ज्ञानमार्गियों को हीन दृष्टि से देखते हैं। वे कहते हैं कि ज्ञानमार्गी शुष्क तर्क और वितंडावाद में उलझा रहता है और जहाँ सत्य सामने खड़ा दिखता है वहां भी संदेह में फंसा रहता है। भक्तिमार्गियों का कहना है कि भक्ति का अर्थ 'अन्ध भक्ति' नहीं है।

गीता ने भक्त के तीन भेद बताये हैं **आर्त, अर्थार्थी** तथा **जिज्ञासु**। जो किसी दुःख से पीड़ित होकर भगवान की शरण में आ जाता है वह 'आर्त', जो किसी अर्थ से प्रयोजन से भगवान का ध्यान करता है, वह 'अर्थार्थी', जो भगवान् के प्रेम में लीन रहते हुए उसे

जानना भी चाहता है वह 'जिज्ञासु'। 'जिज्ञासु भक्त' वह है जिसमें भक्ति मार्ग के साथ ज्ञानमार्ग भी मिल गया है।

यहां हम कह सकते है कि अरविन्द के योग में कर्म, ज्ञान, भक्ति का समन्वय है इसका विरोध नहीं है। उनका योग समन्वय का योग है। उनका कहना है कि गीता में भी इन तीनों मार्गों का मेल बैठाया गया है, इन तीनों में विरोध को नहीं माना गया। वह किस प्रकार से है?

मनोवैज्ञानिकों ने मनुष्यों में तीन मानसिक शक्तियां मानी है- 'कृति' (Will), ज्ञान (Knowledge) तथा इच्छा (Feeling) ये तीनों मनुष्य में अलग-अलग न रहकर साथ ही रहती है। हमें रास्ते में चलते हुए काँटा लग गया। कांटे से पीड़ा हो रही है-यह इच्छा शक्ति है, काँटा लगा। यह ज्ञान ज्ञानशक्ति है। कॉटे को मैं निकालूँ यह कृतिशक्ति है। ये तीनों एक साथ काम करेगी, तभी कॉटा निकलेगा। किसी एक बात को लिये बैठे रहेंगे, तो काँटा नहीं निकल पायेगा। कृति शक्ति से कर्मयोग, ज्ञानशक्ति से ज्ञानयोग तथा इच्छा शक्ति से 'भक्तियोग का विकास हुआ है। जब मन की ये तीनों शक्तियां एक साथ मिलकर ही चलती हैं; अलग-अलग नहीं चलती, तब परमेश्वर को पाने के इन तीनों मार्गों को एक साथ मिलकर चलना होगा, अलग-अलग नहीं।

गीता ने कहा- 'सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' सारा कर्म जाकर ज्ञान में समाप्त हो गया। कर्म ज्ञान के बिना पंगु है। कर्म ही कर्म करते जाये, बिना जाने सब कुछ किये जाये यह कैसे हो सकता है? कर्मयोग को ज्ञानयोग से अलग नहीं किया जा सकता। श्री अरविन्द का कहना है कि 'कर्म', और 'ज्ञान' को हम अपनी 'इच्छा' से चलाये तथा भगवान् की इच्छा मे लीन कर दें। गीता में इस प्रश्न को उठाकर इसका उत्तर दिया है। हमारा कर्म हमारा ज्ञान कितना छोटा, कितना संकुचित है। मशीन का छोटा सा पुर्जा मेरे छोटे से हाथ से घूमेगा तो कितना घूम लेगा। वहीं पूर्जा जब बड़ी मशीन के पट्टे के साथ जुड़ जाता है, तब एक सेकेण्ड में उतने चक्कर काट जाता है, जितना मेरे हाथ से घुमाने पर दो घण्टे में भी नहीं काट सकता। अपने कर्म और ज्ञान को अपने छोटे से हाथ से चलाऊँ इसकी जगह जब मैं इस पुर्जे को भगवान् के पट्टे के साथ जोड़ देता हूँ, तब मैं भक्तिमार्ग के मार्ग पर चल

पड़ता हूँ। तब कर्म, ज्ञान, भक्ति तीनों का समन्वय हो जाता है। गीता का कहना है कि 'कर्म' और 'ज्ञान' को अलग नहीं कया जा सकता। कर्म के बिना ज्ञान अधूरा और ज्ञान के बिना कर्म अधूरा, परन्तु कर्म और ज्ञान अपने आधार पर टिक नहीं सकते। कर्म और ज्ञान को भगवान् के सम्मुख करना होगा, अपने को इस भवचक्र से परे हटाना होगा, इस चक्र को चलाने वाले भगवान् के 'कर्म' और 'ज्ञान' के साथ अपने को एक कर देना होगा। इसी का नाम 'भक्ति'[1] है, इसी को गीता में 'सर्वभावेन' सब तरह से कर्म, ज्ञान, भक्ति से अपने को परमात्मा के अर्पण कर देना कहा गया है।

'रामानुज का भक्ति योग'

रामानुजाचार्य विशिष्ट द्वैतवादी थे। शंकराचार्य अद्वैतवादी थे। यहां प्रश्न उठता है कि विशिष्टद्वैत का क्या अर्थ है? इनका कहना है कि शंकराचार्य का अद्वैतवाद असत्य है। ईश्वर, जीव, जगत ये तीनों एक तत्व नहीं अलग तत्व है। कैसे तत्व है? जीव (चित्) और जगत् (अचित्) दोनों एक ही ईश्वर के सूक्ष्म तत्व है। चित् + अचित् विशिष्ट ईश्वर तो एक ही है, इसी से जगत् की उत्पत्ति हुई है। इस सिद्धान्त में जीव तथा जगत् को ईश्वर का ही शरीर माना जाता है, इसलिए इस सिद्धान्त को भी 'अद्वैत' ही कहते हैं, परन्तु इस सिद्धान्त में ईश्वर के शरीर को जीव और जगत् से विशिष्ट अर्थात् सहित माना गया है, इसलिए 'विशिष्टद्वैत' कहते हैं।

ईश्वर, जीव तथा जगत् के विषय में रामानुज का मत है कि ये तीनों एक होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न है, भिन्न होते हुए भी एक दूसरे से इस प्रकार बँधे हुए हैं कि विशिष्ट है एक दूसरे से। जैसे आत्मा और शरीर की अलग-अलग अनुभूति होते हुए भी इनकी एक ही अनुभूति है। रामानुजाचार्य कहते हैं कि जीव ईश्वर से विशिष्ट होते हुए भी ईश्वर से पृथक होते हैं, जीव अवास्तविक नहीं है, मुक्ति की दशा में वह लुप्त नहीं होता। तो ईश्वर और जीव का क्या संबंध है? जैसे जीव शरीर को संभालता है, वैसे ईश्वर जीव को संभालता है, जीव के भीतर ईश्वर का निवास है, परमात्मा आत्मा के अन्दर रहता है

---

1. "श्रीमद् भगवद्गीता" (शकर, मध्व, तिलक, अरविन्द, विनोबा, सातवलेकर आदि के मन्तव्य सहित) -सत्यव्रत सिद्धान्तालकार।

और भीतर से ही उसका नियमन करता है। यहाँ पर ईश्वर की जब कृपा होती है तभी जीव का उद्धार होता है। इस दृष्टि से रामानुजाचार्य का कहना है कि गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय भक्ति है, कर्म नहीं। ईश्वर की जीव पर कृपा जीव के भक्ति भाव से ही हो सकती है, कर्म तो उसमें सहायक मात्र है। इस प्रकार शंकराचार्य के अद्वैत के स्थान पर स्थापित करके रामानुजाचार्य ने भक्तिमार्ग का प्रतिपादन किया। गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'भक्तियोग' को ही घोषित किया।

रामानुजाचार्य के बाद श्रीमाध्वाचार्य आये। उन्होने 'गीताभाष्य' तथा 'गीता तात्पर्य' दो ग्रन्थ लिखे। विशिष्ट द्वैत के विषय में उन्होंने कहा था ईश्वर और जीव को कुछ अंशों में एक और कुछ अंशों में परस्पर भिन्न मानना विरूद्ध है। इसलिए दोनों को परस्पर भिन्न मानना ही उचित है। उन्होंने एक तीसरे सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसे द्वैत सम्प्रदाय कहा। जहां द्वैत है वहां भक्ति है, क्योंकि दो मे ही उपासना का स्थान है। इसलिए माध्वाचार्य ने गीता का मुख्य विषय भक्ति योग को ही माना। उनका कहना है कि गीता में 'कर्म' का प्रतिपादन तो अवश्य है, परन्तु वह केवल भक्ति का साधन है, स्वयं साध्य नहीं।

आधुनिक संस्कृति एवं सभ्यता में गीता ग्रथित विचारों की उपादेयता

यहां पर यह प्रश्न बड़ा ही निरर्थक है कि आधुनिक युग में श्रीमद् भगवद्गीता की क्या उपयोगिता है? श्रीमद् भगवद्गीता का उपदेश आज से हजारों वर्ष पहले दिया गया था, जिसका संबंध एक व्यक्ति विशेष के साथ था तथा जिसकी प्रवृत्ति किसी एक विशिष्ट समस्या के समाधान के लिए हुई थी। श्रीमद् भगवद्गीता तो हिन्दू धर्म का एक ग्रन्थ है, इसमें ईश्वर, जीव, तथा जगत् विषयक प्रश्नों की चर्चा की गयी है जिनका मनुष्य की समस्याओं के साथ शायद ही कोई संबंध हो सकता है। इस प्रकार से लगता है विषय और काल की दृष्टियों से गीता शास्त्र की कोई उपयोगिता नहीं है। निष्काम कर्मयोग का विचार भी अव्यावहारिक ही प्रतीत होता है। आज के युग मे जहाँ ऐसे विचारों का आदर किया जाता है, जो शान्ति को प्रोत्साहित करते हो, जिनका संसार में शान्ति स्थापना में योगदान हो, वहाँ युद्ध जैसे क्रूर कर्म में प्रवृत्त होने का उपदेश देने वाली श्रीमद् भगवद्गीता की क्या उपयोगिता हो सकती है? इस प्रकार विचार करने पर यही धारणा प्रबल होती है कि आज के युग में श्रीमद्भगवद्गीता की शायद ही कोई उपयोगिता न हो?

परन्तु श्रीमद् भगवद्गीता के सिद्धान्तों पर यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें, तो ये धारणायें निर्मूल सिद्ध हो जाती है। इन धारणाओं का आधार इस सामान्य मत में है कि धर्म का मनुष्य के इहलौकिक जीवन से कोई संबंध नहीं है। साथ ही हमारे सामाजिक, राजनैतिक, या आर्थिक जीवन की जो समस्याएं हैं, उनका समाधान भी इसके द्वारा संभव नहीं है। परन्तु धर्म की जो मान्यता हमारे देश में है तथा जिसकी परिभाषा महर्षि कणाद ने की है, उसके अनुसार लोक और परलोक दोनों ही की सिद्धि धर्म का प्रयोजन है।[1] पुनः यदि हम मनुष्य के इतिहास पर विचार करें तो दुःख का परिहार एवं सुख की प्राप्ति ही सदा से ही मनुष्य का प्रयत्न रहा है।

भारत की संस्कृति धर्म पर आधारित है। समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था धर्म पर ही अवलंबित है। इस प्रकार भारतीय विचारधारानुसार आध्यात्मिकता अथवा पारलौकिकता तथा सांसारिकता को एक दूसरे से विभाजित नहीं किया जा सकता। इससे जो दृष्टि प्राप्त होती है वह संसार के कल्याण के लिए ही है। श्रीमद् भगवद्गीता के कर्मयोग का भी यही लक्ष्य है लोक संग्रह या लोक कल्याण इसलिए यह कथन निराधार है कि सांसारिकता के साथ श्रीमद् भगवद्गीता का कोई संबंध नहीं है।

अगर आज देखा जाये तो समस्त मानव संसार तृतीय महायुद्ध की विभाषिका से सतत् संत्रस्त हो रहा है। मातृभाव की कमी के कारण एक को आज दूसरे पर विश्वास नहीं है। कब युद्ध छिड़ जाये पता नहीं। इसके बचाव के लिए आज के मानव ने ऐसे-ऐसे विध्वंसक अस्त्र शस्त्रों का निर्माण किया है, जिनसे क्षणमात्र में ही सम्पूर्ण मानव जाति के साथ ही साथ मानव सभ्यता का भी विध्वंस है। द्वितीय महायुद्ध के बमबारी से हुई क्षति की पूर्ति आज तक नहीं हो सकी। विज्ञानविदों के मत में मात्र आठ हाइड्रोजन बम से संसार का विनाश हो जाना सम्भव है। आज सारी मानव सभ्यता की रक्षा या विध्वंस संसार के दो शक्तिशाली राष्ट्रों पर आश्रित है। संभव है, किसी के पागलपन से यदि कहीं भी बटन दब जाये तो सारा संसार विध्वस्त हो सकता है, क्योंकि आज का युद्ध आज से सैकड़ों हजारों वर्ष पूर्व के युद्ध से सर्वथा भिन्न है। आज मानव सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा कैसे हो यह एक अति महत्वपूर्ण प्रश्न हमारे समक्ष है। श्रीमद् भगवद्गीता में अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त

1, यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः-वैशेशिक सूत्र - 1/1/2

होने का उपदेश दिया तो था परन्तु गीता क्या युद्ध का उपदेश देती है? इन उपदेशों पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि अर्जुन द्वारा युद्ध के लिए तैयार होने मात्र का यह अर्थ नहीं है कि गीता का उपदेश युद्ध करने का उपदेश देती है। श्रीमद् भगवद्गीता का तो अमर उपदेश शान्ति का है, क्योंकि युद्ध जैसे क्रूर कर्म को भी मोक्ष या शान्ति की प्राप्ति में सहायक बताया गया है। श्रीमद् भगवद्गीता के सिद्धान्त के अनुसार, अब प्रश्न युद्ध एवं शान्ति का नहीं है, बल्कि प्रश्न मनुष्य का है, क्योंकि युद्ध और शान्ति के मूल में मनुष्य ही है। यह समस्या उतनी सरल समस्या नहीं है जिसके किसी एक विशिष्ट या एकपक्षीय नैतिक नियम के आधार पर समाधान किया जा सके। आज पाश्चात्य देशों के प्रभाव से जहां धर्म को जीवन से पृथक रखा गया है।

श्रीमद् भगवद्गीता के सिद्धान्त के अनुसार किसी भी धर्म के बाह्य स्वरूप से उसका नैतिक मूल्यांकन नहीं किया जा सकता कोई कर्म कर्तव्य है या अकर्तव्य वह उन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर ही यह निर्णय किया जा सकता है, जिसमें मनुष्य को कोई विशेष कर्म करने के लिए विवश होना पड़ता है। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को प्रेरित किया है, कि उसके औचित्य-अनौचित्य का निर्णय तो उस पृष्ठभूमि के आलोक में ही किया जा सकता है, जिसका महाभारत में वर्णन किया गया है, जिसके कारण यह युद्ध अनिवार्य हो गया था। हमारे शास्त्रकारों ने भी आततायियों की बिना सोचे-विचारे हत्या कर देने का परामर्श दिया है। अतः यहॉ पर प्रश्न है कि कर्ता की बुद्धि। श्रीमद् भगवद्गीता के आधार पक्ष का मूलतत्व शुद्ध बुद्धि है। शुद्ध बुद्धि ही कर्मों की नैतिकता का निर्णायक मानदण्ड है। यों तो निष्काम कर्मयोग अव्यावहारिक सा लगता है, क्योंकि अपने कर्मों में लाभ-हानि के प्रति उदासीन रहना आसान नहीं है। शुद्ध बुद्धि से ही निष्काम कर्म योग संभव है।

श्रीमद् भगवद्गीता कर्मों को अपने आप में शुभ या अशुभ नहीं मानती। अगर देखा जायें तो बहुत से कर्म ऐसे हैं जैसे दया, दान, क्षमा, उपकार, अहिंसा, अस्तेय आदि जिन्हें शुभ माना जाता है तथा इसके विपरीत सभी कर्मों को अशुभ माना जाता है। प्रसिद्ध जर्मन नीतिशास्त्री इमैनुएल काण्ट कर्मों को अपने आपमें शुभ या अशुभ मानते हैं तथा निरपेक्ष आदेश पर बल देते हैं। परन्तु श्रीमद् भगवद्गीता की नीति मीमांसा की यह विशेषता है कि कर्ता की बुद्धि को विशेष महत्व देता है, क्योकि जहां मानव सर्वोपरि है तथा मानव आचार

का आदर्श अपरिवर्तनीय है, इन आदर्शों के दुरूपयोग की सम्भावना के निवारण के लिए आत्मा-संयम, इन्द्रिय निग्रह आदि को शुद्ध बुद्धि के निमित्त अनिवार्य माना गया है तथा नैतिक आदर्श की इस परम पराकाष्ठा को ही जीवन का सर्वोत्कृष्ट आदर्श माना गया है। यहा पर महत्वपूर्ण प्रश्न है कर्ता की बुद्धि शुद्ध है या नहीं? इस प्रकार शुद्ध बुद्धि वाले व्यक्ति को जिसमें आत्मसंयम, इन्द्रिय निग्रह, निःस्वार्थ भाव आदि का समावेश हो, उसे हम आत्मवान् युक्त पुरुष भी कह सकते है, क्योकि उसे कर्तव्य का ज्ञान रहता है। कानून में साधारणतः बुद्धि की शुद्धता को ही किसी कर्म के नैतिक या बौद्धिक मूल्यांकन के लिए महत्व दिया जाता है। आज के युग का मूल प्रश्न मनुष्य ही है। गीता में मानव प्रकृति को सभी मानव समस्याओं का मूल माना गया है। अतः गीता के मतानुसार अन्य सभी सामाजिक तथा आर्थिक समस्याएं गौण है तथा मानव समस्या ही प्रधान है। अन्य सभी समस्याओं का समाधान मनुष्य के स्वरूप की समस्या के समाधान से अपने आप हो जाता है।

समाज व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है या व्यक्ति समाज की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है? इस द्वन्द्वात्मक प्रश्न के उत्तर में श्रीमद् भगवद्गीता का निश्चित अभिमत व्यक्ति के पक्ष में है, न कि समाज के पक्ष में। समाज व्यक्ति के लिए होता है। यहां पर मनुष्य अपने आप में पर्याप्त नहीं है। उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास समाज के माध्यम से ही हो सकता है तथा समाज के बिना वह पूर्ण व्यक्तित्व को प्राप्त नहीं कर सकता। तथापि व्यक्तित्व के स्वतन्त्र अस्तित्व की रक्षा करना समाज का कर्तव्य है, क्योंकि समाज भी व्यक्ति की ही रचना है। व्यक्ति ने अपने व्यक्तित्व के विकास तथा अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए ही समाज का निर्माण किया है। अतः श्रीमद् भगवद्गीता व्यक्ति के ऊपर समाज को महत्व नहीं देती। व्यक्ति के सहज गुणों का विकास करने में समाज की समस्या अपने आप हल हो जाती है तथा व्यक्ति और समाज में कोई अन्तर नहीं रह जाता। यदि किसी सामाजिक संस्था से व्यक्ति के हितों की रक्षा न हो, उनका उन्मूलन करना व्यक्ति का ही कर्तव्य हो जाता है।

इस प्रकार यदि देखे तो श्रीमद् भगवद्गीता में (व्यक्ति) मानव का अपना महत्व है, क्योंकि पुरुष प्रकृति के साथ ही अनादि और नित्य है। श्रीमद् भवगद्गीता पुरुष को ब्रह्म का विकास नहीं मानती है और न ही पुरुष को आध्यात्मिक ही मानते हैं। श्रीमद् भगवद्गीता के

आध्यात्मशास्त्र की इस मान्यता से यही निष्कर्ष फलित होता है कि व्यक्ति ही सभी संस्थाओं का आधार स्तम्भ है तथा व्यक्ति के दृष्टिकोण से ही सामाजिक संस्थाओं की उपयोगिता सिद्ध हो सकती है। अतएव किसी भी संस्था को सर्वोपरि अपने आप में पर्याप्त नहीं माना जा सकता समाज का अपने आप मे न तो कोई अपना हित है और न इसे हम मनुष्य से पृथक या स्वतन्त्र मान सकते हैं। समाज तो कोई अस्तित्ववान पदार्थ है नहीं। अस्तित्ववान् या सत्तावान् तत्व तो व्यक्ति ही है। व्यक्ति अपनी पूर्णता के प्रश्न का समाधान समाज के दृष्टिकोण से कर सकता है, क्योंकि समाज में रहकर ही अपने अन्तर्गत दिव्य शक्तियों का यथासाध्य विकास करने में वह सफल हो सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज वास्तव में अस्तित्वहीन तथा निस्तत्व पदार्थ है। इसकी तुलना हम राष्ट्र या जाति से भी कर सकते हैं, क्योंकि इन पदार्थों का अर्थ केवल एक विशेष प्रकार के व्यवहार मात्र से है तथा इनसे हम अपने व्यापारों को एक नयी दिशा दे सकते हैं। मानव ही सर्वोपरि है तथा मानव के हितों की रक्षा ही किसी सामाजिक संस्था के अस्तित्व में हेतु है। समाज और व्यक्ति में समन्वय किस प्रकार सम्भव है तथा व्यक्ति और समाज दोनों ही अपने कर्तव्यों से कैसे विचलित हो जाते हैं, इसका ज्ञान कठिन नहीं है। मनुष्य में कम से कम यह समझने का सामर्थ्य अवश्य है कि किसी निश्चित उद्देश्य की सिद्धि, किसी सामाजिक संस्था से हो रही है या नहीं। मानव ही समाज का निर्माण करता है, इसलिए सामाजिक संस्था के विघटन का भी उसका अधिकार है, यदि सामान्य जनता के हितों की रक्षा करने में वह असमर्थ है। आज के युग में मनुष्य का कोई महत्व नहीं है इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं है। व्यक्ति को उचित महत्व न देने के कारण ही समाज में असन्तुलन हो गया है। आज यदि देखा जाये तो मानव की स्वतन्त्रता पर कुठाराघात हो रहा है। धार्मिक संस्थायें भी समूहवादी होती जा रही है जिसका वर्तमान सभ्यता और संस्कृति पर बुरा प्रभाव पड़ रहा है। दर्शन शास्त्र इन्हीं विषम परिस्थितियों का संकेत करती है। परन्तु यदि हम अवलोकन करें तथा उन्हें हम अपने जीवन का मूल प्रेरणा स्रोत बना लें तो ये सभी कठिनाईयाँ दूर हो जायेगी।

श्रीमद् भगवद्गीता के निष्काम कर्मयोग का महत्व अत्यधिक है। आज के युग में निष्काम कर्म करने का अधिक प्रचलन है, व्यक्ति का व्यक्ति से, समाज का समाज से, तथा अन्य सभी क्षेत्रों में भी अधिकार और कर्तव्य का द्वन्द्व विद्यमान है। श्रीमद्भगवद्गीता का

कर्मयोग अधिकार की अपेक्षा कर्तव्य पर अधिक बल देता है। इसका यह अर्थ नहीं है कर्तव्य का प्रश्न अधिकार के प्रश्न से पृथक है अथवा कर्म किसी निश्चित उद्देश्य से पृथक है। गीता के निष्काम कर्मयोग का यह अर्थ नहीं है कि हम पत्थरों की भांति जड़ हो जाये और हममें किसी प्रकार की कामना या इच्छा न हो तथा हम निष्प्रयोजन कर्मों में सदा प्रवृत्त रहे। यदि हमारे द्वारा किये गये कर्मों से हमें कुछ लाभ न हो तथा कर्मों का उनके फलों से कोई सामंजस्य ही न हो, तो कर्म करने का कोई औचित्य रह ही नहीं जाता।

श्रीमद् भगवद्गीता हमें यह नहीं कहती कि हम अपनी सारी कामनाओं का त्याग कर दें। भगवान श्रीकृष्ण स्वयं अपनी विभूतियों का वर्णन करते समय यह कहते हैं कि वे स्वयं धर्म के अनुकूल अर्थात् शास्त्र के अनुकूल काम करते हैं।[1] अतएव श्रीमद् भगवद्गीता का निष्काम कर्मयोग हमें समाज में रहकर हमारे सभी कर्मों को कर्मयोग से अर्थात् कर्म की बुद्धि से करने का आदेश देती है। कर्म करते समय यदि हम फल की कामना करते रहें तो कर्म का समुचित रुप से सम्पादन नहीं हो सकता तथा उससे हम अपेक्षित लाभ की आशा नहीं कर सकते है। इसलिए इस पर बल दिया गया है कि हम अपनी बुद्धि से कर्म के फल की आशा का त्याग कर दें। सदा फल की चिन्ता में व्यस्त किसी कर्म का सम्पादन नहीं कर सकता तथा वह अपने कार्य में सफल नहीं हो सकता। इसलिए स्वार्थ की सिद्धि के लिए भी निष्काम भाव से ही कर्म करते रहना चाहिए। निष्काम कर्मयोग से कर्तव्य और अधिकार के द्वन्द्व की समस्या का समाधान हो जाता है।

श्रीमद् भगवद्गीता में वर्णव्यवस्था का समर्थन श्रम विभाजन के उद्देश्य से किया गया है। शक्ति और कर्मों के भिन्न-भिन्न विभाग से चारों वर्णो की व्यवस्था की गयी है। आज भी संसार में प्रत्येक देश में मजदूर, व्यापारी, योद्धा तथा आध्यात्मिक गुरु पाये जाते हैं। यद्यपि सिर तथा पैर दोनों के कार्य अलग-अलग है फिर भी जिस प्रकार हम उन दोनों ही की रक्षा एक समान करते है उसी प्रकार ब्राह्मण ओर शूद्रः बालक और वृद्ध दोनों का समान रूप से पालन करना तथा समान रूप से प्रेमपूर्वक व्यवहार करना चाहिए। जिस प्रकार गंगाजल में पड़ने वाली सूर्य की किरण तथा सुरा में पड़ने वाली सूर्य की किरण में कोई

---

1. धर्मो विरूद्ध कामोऽस्मि – गीता' 7/11

अन्तर नहीं है, उसी प्रकार आत्मा भी सभी में समान है। इस प्रकार यदि श्रम विभाजन के लिए वर्ण व्यवस्था करें तो कोई नहीं बात नहीं, बल्कि इसे श्रीमद् भगवद्गीता का आधार ही माना जायेगा। फिर कर्म तो कोई बुरा नहीं होता है। अपना कर्तव्य कर्म लगन के साथ करना चाहिए भले ही वह बिना गुण का हो। दूसरे के कर्म से वह कहीं अच्छा होगा। इतने बड़े योद्धा होने पर भी भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं सारथी का काम महाभारत युद्ध के लिए अपनाया और उसी का निर्वाह किया। युद्ध में कभी कृष्ण ने बाण नहीं उठाया। इस तरह से श्रम विभाजन के लिए वर्ण व्यवस्था तथा अपने कर्तव्य की लगन पर हम श्रीमद् भगवद्गीता के संदेश कार्यरुप में परिणत करें तो हमारे समाज का बहुत बड़ा कल्याण हो जायेगा।

इस प्रकार से हम यहीं कहते हैं कि श्रीमद् भगवद्गीता के उपदेशों का सार और सन्देश यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना काम कर्तव्य कर्म समझ कर लगन के साथ करना चाहिए, निःस्वार्थभाव से एवं भगवान में अर्पण करके ही करना चाहिए। इस प्रकार के कर्म को हम निष्काम कर्मयोग कहते है जिसे जनक आदि ज्ञानियों ने लोक कल्याण के लिए किया था। देश के महान लोगों ने श्रीमद् भगवद्गीता के महान संदेशों को अपने जीवन में लाकर अत्यधिक आत्मबल प्राप्त किया। आज के युग में इन विचारों पर ध्यान किसी ने नहीं दिया। जब-जब कर्म पथ से लोग विरत हुए चाहे वह शुद्ध वैराग्य वाले सात्विक कारण से हो; चाहें मुग्ध वैराग्य वाले राजनीतिक कारण से हो चाहे अवसाद आलस्य, प्रमाद तामसिक कारण से हो, तब-तब कर्म में प्रवृत्त करने वाली श्रीमद् भगवद्गीता ही त्राणकर्ती सिद्ध हुई है क्योंकि कर्म में प्रवृत्त कराने वाली गीता के तत्वज्ञान के अतिरिक्त कोई उपाय ही नहीं है, साथ ही तत्वज्ञान कालातीत एवं सार्वदेशिक है।

इस प्रकार से अन्ततः हम कह सकते हैं कि गीता जीव (मानव) के कल्याण के लिए है। गीता के अनुसार चलने से सगुण और निर्गुण के उपासकों में मतभेद नहीं हो सकता। गीता में भगवान साधक को समग्र की ओर ले जाता है। सगुण-निगुण, साकार-निराकार, द्विभुज-चर्तुभुज, सहस्त्रभुज आदि सब रूप समग्र परमात्मा के ही अन्तर्गत आते हैं। समग्ररूप में सभी आ जाते हैं। किसी की भी उपासना करें, सम्पूर्ण उपासनाएं समग्र रूप के अन्तर्गत आ जाती है। सम्पूर्ण दर्शन भी समग्र रूप के अन्तर्गत आ जाता है। अतः सब कुछ परमात्मा के अन्तर्गत है यही सम्पूर्ण गीता का भाव है। गीता जैसे महान ग्रन्थ को जो जिस दृष्टि से

देखता है। वह उसे वैसी ही दिखने लगती है। गीता मे कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग ये तीन प्रकार के योग है। शरीर (अपरा) को लेकर कर्मयोग, शरीरी (परा) को लेकर ज्ञानयोग और शरीर शरीरी दोनों के मालिक (ईश्वर) को लेकर भक्तियोग है। भगवान् ने गीता के आरंभ में पहले शरीरी को लेकर फिर शरीर को लेकर क्रमशः ज्ञानयोग, कर्मयोग का वर्णन किया। फिर ध्यान योग का वर्णन किया, क्योंकि वह भी कल्याण करने का एक साधन है। अन्त में भक्ति योग का वर्णन किया है। जिसकी विस्तृत रूप से चर्चा प्रारम्भ के अध्यायों में की गयी है। मनुष्य कर्मयोग से जगत के लिए, ज्ञानयोग से अपने लिए और भक्ति योग से भगवान के लिए उपयोगी हो जाता है।

संसार में सभी मनुष्य चाहते हैं कि मैं सदा जीवित रहॅू कभी भी मेरी मृत्यु नहीं हो। मैं सब कुछ जान जाऊ और अज्ञानी जीव नहीं रहूँ। मैं सदा सुखी रहूँ और दुःख की छाया हमारे जीवन पर कभी भी न पड़े। परन्तु इस प्रकार की मनुष्य की इच्छा संसार के पास नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि मनुष्य को जो चाहिए वह उसको पहले से ही प्राप्त है। यहां उससे यह भूल हो गयी है वह उन वस्तुओं को चाहने लगता है, जिनका संयोग और वियोग होता है, जो मिलने और न मिलने वाली है। यह सिद्धान्त है कि जो वस्तु कभी भी हमारे से अलग रहती है, वह सदा ही हमारे से अलग है और अभी भी हमारे से अलग है। इसी तरह से जो वस्तु (परमात्मा) कभी भी हमारे से अलग नहीं होती, वह सदा ही मिली हुई है और अभी भी हमारे को मिली है। इसका भाव यहां यही है कि संसार का सदा ही वियोग है और परमात्मा का सदा ही योग है।

गीता में वर्णित योगों के क्रम को लेकर अनेक मतभेद है कोई आचार्य पहले कर्मयोग, फिर ज्ञानयोग, फिर भक्तियोग इस प्रकार का क्रम मानते हैं। कोई पहले कर्मयोग, भक्तियोग फिर ज्ञान योग को मानते हैं। परन्तु गीता पहले कर्म योग, भक्तियोग और ज्ञानयोग को मानती है। गीता में कर्मयोग का विशेष स्थान है। ये तीनों ही एक दूसरे के लिए परमावश्यक है। गीता कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों को समकक्ष और लौकिक बताती है। क्षर और अक्षर (जगत और जीव) दोनों लौकिक है, पर भगवान अलौकिक है। क्षर को लेकर कर्मयोग और अक्षर को लेकर ज्ञानयोग का वर्णन किया गया है। परन्तु भक्तियोग भगवान को लेकर चलता है, अतः भक्तियोग अलौकिक है।

श्रीमद्भगवद्गीता में भक्ति सर्वश्रेष्ठ है। गीता की भक्ति मे भेद नहीं है, प्रत्युत अद्वैत भक्ति है। वास्तव में यदि देखा जाये तो ज्ञान में द्वैत है और भक्ति में अद्वैत है। कारण कि ज्ञान में तो जड़ चेतन, जगत-जीव, शरीर-शरीरी, असत्-सत्, प्रकृति-पुरुष दो-दो है, पर भक्ति में केवल एक भगवान् ही है। जैसा कि अध्याय सात में बताया गया है। ज्ञान के साधनों में भी भगवान् ने भक्ति बतायी। ज्ञान की परनिष्ठा से पराभक्ति की प्राप्ति होती है। इस पराभक्ति से जानना, देखना, और प्रवेश करना तीनों की प्राप्ति हो जाती है। भगवान् अपने भक्तों को कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों की प्राप्ति करा देते है। इस प्रकार कर्मयोग में भी भक्ति है। ईश्वर ने सभी योगों मे भक्ति की परायणता बतायी है, यही भक्ति की विशेषता है। गीता जैसे महाग्रन्थ में कर्मयोग के वर्णन में ज्ञानयोग, भक्तियोग की, ज्ञानयोग के वर्णन में कर्मयोग, भक्तियोग की और भक्तियोग के वर्णन में कर्मयोग, ज्ञानयोग की बातें आ जाती है। इस प्रकार से यदि मनुष्य कोई योग करें तो उसको तीनों योगों की प्राप्ति हो जाती हैं अर्थात् उसको मुक्ति और भक्ति दोनो प्राप्त हो जाते हैं। कारण है परा और अपरा दो प्रकृतियां जो स्वयं भगवान की है। ज्ञानयोग परा को और कर्मयोग अपरा को लेकर चलता है। इसलिए किसी एक योग की पूर्णता होने पर तीनों योग की पूर्णता हो जाती है।

सहायक ग्रन्थावली

सहायक ग्रन्थावली

1	आचार्य नरेन्द्र देव	*हिन्दुस्तानी एकेडमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, 1958*
2	आत्म सिद्धि शास्त्र	*श्रीमद् राजचन्द्र, निर्णय सागर प्रेस मे मुद्रित, सं० 1964*
3.	आत्म नुशासन	*गुणभद्राचार्य, अजिताश्रम, लखनऊ, 1928 ई०*
4	आत्म साधना संग्रह	*मोतीलाल माण्डोत सैलाना (म0प्र0) सं० 2019*
5	आउट लाइन्स आफ इण्डियन	*एच0 हिरियन्ना जार्ज एलन एण्ड अनविन, लन्दन, 1951 ई० एवं 1916 ई०*
6	आत्ममीमांसा	*पं० दखसुख मालवणिया, जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, बनारस, 1953*
7.	इण्डियन फिलासफी (राधाकृष्णन्) (भाग 1 एवं 2)	*जार्ज एलन एण्ड अनविन, लन्दन।*
8	इण्डियन थाट्स एण्ड इट्स डेव्हलपमेन्ट	*श्वेट्जर, Adam & Charles Black 4,5,6 Soho square, London W-1, 1951*
9.	ए हिस्ट्री आफ फिलासफी	*फ्रेंकथिलों, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, 1965 ई०*
10.	कठोपनिषद शांकर भाषय	*गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० 2017*
11.	कर्मग्रन्थ (कर्मविपाक)	*देवेन्द्र सूरी, श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल, 2444*
12.	कर्मप्रकृति	*शिवशर्माचार्य, श्री जैनधर्म प्रसारक, सभा, भावनगर, वीट सं० 2443*
13.	श्रीमद् भगवद्गीता	*गीता प्रेस, गोरखपुर*
14.	गीता (शांकरभाष्य)	*गीता प्रेस, गोरखपुर सं० 2018*
15.	गीता (रामानुजभाष्य)	*गीता प्रेस, गोरखपुर सं० 2008*
16	श्रीमद् भगवद्गीता रहस्य	*तिलक बाल गंगाधर, तिलक मंदिर, पूना, 1962 ई०*

17	गीता	*डब्ल्यू0 डी0 पी0 हिल, आक्सफोर्ड 1953 ई०*
18	दि भगवद्गीता एण्ड चैजिंग वर्ल्ड	*नागराजराव*
19.	धर्म दर्शन	*शुक्ल चन्द्र जी महाराज, काशीराम स्मृति ग्रन्थमाला, देहली, 1955*
20.	धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग 1)	*पाण्डुरंग वाम काणे, अनु0 अर्जुन चौबे, काश्यप हिन्दी समिति सूचना विभाग, उ0प्र0*
21.	भगवद्गीता	*राधाकृष्णनन्, अनुवाद विराज, एम0ए0 राज्यपाल एण्ड सन्स, देहली, 1962 ई०*
22.	भारतीय दर्शन की रूप रेखा	*एम0 हिरियन्ना, राजकमल, प्रकाशन, देहली 1965*
23.	महाभारत	*गीता प्रेस, गोरखपुर*
24	श्रीमद् भगवद्त पुराण	*गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० 2006*
25.	कर्ममीमांसा	*ए0बी0 कीथ, लन्दन, 1921*
26.	आउट लाइन्स आफ इण्डियन फिलोसफी	*श्री निवास आयंगर, वाराणसी, 1909*
27.	आत्मतत्व विवेक	*उदयनाचार्य, वाराणसी, 1996 वि0*
28.	आत्मबोध	*शंकराचार्य, लखनऊ 1912, बम्बई 1959*
29.	ईश्वर	*मदनमोहन मालवीय , गोरखपुर, 2001 वि0*
30.	एसियेज आन दि भगवद्गीता	*अरविन्द घोष, कलकत्ता, 1928*
31.	कर्ममीमांसा	*ए0बी0 कीथ, लन्दन, 1921*
32.	दि भगवद्गीता	*एड्गर्टन फ्रेकंलिन, चिकागो, 1925*
33.	भारतीय दर्शन	*डा0 उमेश मिश्रा, लखनऊ, 1956*
34.	श्रीमद् भगवद्गीता	*शांकरभाष्य सहित*
35.	श्रीमद् भगवद्गीता	*गीता प्रेस, गोरखपुर*
36.	गीता लोचन	*स्वामी दिगम्बर जी*

37	भारतीय धर्मो का इतिहास	*आर0डी0 भण्डारकर*
38.	श्रीमद् भगवद्गीता विशेषांक	*गीता प्रेस, गोरखपुर*
39	हिन्दी भगवद्गीता	*हरिदास वैध, कलकत्ता, 1923 ई०*
40	श्रीमद् भगवद्गीता	*गीता प्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2011*
41	महाभारत भाग (1 से 16 तक)	*गीता प्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2026*
42	ब्रह्मसूत्र	*गीता प्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2026*
43.	ईशावास्योपनिषद	*गीता प्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2030*
44.	श्रीमद्भागवत् महापुराण (भाग 1,2)	*गीता प्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2026/2028*
45	रामानुज-भाष्य श्रीमद् भगवद्गीता	*गीता प्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2008*
46	तिलक *लोकमान्य बाल गंगाधर कर्मयोग शास्त्र*	*पूना तिलक मंदिर, सम्वत् 1969*
47	भगवद्गीता	*राधाकृष्णनन्, दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्स, 1972*
48	भारतीय दर्शन (भाग 1, 2)	*राधाकृष्णनन्, दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्स, 1969*
49	गीतातत्व	*स्वामी सारदानन्द, नागपुर, श्रीरामकृष्ण आश्रम, 1972*
50.	गीतातत्व विवेचनी	*गीता प्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2026*
51.	गीता प्रबन्ध (भाग 1)	*श्री अरविन्द, चन्द्रदीप, श्री अरविन्द ग्रन्थमाला, पाण्डीचेरी, 1948*
52.	गीता का व्यवहार दर्शन	*रामगोपाल मोहता, रेखचन्द्र रामचन्द्र पंचीसिया श्री सत्यनारायण प्रिन्टिग प्रेस, फियर रोड, कराची, 1938*
53.	The Gita Idea of God	*ब्रह्मचारी गीतानन्द, बी0जी0 पाल एण्ड कम्पनी पब्लीशर, मद्रास, 1930*
54	गीताप्रवचन	*विनोबाभावे, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली।*
55.	गीतातत्व प्रदीप (विभूति योग)	*सिद्धिनाथ मेहरोत्रा, साहित्य भवन प्रा0 लि0, इलाहाबाद, 1963*
56	श्रीमद् भगवद्गीता	*स्वामी अड़गड़ानन्द*

57	श्रीमद् भगवद्गीता साधक संजीवनी	*स्वामी रामसुखदास, गोविन्द भवन, कार्यालय, गीता प्रेस, गोरखपुर, 2042*
58	ऐसे ऑफ गीता	*श्री अरविन्द, पाण्डिचेरी, 1959*
59	ए स्टडी ऑफ वेदान्त	*दास0 एस0 वी, कलकत्ता युनिवर्सिटी प्रेस, 1931*
60	द् हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी (भाग 1,2)	*कैम्ब्रिज युनिवसिर्टी प्रेस, 1951, 1952*
61.	द् आर्ट आफ लाइफ इन द् भगवद्गीता	*डीवातिया एच0 वी0, बम्बई, भारतीय, विद्या भवन, 1970*
62.	सिक्स सिस्टम् ऑफ इण्डियन फिलॉसफी	*लंदन, लोगंमेन्स ग्रीन, मैक्समूलर*
63.	भगवद्गीता और आधुनिक जीवन	*टू मुन्शी के0 एम0, भारतीय विद्या मंदिर, बम्बई, 1969*
64	द् फिलोसफी आफ रवीन्द्रनाथ टैगोर	*राधाकृष्णनन्, बरोदा, 1961*
65	भगवद्गीता	*राजगोपालाचार्य सी0, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1970*
66	लेसन आन भगवद्गीता (भाग 1, 2, 3)	*प्रो0 रगांचार्य एम0, एजुकेशन प्रेस, मद्रास, 1956, 1962, 1966*
67.	द् भगवद्गीता एण्ड द् मार्डन स्कालरसिप	*एस0सी0 राय0, लूजैक एण्ड कम्पनी, लंडन, 1941*
68.	The Bhagavad Gita with the Commentaries of Sri Sankaracharya	*शास्त्री ए0 महादेवा, 292 एक्प्लेन्डा, मद्रास, 1971*
69.	The Bhagawat Gita	*Bombay Bhartiya Vidya Bhawan 1971, Shastri Sakuntala Rao.*
70.	गीता सन्देश	*स्वामी रामदास, भारतीय विद्या भवन, 1966*
71	The Gita Bhasya of Ramanuja	*Sampatkumaran M.R ,* Madrass Education Press, 1969
72.	Gitartha Sangraha	*Sampatkumaran M.R , Madrass Education Press, 1969*
73.	The Gita, way of Life	*Bombay Bhartiya Vidya Bhawan 1971, Warty G.K.*

74	Bhagawat Gıta	*Bombay Bhartıya Vıdya Bhawan 1969 Zaelner, R C*
75.	एतरेयोपनिषद्	*2029 गीता प्रेस, गोरखपुर*
76	कठोपनिषद्	*2028 गीता प्रेस, गोरखपुर*
77	केनोपनिषद्	*2028 गीता प्रेस, गोरखपुर*
78	छन्दोग्योपनिषद्	*2028 गीता प्रेस, गोरखपुर*
79	तैत्तिरीयोपनिषद्	*2029 गीता प्रेस, गोरखपुर*
80	प्रश्नोपनिषद्	*2030 गीता प्रेस, गोरखपुर*
81.	वृहदारण्यकोपनिषद्	*2029 गीता प्रेस, गोरखपुर*
82	विष्णुपुराण	*2026 गीता प्रेस, गोरखपुर*
83	पातंजल योग प्रदीप	*2024 गीता प्रेस, गोरखपुर*
84.	मनुस्मृति बरेली संस्कृति संस्थान	*2973 गीता प्रेस, गोरखपुर*
85.	रामानुज भाष्य श्रीमद् भगवद्गीता	*2008 गीता प्रेस, गोरखपुर*
86.	भारतीय दर्शनों में गीता का स्थान एवं महत्व	*सन् 1983*
87.	भारतीय दर्शनों में गीता चतुर्थ संस्करण	*वाचस्पति गैरोला, लोक भारती प्रकाशन, वासु राज, प्रेस, इलाहाबाद, 1983*
88.	भारतीय दर्शन का इतिहास तृतीय संस्करण	डा0 देवराज, *इलाहाबाद, 1941*
89.	गीता के शांकर भाष्य का समालोचनात्मक अध्ययन प्रथमावृत्ति	*डा0 गगन देव गिरि, दीपक प्रेस, एस0 17/272 नदेसर वाराणसी, केन्ट, 1979*
90.	अणुभाष्य	*बल्लभाचार्य, पूना, 1921*
91.	अपरोक्षानुभव	*ज्ञानदास, लखनऊ, 1895*
92.	आउट लाइन्स आफ दि वेदान्त सिस्टम आफ फिलास्फी	*जे०एच०, वुड्स, ई०बी० रंडल, लन्दन, 1919*

93. आत्म रहस्य — *रतनलाल जैन, नयी दिल्ली, 1948*

94 आत्मानुभूति — *कृष्णानन्द सरस्वती, होशियारपुर, 2016*

95. एन्टेलीजेन्ट मैन्स गाइड टु इंडियन फिलासोफी — *- एम0सी0 पाण्ड्या, बम्बई, 1935*

96. इंट्रोडक्शन टु इंडियन फिलासोफी — *जे0 प्रसाद, इलाहाबाद, 1928*

97. एसियेज आन दि भगवद्गीता — *अरविन्द घोष, कलकत्ता, 1928*

98. दर्शन का प्रयोजन — *डा भगवान दास, प्रयाग, 1940*

99. दर्शन के उपयोग — *इरविन एडमन, प्रयाग, 2014*

100 श्रीमद् भगवद्गीता शंकर मध्वाचार्य तिलक, अरविन्द, विनोबा, सातवलेकर आदि के मन्तव्य सहित — *सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, विजयकृष्ण लखन पाल एण्ड कम्पनी 'विद्या-विहार' 4 बलबीर ऐवेन्यु देहरादून, न्यू इण्डिया प्रेस, नयी दिल्ली*

101 श्रीमद् भगवद्गीता यथार्थ कृष्ण कृपा श्री मूर्ति — *श्रीमद् भगवद् भक्ति वेदान्त स्वामी ए० सी० प्रभुपाद*

102. यथार्थ गीता — *श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्द जी महाराज, पुनः प्रकाशित, अप्रैल, 1997*

103. "श्रीमद् भगवद्गीता" — *गीता प्रेस, गोरखपुर*

104. माधव गीता — *डा० माध्वीलता शुक्ला, आलोक प्रेस, कानपुर, 1995*

105. भारतीय दर्शन की रूपरेखा — *डा० गोवर्धन भट्ट, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1997*